प्रकाशक

जगन्नाथप्रसाद शर्मा,

चूड़ीवालों का मकान, मथुरा।

मिलने का पता—

साहित्यरत्न भण्डार,

आगरा।

प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) वि० सम्वत् १९५६

द्वितीय संस्करण (काव्यकल्पद्रुम) वि० सम्वत् १९८३

तृतीय संस्करण (काव्यकल्पद्रुम दो भागों में) रसमञ्जरी वि० सम्वत् १९९१ और अलङ्कारमञ्जरी वि० सम्वत् १९९३

चतुर्थ संस्करण (काव्यकल्पद्रुम प्रथम भाग रसमञ्जरी) वि० सम्वत् १९९८

मुद्रक

सत्यपाल शर्मा,

कान्ति प्रेस, माईथान-आगरा।

नोट—पुस्तक प्रकाशक से ऊपर के पते से भी मिल सकती है।

न

विषय-सूची

(विषय-अनुसन्धान के लिये ग्रन्थान्त में विस्तृत शब्दानुक्रमणिका देखिए)

सहायक संस्कृत-ग्रन्थ की नामावली

अग्निपुराण—भगवान् वेदव्यास, आनन्दाश्रम, पूना

अभिधावृत्तिमातृका—मुकुल भट्ट, निर्णयसागर-प्रेस, बम्बई, सन् १६१६

अलङ्कारसर्वस्व—रुय्यक और मङ्खक, जयद्रथ-कृत विमर्शनी व्याख्या, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १८९३

अलङ्कारसूत्र—रुय्यक और मङ्खक, समुद्रबन्ध-कृत व्याख्या, अनन्तशयन, सन् १९२६

उज्ज्वलनीलमणि—श्रीरूपगोस्वामी, नि० सा०, बम्बई, सन् १९१३

एकावली—विद्याधर, बोंबे संस्कृतसीरीज

औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, बम्बई, सन् १८८६

कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र, नि० सा० प्रेस, बम्बई, सन् १८८९

काव्यप्रकाश—आचार्य श्रीमम्मट, वामनाचार्य-कृत 'बालबोधिनी' व्याख्या नि० सा० प्रेस, सन् १९०१ 'काव्यप्रदीप' और 'उद्योतव्याख्या', आनन्दाश्रम, पूना

काव्यमीमांसा—राजशेखर, गायकवाड सीरीज बड़ौदा, सन् १९२४

काव्यालङ्कार—आचार्य भामह, चौखंबा संस्कृतसीरीज विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९२८

काव्यालङ्कारसार-संग्रह—उद्भट, भण्डारकर, इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् १९२५

काव्यालङ्कारसूत्र—वामन, सिहभूपाल-कृत कामधेनु व्याख्या, विद्याविलास प्रेस, बनारस सन १९०७

काव्यालङ्कार—रुद्रट, नि० सा०, प्रेस सन् १८८६

काव्यादर्श—दण्डी, कुसुमप्रतिमा व्याख्या लाहौर

काव्यानुशासन और उसकी 'विवेक' व्याख्या, हेमचन्द्र नि० सा०, प्रेस सन् १६०१

कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित

चन्द्रालोक—पीयूषवर्ष जयदेव, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, सन् १६२३

चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, नि० सा०, प्रेस सन् १८६३

दशरूपक—धनिक, नि० सा०, प्रेस सन् १६२७

ध्वन्यालोक—ध्वनिकार और श्रीआनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत 'लोचन' व्याख्या नि० सा० प्रेस, सन् १८६१

नाट्यशास्त्र—श्रीभरतमुनि, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत अभिनवभारती व्याख्या, अध्याय १-६, गायकवाड सीरीज बड़ौदा, सन् १६२६

भगवद्भक्तिरसायन—श्रीमधुसूदन स्वामी, अच्युतग्रन्थमाला, बनारस, वि० सं० १६८४

रसगङ्गाधर—पण्डितराज जगन्नाथ, नि० सा० प्रेस, सन् १८६४

रसतरङ्गिणी—भानुदत्त, बनारस लीथो प्रेस

वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक, ओरियंटल सीरीज़, कलकत्ता, सन् १६२८

व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, चौखम्भा संस्कृतसीरीज बनारस

वृत्तिवार्तिक—अप्पय्य दीक्षित, नि० सा० प्रेस, सन् १६१०

शब्दव्यापारविचार—श्रीमम्मट, नि० सा० प्रेस

शृङ्गारप्रकाश—श्रीभोजराज, २२-२३-२४ प्रकाश, लॉ-प्रिंटिंग, मदरास, सन् १६३३

सरस्वतीकण्ठाभरण—श्रीभोजराज, नि० सा० प्रेस सन् १६२५

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पं० शिवदत्त-कृत रुचिरा व्याख्या श्रीवेङ्कटेश्वर-प्रेस, वि० सं० १६७३

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, श्रीकाणे-सम्पादित नि० सा०, सन् १६३३

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—श्रीरूपगोस्वामी, अच्युतग्रन्थमाला, बनारस, वि० सं० १६८८

इस ग्रन्थ में जिन कवियों के पद्य उदाहरणों में दिये गये हैं उनकी नामावली पद्य (छन्द) संख्या के अनुसार

अनूपजी—७२,

अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध' (प्रियप्रवास)—११४, २७५।

अज्ञात कवि—२१, ४६, ७८, ११३, १४८, १५८, १७५, २०५, २२१, २२२, २३६, २४०, २७१, ३२६, ३३८, ३७४, ३६२, ४०७।

आलम—१२१, २५३।

उजियारे—६७, १७८, ३४०।

कन्हैयालाल पोद्दार (इस ग्रन्थ का लेखक)—१, २, ३, ६, ११, १३, १४, १५, १६, १६, २२, २५, २६, २७, २८, २६, ३१, ३३ से ४५ तक, ४८, ५०, ५३, ५५, ५६, ६०, ६२, ६४, ६५, ६६, ७४, ७५, ७७, ७६, ८६, ८७, ६२, ६४, ६५, ६६, ६८, ६६, १००, १०४, १०५, ११२, ११६, ११८, १२२, १२३, १२६, १३०, १३२, १३४ से १३६ तक, १४१, १४२, १४३, १५३, १५६, १६१, १६३, १६८, १६६, १७१, १७३, १७६, १८०, १८३, १८७, १६२, १६३, १६८, १६६, २००, २०२, २०८, २१६, २२६, २३३, २३४, २३६, २४२, २४४, २४७, २४८, २५१, २५६, २५७, २५६, २६१, २६६, २७०, २७२, २७३, २७४, २७८, २७६, २८०, २८३ से २६० तक, २६३ से २६६ तक, २६८, ३०१, ३०३, ३०४, ३०६, ३०७, ३०८, ३१०, ३११, ३१२, ३१४, ३१६, ३१७, ३१८, ३१६, ३२०, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२८, ३३०, ३३२ से

❀ श्रीहरिः ❀

भूमिका

"तत्त्व किमपि काव्याना जानाति विरलो भुवि ,
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ।"

काव्य के अनिर्वचनीय तत्त्व को कोई विरला ही जान सकता है। पुष्पो के सौन्दर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है—उनकी मधुर गन्ध से सभी का चित्त प्रफुल्लित होता है। पर उनके मधुर रस का मर्मज्ञ केवल भ्रमर ही होता है। काव्य को वहुत से लोग पढ़ और सुनकर अपना मनोरञ्जन अवश्य करते है, किन्तु इसके अलौकिक रसास्वादन का अनुभव केवल सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकते है। काव्य में यही लोकोत्तर महत्त्व है। इस महत्त्व को जानने के लिये सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि काव्य की उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई ? इसके प्रसिद्धाचार्य कौन है ? इसकी पूर्वकाल में क्या दशा थी ? और इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक लाभ क्या हैं ?

वेद ही काव्य का मूल है।

वेद में ध्वनि-गर्भित—व्यंग्यात्मक—और अलङ्कात्मक वर्णन दृष्टिगत होते है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।"

—बृ० मुण्डकोपनिषद्, खण्ड १, स० १

इसमें 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है। ध्वनि आदि परोक्षवाद तो वेद में प्रायः सर्वत्र ही है—'परोक्षवादो वेदोऽयं'। वेद काव्य का मूल है, अतएव सच्चिदानन्दघन श्रीपरमेश्वर द्वारा ही लोक में सबसे प्रथम इसकी प्रवृत्ति हुई है।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि महापुराणों में काव्य-रचना अनेक स्थलों पर विद्यमान है[1]। वाल्मीकीय रामायण को तो महर्षिवर्य ने 'आदि काव्य' के नाम से ही व्यवहृत किया है। महाभारत को परमेष्टि ब्रह्माजी ने और स्वयं भगवान् वेदव्यासजी ने महाकाव्य संज्ञा दी है[2]। और अग्निपुराण में तो साहित्य विषय का विस्तृत वर्णन है[3]।

जिस प्रकार व्याकरण, न्याय एवं सांख्य आदि के पाणिनि, गौतम और श्रीकपिल आदि प्रसिद्ध आचार्य है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के—

प्रसिद्ध आचार्य भगवान् भरतमुनि हैं।

ये महानुभाव भगवान् वेदव्यास के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती थे। भगवान् वेदव्यास ने अग्निपुराण में लिखा है—

---

१ इसका विशेष स्पष्टीकरण हमारे 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के प्रथम भाग में किया गया है।

२ महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १। ६१, १। ७२।

३ अग्निपुराण, आनन्दाश्रम सीरीज़, अध्याय ३३७ से ३४७ तक।

"भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।"

(३४० । ६)

साहित्य शास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थो में सबसे पहला ग्रन्थ महानुभाव भरतमुनि का निर्माण किया हुआ 'नाट्यशास्त्र' है। इसके बाद आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी, वामन, रुद्रट, महाराज भोज, ध्वनिकार, श्री आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मटाचार्य, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ आदि अनेक उत्कट विद्वानो ने काव्य-पथ-प्रदर्शक अनेक ग्रन्थ-रत्न निर्माण किए है। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थो के कारण हम लोग साहित्य-संसार में सर्वोपरि अभिमान कर सकते है। जिस समय ये ग्रन्थ निर्माण हुए थे, उस समय साहित्य की अत्यन्त उन्नत अवस्था थी। भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भोज जैसे गुणग्राहक, साहित्य-रसिक और उदारचेता राजा-महाराजो की काव्य पर एकान्त रुचि रहती थी। यहाँ तक कि ये महानुभाव अनेक विद्वानो द्वारा उच्च कोटि के ग्रन्थ-रत्न निरन्तर निर्माण कराके उन्हे उत्साहित ही नही करते थे, वे स्वयं भी अपूर्व ग्रन्थो की रचना द्वारा साहित्य-भण्डार की वृद्धि करके हंस-वाहिनी, वीणा-पाणि भगवती सरस्वती की अपार सेवा करते रहते थे। उन्होने श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के एकाधिकरण में न रहने के लोकापवाद को सचमुच मिथ्या कर दिखाया था। उनके सिद्धान्त थे—

'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

—भर्तृहरि।

खेद है कि परिवर्तनशील कराल काल के प्रभाव के कारण इस समय हमारे साहित्य की अवनत दशा है। इस—

अवनति के कारण

अनेक है। प्रथम तो राजा-महाराजों में तादृश रुचि का अभाव है। इस उपेक्षा का फल यह हुआ है कि विद्वत्समाज हतोत्साहित हो रहा है। दूसरे, भारतीय विद्वान् विदेशी भाषा में अनुराग रखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य विद्वान् हमारे साहित्य पर मनोमुग्ध हो रहे हैं, और हमारा विद्वत्समाज इसे उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है।

जड़-बुद्धि जनों को छोड़ दीजिए, कितने ही साक्षर व्यक्ति भी समझते हैं कि काव्य केवल कवि-कल्पना मात्र है, इस से कुछ लाभ नहीं हो सकता है, यह निःसार है। उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम पूर्ण है।

काव्य से लाभ

क्या उपलब्ध होते है, इस विषय में मम्मटाचार्य ने लिखा है—

"काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।"

—काव्यप्रकाश।

अर्थात् 'काव्य' यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-नाश, शीघ्र परमानन्द और कान्तासम्मित मधुरता-युक्त उपदेश का साधन है। इस कथन में किञ्चित् मात्र भी अत्युक्ति नहीं है। काव्य द्वारा प्राप्त—

यश

चिरस्थायी है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास और गोस्वामी महात्मा तुलसीदासजी आदि का कैसा अक्षय यश हो

रहा है। कालिदास आदि के पैतृक कुल को कोई नहीं जानता, न इनका कोई दान आदि ही प्रसिद्ध है। एकमात्र काव्य ही इनकी आसमुद्रान्तस्थायी प्रसिद्धि का कारण है।

द्रव्योपार्जन के लिये निस्सन्देह बहुत मार्ग है। किन्तु काव्य-रचना द्वारा—

द्रव्य-लाभ

प्राप्त करना एक गौरवास्पद बात है। संस्कृत के प्राचीन महाकवियों की तो बात ही क्या, उद्भट जैसे विद्वान् को प्रतिदिन एक लक्ष सुवर्ण-मुद्रा का मिलना इतिहास-प्रसिद्ध है[1]। हिन्दी-भाषा के भी केशवदास, भूषण, पद्माकर, मतिराम आदि को एवं राजस्थान के महाराजों से चारण जाति के बहुत से प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् कवियों को सम्मान-पूर्वक अमित द्रव्य-लाभ होना प्रसिद्ध है। इस समय भी पाश्चात्य देशों में विद्वानों को प्रचुर पारितोषिक[2] देकर प्रोत्साहित किया जाता है।

लोक-व्यवहार-ज्ञान

के लिये तो काव्य एक मुख्य और सुख-साध्य साधन है। महाकवियों के काव्य केवल लोक-व्यवहार-ज्ञान के भण्डार ही नहीं है, किन्तु शृङ्गार-रस के सुमधुर और रोचक वर्णनों द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा के भी सर्वोत्कृष्ट साधन है।

उपदेश

के लिये जब नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र आदि है तब काव्य से क्या अधिक उपदेश मिल सकता है, ऐसा समझना अनभिज्ञता-

---

१ देखिए, राजतरङ्गिणी।

२ नोबिल प्राईज आदि।

मात्र है। काव्य द्वारा जिस रीति से उपदेश मिलता है, वैसा और कोई सुगम साधन नहीं है। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—'प्रभु-सम्मित', 'सुहृद्-सम्मित' और 'कान्ता-सम्मित'। वेद-स्मृति आदि प्रभु-सम्मित शब्द है। प्रथम तो उनका अध्ययन ही आज कल सुसाध्य नहीं रहा है। दूसरे, इनके वाक्यों का राजाज्ञा के समान भय से ही पालन करना पड़ता है—ये आन्तर्य दूषित भावों का निराकरण नहीं कर सकते। पुराण-इतिहास आदि सुहृद्-सम्मित शब्द हैं। ये मित्र के समान सदुपदेश करते है, परन्तु मित्र के उपदेश का भी प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इन दोनो से विलक्षण जो काव्य-रूप 'कान्ता-सम्मित' शब्द है, वह कान्ता की भाँति रमणीयता से उपदेश देता है। जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के आधीन रहनेवाले अपने प्रियतम को विलक्षण कटाक्षादि भावों की मधुरता से सरसता-पूर्वक अपने में आसक्त कर लेती है, उसी प्रकार काव्य भी सुकुमारमति, नीति-शास्त्र-विमुख जनो को कोमल-कान्त-पदावली की सरसता से अपने में अनुरक्त करके फिर 'श्रीरामादि की भाँति चलना चाहिए, न कि रावणादि की भाँति' ऐसे सार-गर्भित किन्तु मधुर उपदेश करते है। काव्य की सुमधुर शिक्षा द्वारा हृदय-पटल पर कितना शीघ्र और कैसा विलक्षण प्रभाव पड़ता है, इसके प्रचुर प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान है[1]। एक अर्वाचीन उदाहरण ही देखिए। जयपुराधीश महाराज जयसिंह बड़े विलासी थे। उनकी विलास-प्रियता के कारण उनके राज्य की शोचनीय अवस्था हो रही थी। कविवर बिहारीलाल ने केवल—

१ देखिये दशकुमार चरित्र और हितोपदेश आदि।

'नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहिं काल ;
अली कली ही ते बँध्यो आगे कौन हवाल ।'

इसी शिक्षा-गर्भित शृङ्गार-रसात्मक एक दोहे को सुनाकर महाराज जयसिंह को अन्तःपुर की एक अनखिली कली के बन्धन से विमुक्त करके राजकार्य में संलग्न कर दिया था । उपदेश में मधुरता होना दुर्लभ है । महाकवि भारवि ने कहा है—

'हित मनोहारि च दुर्लभ वचः ।'

परन्तु यह अनुपम गुण केवल काव्य में ही है । और—

दुःख-निवारण

के लिये भी काव्य एक प्रधान साधन है । काव्यात्मक देव-स्तुति द्वारा असंख्य मनुष्यो के कष्ट निवारण होने के इतिहास महाभारतादि में है । मध्यकाल में भी श्रीसूर्यदेव आदि से मयूरादि[1] कवियों के दुःख निःशेष होने के उदाहरण मिलते है । और काव्य-जन्य आनन्द कैसा निरुपम है, इसका अनुभव सहृदय काव्यानुरागी ही कर सकते है । अत्यन्त कष्ट-साध्य यज्ञादिकों के करने से स्वर्गादिकों की प्राप्ति का आनन्द कालान्तर और देहान्तर में

---

१ कहते हैं, मयूर कवि कुष्ठ-रोग से पीड़ित होकर यह प्रण करके हरिद्वार गए कि 'या तो सूर्य के अनुग्रह से कुष्ठ दूर हो जायगा, नहीं तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा' । वह किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा से लटकते हुए एकसौ रस्सी के छींके पर बैठकर श्रीसूर्य की स्तुति करने लगा और एक-एक पद्य के अन्त में एक एक रस्सी को काटते गए । सब रस्सियों के काटे जाने के पहले हो, काव्यमयी स्तुति से भगवान् भास्कर ने प्रसन्न होकर उनका रोग निर्मूल कर दिया ।

मिलता है, पर काव्य के श्रवण-मात्र से ही रस के आस्वादन के कारण तत्काल—

परमानन्द

प्राप्त होता है। इस आनन्द की तुलना में अन्य आनन्द नीरस प्रतीत होने लगते हैं। कहा है—

'सत्कविरसनासूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ;
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी।'[1]

—आर्या सप्तशती

निष्कर्ष यह है कि काव्य द्वारा सभी वाञ्छित फल प्राप्त हो सकते हैं। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—के अतिरिक्त मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। आचार्य भामह ने कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ;
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।'

बहुत से लोग काव्य-रचना एवं काव्यावलोकन करते हैं, पर उनकी काव्य-रचना प्रायः उपयोगी और चित्ताकर्षक नहीं हो सकती और न उनको काव्यावलोकन द्वारा यथार्थ आनन्दानुभव ही हो सकता है। इसका कारण यही है कि वे प्रायः साहित्य-शास्त्र से अभिज्ञ नहीं होते और न वे अभिज्ञ होने का कष्ट ही उठाते हैं। काव्य-रचना एवं काव्य के आस्वादन के लिये साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की परमावश्यकता है। कविवर मङ्खक ने कहा—

---

१ सुकवि के जिह्वा-रूपी सूप से सर्वथा तुषरहित किए गए शब्द-रूपी शालि—चावल—पाक से जो तृप्त है, वह अपनी प्रिया के अधर-रस का भी आदर नहीं करता, तब बेचारी सुधा-दासी तो वस्तु ही क्या है।

'अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्'
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्हालाहलास्वादनमारभन्ते ।'
—श्रीकण्ठ चरित

निदान, काव्य-प्रणेता को एवं काव्य-प्रेमी जनों को काव्य-निर्माण के साधन और रहस्य अवश्य जान लेने चाहिए।

काव्य के निर्माण होने में हेतु अर्थात्—

कारण

क्या है ? काव्यप्रकाश में कहा है—

'शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्,
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।'

काव्य-रचना के लिये शक्ति, निपुणता और अभ्यास परमावश्यक है।

'शक्ति'—यह काव्य का बीज-रूप एक संस्कार होता है। इसके द्वारा काव्य के निर्माण करने में सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसके विना काव्य का अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि होता है तो उपहास-जनक। इसको 'प्रतिभा' भी कहते हैं। इसका लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार लिखा है—

'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य,
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।'
—काव्यालङ्कार।

अर्थात् जिस शक्ति से स्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण और कठिनता-रहित पदों का भान होता है—अनेक प्रकार के शब्दार्थ हृदयस्थ होते है—उसे 'शक्ति' कहते है।

'निपुणता'—निपुणता कहते हैं प्रवीणता को; अर्थात् स्थावर, जङ्गम आदि की स्वरूप-स्थिति के लौकिक वृत्त का ज्ञान; छन्द, व्याकरण, कोश, कला, चतुर्वर्ग, गज, अश्व, खड्ग आदि के लक्षण-ग्रन्थ, महाकवियों के प्रणीत काव्य और इतिहास आदि के अध्ययन द्वारा निपुणता प्राप्त करना।

'अभ्यास'—काव्य के निर्माण में और सद्-असद् विचार करने में कुशल गुरु के उपदेश द्वारा काव्य-निर्माण में और प्रबन्धादिकों के गुम्फन करने में बारम्बार प्रवृत्त होने को अभ्यास कहते है।

शक्ति, निपुणता और अभ्यास, दण्डचक्रादि-न्याय के अनुसार, तीनो मिलकर, न कि इनमें एक या दो, काव्य के निर्माण और उत्कृष्टता के हेतु हैं। कुछ आचार्यों[1] का मत है कि काव्य-निर्माण के लिये निपुणता की अपेक्षा नहीं, केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। हाँ, यह तो निर्विवाद है कि काव्य-निर्माण में प्रतिभा प्रधान है। पर प्रतिभा से केवल हृदय में शब्द और अर्थ का सन्निधान ही होता है, सार का ग्रहण और असार का त्याग व्युत्पत्ति—निपुणता—द्वारा ही हो सकता है। अतएव शास्त्रो के ज्ञान द्वारा प्राप्त निपुणता की नितान्त आवश्यकता है, और इसी प्रकार काव्य के अभ्यास की भी परमावश्यकता है। अतः अधिकतर आचार्यों[2] का मत यही है कि तीनो ही काव्य के लिये अपेक्षित है।

१ देखिये हमारा संस्कृत साहित्य का इतिहास, दू० भाग, पृ० १७।

२ देखिये हमारा संस्कृत साहित्य का इतिहास, दूसरा भाग पृ० १३–१६।

साहित्य-शास्त्र

उसे कहते है जिसके द्वारा काव्य के निर्माण और रसानुभव का एवं उसके स्वरूप, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार भाषा-ज्ञान के लिये व्याकरण आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य के निर्माण और रसास्वादन के लिये साहित्य-शास्त्र अर्थात् रीति-ग्रन्थो के अध्ययन की आवश्यकता है।

काव्य क्या है?

इस विषय में यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि काव्य में—

ध्वनि और अलङ्कार

ही मुख्य है। ध्वनि कहते है व्यंग्यार्थ को। व्यग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता। कहा है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्,
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।'

—ध्वन्यालोक।

अर्थात् महाकवियो की वाणी में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त जो प्रतीयमान अर्थ—ध्वनि रूप व्यंग्य अर्थ—है, वह एक विलक्षण पदार्थ है। वह अर्थ उसी प्रकार शोभित होता है, जैसे कामिनी के शरीर में हस्तपाद आदि प्रसिद्ध अवयवो के अतिरिक्त लावण्य। काव्य के प्राण रस, भाव आदि हैं। वे प्रतीयमान ही होते है—'रस' 'भाव' आदि शब्द कह देने मात्र से ही आनन्द नहीं होता—उनकी व्यञ्जना ही आस्वादनीय होती है। अलङ्कार

---

३ काव्य के लक्षण के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का विस्तृत विवेचन हमारे 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में किया गया है।

कहते हैं आभूषण को। जिस प्रकार सौन्दर्यादि गुण-युक्त रमणी आभूषणों से और भी अधिक रमणीयता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार अलङ्कारों से युक्त काव्य भी सहृदयों के लिये अधिक आह्लादक हो जाता है। भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है—

'अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ;
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।

—अग्निपुराण, ३४४।१०२

बहुत-से पाश्चात्य 'सभ्यता' के प्रेमी विद्वान् व्यंग्य और अलङ्कार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट काव्य नहीं मानते। वे केवल सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णनात्मक काव्य में ही काव्यत्व की चरम सीमा समझते है। यही कारण है कि काव्य-पथ प्रदर्शक ग्रन्थ उनको अनावश्यक प्रतीत होते है। इस विषय मे यह कहना ही पर्याप्त है कि सृष्टि-वर्णनात्मक काव्य के साथ जब व्यंग्य और अलङ्कार का संयोग हो जाता है, तभी वे उत्कृष्ट काव्य हो सकते है अन्यथा नहीं। देखिए—

'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः :
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'

—वाल्मीकीय रामायण

वाल्मीकीय रामायण का यही मूल-भूत श्लोक है। महर्षि वाल्मीकि के देखते हुए क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त नर क्रौञ्च को व्याध ने मार डाला। भूमि में गिरे हुए और रुधिरलिप्ताङ्ग उस मृत सहचर की तादृश दशा देखकर वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौञ्ची ने अत्यन्त कारुणिक क्रन्दन किया। उसे सुनकर दयालु महर्षि के चित्त में उस समय जो शोक—करुणरस—उत्पन्न हुआ, वही इस श्लोक में ध्वनित

होता है। वही शोक कृपार्द्र-हृदय महर्षि के मुख से क्रौञ्चघाती व्याध के प्रति इस श्लोक द्वारा परिणत हुआ है। यह एक साधारण स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन के वाच्यार्थ में कुछ चित्ताकर्षक चमत्कार नहीं है, परन्तु इसके करुणोत्पादक व्यंग्यार्थ में महानुभाव महर्षि के करुणा-प्लावित चित्त का अप्रतिम मृदुल भाव व्यक्त होता है। और वह सहृदयों के मन को बलात् आकर्षित कर लेता है। कहा है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा,
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।'

—ध्वन्यालोक।

यह ध्वनि-गर्भित मानसिक अन्तः सृष्टि-वर्णन है। ध्वनि-गर्भित बाह्य सृष्टि-वर्णन भी देखिए—

'एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि,
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि।'

—उत्तररामचरित।

शम्बूक का वध करके अयोध्या को लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र पूर्वानुभूत दण्डकारण्य को देख कर कह रहे हैं—'यह वही मयूरों की केका-युक्त पर्वतों का मनोहारी दृश्य है। यह वही मत्त मृग श्रेणियों से सुशोभित बनस्थली है। ये वे ही सौन्दर्य-शाली बञ्जुल लताओं से युक्त नीरन्ध्र-सघन-निचुलवाले नदियों के तट हैं'। यह एक नैसर्गिक वर्णन है। यहाँ दण्डक-वन के निरीक्षण से भगवती जनक-नन्दिनी के साथ पहले किया हुआ आनन्दमय

विहार स्मरण हो आने से भगवान् श्रीरामचन्द्र के हृदय में जानकीजी के वियोग के कारण जो आन्तर्य वेदना हुई, वह व्यंग्य है—'अवश्य ही ये सारी वस्तुएँ वे ही है, जिनके रमणीय दृश्य से जनकनन्दिनी की अलौकिक भाव-माधुरी से प्रमोदित मेरे हृदय में अनुपम आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो जाता था। हाय ! अब उसके वियोग में 'वही अनुपम दृश्य कुछ और ही प्रतीत हो रहा है—मुझे अत्यन्त असह्य सन्ताप दे रहा है'। यह वियोग-कालिक पूर्व स्मृतिरूप व्यंग्य जो 'एते त एव', 'तान्येव' इत्यादि पदों से ध्वनित हो रहा है वही इस नैसर्गिक वर्णन का जीवन सर्वस्व है। अब एक अलङ्कार-मिश्रित नैसर्गिक वर्णन भी देखिए—

'तत्प्रार्थित जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्ति-
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ।'

—रघुवंश ।

इसमें कवि-कुल-भूषण कालिदास ने महाराजा दशरथ की मृगया का वर्णन किया है। वेगवान् घोड़े पर आरूढ़ तूणीर से बाण निकालते हुए राजा को अपने पीछे आते हुए देखकर इतर-वितर हुए मृग-समूह ने अश्रु-प्लावित और सभय दृष्टि-पात से वन को श्यामल कर दिया है—तीन पादों में यह नैसर्गिक वर्णन है और चौथे पाद में मृग-समूह के उस दृष्टि-पात को, पवन के वेग से सरोवर में विचलित हुए नील कमल-दलों के वृन्द की उपमा दी गई है। इस उपमा के संयोग से वस्तुतः इस नैसर्गिक वर्णन की मन-मोहिनी छटा में अपरिमित आनन्द की घटा छा गई है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्य अथवा अलङ्कार-युक्त काव्य की उपेक्षा करना सहृदयता पर प्रहार करना है। वास्तव में व्यंग्य-काव्य सहृदयो के अन्तःकरण को आप्लावित कर देता है, और सर्वोत्कृष्ट कवित्व का ही एक परम मनोहर नामधेय व्यंग्य है। हाँ, यह बात और है कि जो वस्तु-विशेष किसी को परमप्रिय होती है, वही वस्तु दूसरे को तादृश सुखकारक न होकर कदाचित् अरुचिकर भी हो सकती है। महाकवि कालीदास ने इन्दुमति के स्वयम्वर प्रसङ्ग में कहा है—

'अथाङ्गराजादवतार्य चक्षु-
यहीति जन्यामवदत्कुमारी,
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग
द्रष्टु न सा भिन्नरुचिर्हि लोके।'

—रघुवश ६ । ३०

अर्थात् अङ्गराज से दृष्टि हटाकर राजकुमारी इन्दुमति ने सुनन्दा से आगे बढ़ने को कहा। इसका यह अर्थ नही कि वह राजा सौन्दर्यादिगुण-सम्पन्न न था, और यह भी बात नही थी कि इन्दुमति, वर की परीक्षा करने में अनभिज्ञ थी। फिर इन्दुमति ने इस राजा को क्यो वरण नही किया? महाकवि कहते हैं—'अङ्ग राजा को इन्दुमति ने वरण नहीं किया, इसलिये वह अयोग्य नही कहा जा सकता और न इन्दुमति में ही वर-परीक्षा की अयोग्यता कही जा सकती है। वास्तव में बात यह है कि किसी वस्तु के त्याग और ग्रहण में भिन्न भिन्न रुचि ही एकमात्र कारण है'। सुतरां, किसी को प्राकृतिक वर्णनात्मक और किसी को व्यंग्य-गर्भित काव्य मनोहर प्रतीत होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि केवल प्राकृतिक

वर्णनात्मक काव्य उत्कृष्ट और व्यंग्य एवं अलङ्कार युक्त काव्य निकृष्ट है, यह कहना काव्य के रहस्य से अनभिज्ञता मात्र है।

इस ग्रन्थ में

श्रव्य काव्य के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है। और इसे जिन संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थो की सहायता से निर्माण किया गया है, उनकी सूची अन्यत्र दी गई है।

साहित्य जैसे रसावह और जटिल विषय को भली भाँति समझाने की बहुत आवश्यकता है। इसलिये इस विषय के संस्कृत-ग्रन्थों में लक्षणों को समझाने और उदाहरणों से लक्षणों का समन्वय करने के लिये वार्तिक—वृत्ति—में स्पष्टीकरण कर दिया गया है, जिससे लक्षण और उदाहरणों का समझना सुबोध हो गया है। बहुत-से विषय एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं, उनकी पृथकता भी भले प्रकार समझा दी गई है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-ग्रन्थों पर साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा अनेक टीकाएँ लिखी गई है, जिनसे विषय सरलता से समझ में आ सकता है। किन्तु खेद है, हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थ-कारो ने इन बातों पर सर्वथा ध्यान नही दिया। हिन्दी के प्राचीन रीति-ग्रन्थो में जो लक्षण पद्य में दिए गए हैं, उनका वार्तिक में स्पष्टीकरण न किया जाने के कारण वे बड़े सन्दिग्ध हो गए है। इसलिये विषय का समझना कठिन ही नहीं, पर कहीं-कही दुर्बोध भी हो गया है। इस अभाव को दूर करने के लिये इस ग्रन्थ में प्रत्येक विषय के लक्षण सूत्र-रूप में अर्थात् गद्य में दिए गए हैं, और उन्हे समझाने के लिये वार्तिक में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अधिकाधिक उदाहरण देकर विषय को यथासाध्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

उदाहरण लेखक की स्वयं रचना के, एवं अन्य महानुभावों

की रचना के, दोनो प्रकार के रक्खे गए है। अन्य कवियो के उदाहरण इनवर्टेड कॉमा में (" " ऐसे चिह्नो के अन्तर्गत) लिखे गए है। जिन पद्यो के आदि-अन्त में ऐसे चिह्न नही है, वे लेखक की निजी रचनाएँ हैं, जिनमें संस्कृत ग्रन्थो से अनुवादित भी है। संभव है अनुवादित पद्यो में कुछ पद्य ऐसे भी हो, जिनके साथ हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के पद्यों का भाव-साम्य हो, ऐसे भाव-साम्य का कारण केवल यही हो सकता है, कि जिस संस्कृत पद्य का अनुवाद करके इस ग्रन्थ मे लिखा गया है, उसी पद्य का अनुवाद हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थकार ने भी करके अपने ग्रन्थ में लिखा हो। ऐसी परिस्थिति में भाव-साम्य ही नही कही-कही शब्द-साम्य भी हो सकता है।

उदाहरणो के विषय में एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कुछ महाशयो ने, जैसे बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्यप्रभाकर' में, बाबू भगवानदीनजी 'दीन' ने 'अलङ्कारमञ्जूषा' और 'व्यंग्यार्थमञ्जूषा' में और पं० रमाशङ्कर शुक्लजी 'रसाल' ने 'अलङ्कारपीयूष' में, अनेक स्थलो पर इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) और द्वितीय संस्करण (काव्य कल्पद्रुम) के पद्य और गद्य-प्रकरण अविकल रूप में और अनेक स्थलों पर कुछ परिवर्तित करके उद्धृत करने की कृपा की है। उन ग्रन्थो की आलोचनाएँ 'माधुरी' और 'साहित्यसमालोचक' आदि में हुई हैं। वास्तव में तो इन महानुभावों ने इस ग्रन्थ का आदर ही किया है। यहाँ इस विषय का इसलिये उल्लेख किया जाना आवश्यक समझा गया है कि 'भानुजी' आदि महाशयो ने इस ग्रन्थ से उद्धृत अंश को अवतरण रूप में न लिखकर अपनी निजी कृति की भाँति उपयोग किया है[1]। यह तीसरा

---

१ इसका दिक्दर्शन द्वितीय भाग 'अलङ्कारमंजरी' की भूमिका में कराया गया है।

संस्करण उन महाशयों के ग्रन्थों के बाद निकल रहा है। अत-एव इस ग्रन्थ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर आशा है समा-लोचक महोदय कोई दोषारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करेंगे।

प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) का जितना आदर हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम) और तीसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम के दोनों भाग रस मञ्जरी और अलङ्कार मञ्जरी) लोक-प्रिय सिद्ध हुए है। अलङ्कारप्रकाश को केवल हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में ही स्थान उपलब्ध हो सका था। काव्यकल्पद्रुम साहित्यसम्मेलन की उत्तमा और आगरा एवं कलकत्ते के विश्वविद्यालयों में भी बी० ए०, एम्० ए० के पाठ्य ग्रन्थों में निर्वाचित हो गया है।

तीसरा संस्करण बहुत परिवर्द्धित हो गया था। द्वितीय संस्करण से उसका दूने से अधिक कलेवर है। द्वितीय संस्करण में लक्षणा, व्यञ्जना एवं ध्वनि और नवरस का विषय संक्षिप्त रूप से था, और अलङ्कार विषय पर भी अधिक विवेचन न था। तृतीय संस्करण में प्रत्येक विषय का, विशेषतः नवरस और अलङ्कार विषय का, बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया गया है।

तृतीय संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। प्रथम भाग रसमञ्जरी में प्रधानतः रस विषय है। इसमें रस, भाव आदि के विषय का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि का जो विवेचन इस भाग में किया गया है, वह रस विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है। रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व

व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जाय, रस का वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता है। ध्वनि और व्यंग्यार्थ को समझने के लिये शब्द, अर्थ और अभिधा आदि शब्द-शक्तियों का अध्ययन भी अत्यावश्यक है। रस-सम्बन्धी दोष और उनके परिहार का विषय भी प्रथम भाग में है। 'गुण' रस के धर्म हैं, अतएव उनका निरूपण भी इसी भाग में किया गया है।

हिन्दी में रस-विषयक अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें कुछ ग्रन्थ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के प्रणीत किए हुए हैं। इस ग्रन्थ में उन ग्रन्थों की अपेक्षा क्या अपूर्वता है, उसका अनुभव सहृदय साहित्य-मर्मज्ञ स्वयं ही कर सकते हैं।

इस विषय के हिन्दी के प्रचलित रस-सम्बन्धी ग्रन्थों में नायिका-भेदों को प्रधान स्थान दिया गया है। उस विषय के पिष्ट-पेषण से इस ग्रन्थ का कलेवर व्यर्थ न बढ़ाकर, रस विषयक अन्य अत्यन्त महत्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों का, जो प्राचीन एवं आधुनिक हिन्दी के ग्रन्थों में तो कहाँ किन्तु संस्कृत के सुप्रसिद्ध ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रस-गङ्गाधर आदि ग्रन्थों में भी बिखरे हुए दृष्टिगत होते हैं, समावेश किया गया है। प्रसिद्ध साहित्याचार्यों का जिन-जिन विषयों में मत-भेद है, उन मत-भेदों का, विषय को बोध-गम्य करने के लिये, दिग्दर्शन रूप में, प्रसङ्ग प्राप्त उल्लेख, कर दिया गया है।

द्वितीय भाग—अलङ्कारमञ्जरी[1]—में अलङ्कार विषय है।

---

[1] हिन्दी साहित्यसम्मेलन प्रयाग के अनुरोध से काव्यकल्पद्रुम के द्वितीय भाग 'अलङ्कारमञ्जरी' का एक संक्षिप्त संस्करण 'संक्षिप्त-अलङ्कारमञ्जरी' नाम से भी प्रकाशित हुआ है।

अलङ्कार प्रकरण भी बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित कर दिया गया है। इस विषय को भी यथासाध्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

इस ग्रन्थ में अधिकतया सुप्रसिद्ध प्राचीन कवियों के भाव-गर्भित एवं हृदयग्राही पद्य उदाहरणों में रक्खे गए है। बहुत से ऐसे महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों से भी उदाहरण लिए गए है, जो इस समय अप्राप्य हो रहे हैं। हिन्दी के प्राचीन रीति-ग्रन्थों से जो उदाहरण चुने गए है वे जिस विषय का जो उदाहरण उन ग्रन्थों में दिया गया है, उसे उसी विषय के उदाहरण में, मक्षिका स्थाने मक्षिका, न रखकर जिस पद्य को जहाँ विषय-विशेष के उदाहरण में दिया जाना उपयुक्त समझा गया, वहीं उसे दिया गया है।

हिन्दी के आचार्य

द्वितीय संस्करण की आलोचना करते हुए कुछ महानुभावों ने यह आक्षेप किया है कि इसमें संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतो का ही उल्लेख है, हिन्दी के आचार्यों के मत को प्रदर्शित नहीं किया गया है। सत्य तो यह है कि हिन्दी के आचार्यों का कोई स्वतन्त्र मत नहीं है—उनके ग्रन्थो का मूल-श्रोत संस्कृत-साहित्य-ग्रन्थ ही है। जैसे, महाकवि केशवदासजी की कविप्रिया का मूल-आधार दण्डी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्य-मीमांसा और केशव मिश्र का अलङ्कारशेखर या इसी श्रेणी का काव्यकल्पलता आदि अन्य कोई ग्रन्थ है। श्रीहरिचरणदास के सभाप्रकाश, श्रीभिखारीदास के काव्य-निर्णय का आधार क्रमशः साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश है। इसी प्रकार महाराज जसवंतसिंह के भाषाभूषण, पद्माकर के पद्माभरण आदि अलङ्कार-ग्रन्थों का आधार विशेषतः कुवलयानन्द है। हिन्दी के और भी

रस एवं नायिका-भेद के ग्रन्थों के आधार प्रायः साहित्यदर्पण और रसतरङ्गिणी आदि है।

निःसन्देह हिन्दी के प्राचीन कवि बड़े प्रतिभाशाली हुए है। किन्तु उनका प्रधान ध्येय व्रजभाषा-साहित्य की अभिवृद्धि करना ही था। उन्होंने प्रायः शृङ्गार-रस के आलम्बन-विभाव नायिका आदि, उद्दीपन-विभाव षट्ऋतु आदि, एवं अनुभाव—हाव-भाव आदि के वर्णन में ही विषय को समाप्त कर दिया है। अलङ्कार विषय का भी उन्होंने बहुत साधारण और संक्षिप्त रूप में निरूपण किया है। संस्कृत-साहित्य-ग्रन्थो में किए गए गम्भीर और मार्मिक विवेचन को उन्होने स्पर्श तक नहीं किया। इसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रतिभाशाली विद्वानो द्वारा जैसे गम्भीर रीति-ग्रन्थ लिखे जाने चाहिए थे वैसे नहीं लिखे गए। ये महानुभाव साहित्य-विषय को स्वयं कहॉ तक समझ सके और अपने ग्रन्थो के आधारभूत संस्कृत-ग्रन्थो के अनुसार विषय को समझाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए है, इस बात पर प्रकाश डालना हिन्दी-साहित्य के लिये परम उपयोगी है।

इस सम्बन्ध में यहाँ उदाहरण रूप में केवल एक साधारण विषय पर कुछ प्रकाश डालना ही पर्याप्त है। हिन्दी के प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थो में संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर यह बात लिख तो दी है कि रस, स्थायी भाव और सञ्चारी भावों का स्वशब्द से स्पष्ट कथन किया जाना, दोष है। फिर भी उनके ग्रन्थों में जो उदाहरण दिखाये गये है, उनमें प्रायः रस और स्थायी आदि भावों का स्वनाम से स्पष्ट कथन किया गया है—

"मींडि मार्‌यो कलह वियोग मार्‌यो बोरि कै,
मरोरि मार्‌यो अभिमान भर्‌यो भय भान्यौ है;
सबको सुहाग अनुराग लूटि लीन्हों दीन्हो,
राधिका कुँवरि कहँ सब सुख सान्यो है।
कपट-झटाके डार्‌यो निपटि कै औरन सों,
मेटी पहिँचानि मन में हू पहिँचान्यो है।
जीत्यो रति-रन मथ्यो मनमथहू को मन,
'केसोराइ' कौनहू पै रोष उर आन्यो है।"

रसिकप्रिया में इस पद्य को रौद्र रस के उदाहरण में लिखा है। यहाँ रोष का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है।

"टूटे टाटि घुन घने घूम-घूम सेन सने,
झींगुर छगोडी साँप बिच्छिन की घात जू;
कटक कलित गात तून बलित बिगध जल,
तिनके तलप तल ताको ललचात जू;
कुलटा कुचील गात अंधतम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेडी में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर-घरनीनि यह जात न घिनात जू।"

रसिकप्रिया में इस पद्य को बीभत्स-रस के उदाहरण में लिखा है। यहाँ बीभत्स के स्थायी भाव 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

"काहू एक दास काहू साहब की आस में,
कितेक दिन बीते रीत्यो सबै भाँति बल है;
बिथा जो बिनै मां करै उत्तर याही सो लहै,
मेवा-फल है ही रहै, यामें नहिं चल है।

एक दिन हास-हित आयो प्रभु पास तन,
राखे ना पुराने बास कोऊ एक थल है ;
करत प्रनाम सो बिहँसि बोल्यो यह कहा ?
कह्यो कर जोरि देव-सेवा ही को फल है।"

इसे काव्यनिर्णय में भिखारीदासजी ने हास्य रस के उदाहरण में लिखा है। यहाँ हास का स्पष्ट कथन हो गया है।

"गेंद के लाइबे के मिस कै हसिकैं कढि ग्वालन संग बिहार तें ;
पीन पटी कटि सौं कसिकै उर में डरप्यो न कलिंदी की धारतें।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए जु बढी अरुनाई उछाह अपार तें।
काली फनिंद के कंदन को चढि कूद्यो गुविंद कदंब की डार तें।"

सोमनाथजी ने रसपीयूष में इसे वीर रस के उदाहरण में लिखा है, यहाँ वीर रस के स्थायी उत्साह का शब्द द्वारा कथन है।

इसी प्रकार—

"कहा कीन्हीं असमै अनीति दसकंठ कंत,
हरिलायौ सिया को सु ताको फल पावेगौ ;
सेत बाँधि सिंधु में अडिग्ग पथ कीन्हौं उनि,
कौन अब ऐसो समुझाय जु बचावेगौ।
बूडि-बूडि जात मन मेरो भय-सागर में,
कहा जानौ कैसे त्रास आँखिन दिखावेगौ ;
बन्दी करि सब कीस बारै रघुनन्द आय,
हाय-हाय हाथें हाथ लकहि लुटावेगौ।"

रसपीयूष में इसे भयानक रस में लिखा है, यहाँ भयानक रस के स्थायी भय और त्रास सञ्चारी का शब्द द्वारा कथन है।

और—

"हा-हा तुहूँ चलि देखि भटू अजहूँ वह पालने लाल परयो है ;
जाहि निहारि कहै 'ससिनाथ' अचंभौ महा ब्रज माहि भरयो है ।
ठौरहि ठौर यही चरचा, गृह-काज, समाज सबै बिसरयो है ;
नैक से नंद के छोहरा री, पग सो सकटासुर चूर करयो है ।"

रसपीयूष में इसे अद्भुत रस के उदाहरण में लिखा है, किन्तु इसमें 'अचंभौ' पद से अद्भुत रस का शब्द द्वारा कथन है ।

"दान न दै गई मोसो कह्यो मै कह्यो नँदगामु मे बेचति नाही,
लै गयो छीन छला चट सो नट तातैं परी यहि झंझट माहीं ।
वार लगीन है 'वेनीप्रवीन' कहै सपनो सपनो यहिं ठाहीं,
है अलि ताको बतावति क्यो न गहे ललिता को न छोडति बाहीं ।"

इसे नवरस तरंग में 'स्वप्न' संचारी के उदाहरण में लिखा है । यहाँ 'सपनो सपनो' में स्वप्न का शब्द द्वारा कथन है ।

"निसि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात ;
उठि न सकत आलस वलित सहज सलोने गात ।"

पद्माकरजी ने जगद्विनोद में इस पद्य को आलस्य सञ्चारी के उदाहरण में लिखा है । यहाँ 'आलस' का स्पष्ट कथन है ।

"मठा ते, मथानी ते, मथन ते, सु माखन ते
मोहन की मेरे मन सुधि आय-आय जात ।"

इसे ग्वाल कवि के 'रसरंग' में स्मृति भाव के उदाहरण में दिया है, पर 'सुधि' पद से स्मृति का स्पष्ट कथन है ।

"हरि भोजन जब तें दए तेरे हित बिसराय ।
दीन भयो दिन भरत है, तब ते हाहा खाय ।"

इसे रसलीन ने अपने 'रसप्रबोध' में दैन्य सञ्चारी के उदाहरण में दिया है । यहाँ दीन शब्द से दैन्य का स्पष्ट कथन है ।

यह दिक्दर्शन मात्र है। इसके लिये विस्तृत आलोचना अपेक्षित है। किन्तु इस क्षुद्र लेखक को प्राचीन आचार्यों की आलोचना करना अभीष्ट नहीं है। महान् साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धनाचार्य का कहना है कि असंख्य सरस सूक्तियों द्वारा अपने यश को उज्ज्वल करनेवाले लब्धप्रतिष्ठ महानुभावों के दोषों का उद्घाटन करना स्वयं अपने को दोषी करना है—

"तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मना महात्मना दोषाद्धोषणमात्मनएव दूषण।" —ध्वन्यालोक, उद्योत २।

अतएव जिन महानुभावों के द्वारा हिन्दी साहित्य की अनिर्वचनीय श्रीवृद्धि हुई है और जिनके अकथनीय परिश्रम का आज यह फल है कि हम लोग साहित्य-क्षेत्र में अभिमान कर सकते हैं, उन महानुभावों को आदरास्पद समझकर उनके सर्वतोभावेन अनुग्रहीत होना ही उचित है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों के विषय में जो कुछ आलोचनात्मक शब्द प्रसङ्ग वश लिखे गये हैं, वह छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं। केवल प्रतिपादित विषय की स्पष्टता करने के लिये आवश्यक समझ कर ही लिखे गये हैं। इस प्रसङ्ग मे जो—

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-ग्रन्थ

प्रकाशित हुए हैं, उनके विषय में भी कुछ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। कविराजा मुरारीदानजी का 'जसवंतजसोभूषण', श्रद्धेय विद्यामार्तण्ड पण्डित श्री सीतारामजी शास्त्री का 'साहित्यसिद्धान्त', श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर', श्री बाबूराम बित्थरिया का हिन्दी में 'नवरस', श्री भगवानदीनजी

'दीन' की व्यंग्यमञ्जूषा, श्री गुलाबराय एम० ए० का 'नवरस' और श्रद्धेय पण्डित श्री अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध' का 'रस-कलश' आदि अनेक ऐसे साहित्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनमें रस विषय का उल्लेख है।

कविराजा मुरारीदानजी प्रणीत 'जसवंतजसोभूषण' अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण है। इस ग्रन्थ में रस विषय पर जो संक्षिप्त रूप में लिखा गया है, वह संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार है और उप-योगी है। पर इस ग्रन्थ में कविराजा ने एक नवीन सिद्धान्त यह प्रतिपादन किया है कि अलङ्कारों के नामों के अन्तर्गत ही सभी अलङ्कारों के लक्षण हैं। अपने इस मत के सिद्ध करने का उन्होंने असफल प्रयास किया है। और अपने इस नवाविष्कृत सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में उन्होंने संस्कृत के सभी सुप्रसिद्ध साहित्या-चार्यों की पृथक् लक्षण लिखने की प्रणाली का खण्डन किया है। किन्तु कविराजा इस कार्य में कृतकार्य नही हो सके है। अर्थात् न तो वे अपने नवीन सिद्धान्त को निर्भ्रान्त स्थापित कर सके है और न प्राचीन परिपाटी के खण्डन करने मे ही समर्थ हुए हैं[1]।

श्रद्धेय विद्यामार्तण्डजी का 'साहित्यसिद्धान्त' हिन्दी भाषा में अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें प्रधानतः काव्यप्रकाश के अनुसार साहित्य के सभी विषयो पर मार्मिक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में हिन्दी भाषा के पद्य उदाहरणों में न रख-

---

१ देखिये काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी की भूमिका पृ० ह, त्त, त्र, ज्ञ और द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में हमारा 'अलङ्कार' शीर्षक लेख पृ० २२६

कर काव्यप्रकाश के कुछ संस्कृत पद्यो को उद्धृत किया गया है। अतः यह ग्रन्थ संस्कृत के उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी है।

'भानुजी' के 'काव्यप्रभाकर'[1], बिथ्थरियाजी के 'हिन्दी नवरस'[2] और दीनजी की 'व्यंग्यमञ्जूषा'[3] की आलोचना हम 'माधुरी' पत्रिका में कर चुके हैं। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इन विद्वानो ने अपने-अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय पर लेखनी उठाने का व्यर्थ ही कष्ट उठाया है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इन विद्वानो का यह प्रयास उनकी सर्वथा अनधिकार चेष्टा थी।

यह भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे स्नेहास्पद बाबू गुलाबरायजी एम० ए० के द्वारा रस विषय पर जैसा ग्रन्थ लिखा जाने की साहित्य-संसार आशा रखता था, वैसा ग्रन्थ वे भी न लिख सके हैं। बृहत्काय 'नवरस' में प्राचीन परिपाटी के अनुसार नायिका भेद आदि अनावश्यक विषयो की प्रधानता तो है ही, पर उसके सिवा जिस विषय के उदाहरणों में जो पद्य रक्खे गये है, उनमें बहुत ही कम पद्य ऐसे है जो उस विषय के उदाहरण कहे जा सकते है, शेष पद्य केवल विषय के अनुपयुक्त ही नहीं किन्तु दोप पूर्ण होने के कारण उनके द्वारा उस विषय के सम्बन्ध में भ्रम होजाना भी सम्भव है। प्रतिपाद्य विषय रस

१ माधुरी पत्रिका वर्ष ७, खण्ड १ पृ० ४४, ६२ और पृ० ८३२—८३७

२ माधुरी वर्ष ७ खण्ड १ पृ० १०—१५

३ माधुरी पत्रिका वर्ष ६, खण्ड २, पृ० ३१३—३१८

का विवेचन बड़ी असावधानी से किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि नवरस में जिन संस्कृत ग्रन्थों का और साहित्य के प्रधान विषयों का उल्लेख किया गया है, उनसे एवं साहित्य के महत्व-पूर्ण विषयों से विद्वान् लेखक महाशय सम्भवतः परिचित भी नहीं हैं। आप लिखते है—

"ध्वनि को प्रधानता देनेवाले आचार्यों में अभिनव गुप्त मुख्य है। उनके ध्वन्यालोक में ध्वनि का सिद्धान्त दिया गया है। उनका कथन है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' "—'नवरस' पृ० ४

ध्वनि को प्रधानता देनेवाले आचार्यों में सर्व प्रधान अज्ञातनामा ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य है। और यह बात सर्व सम्मत है कि ध्वनि-सिद्धान्त के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता अज्ञातनामा ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य ही है, न कि अभिनव गुप्ताचार्य। आगे चल कर 'नवरस'-कार लिखते हैं—

"भरत मुनि ने जो शान्त को स्वतंत्र स्थान नही दिया इसका कारण यह है कि शान्त का स्थाई भाव 'निर्वेद' सञ्चारी भावों में आ जाता है। फिर उसके दुहराने की उन्होने आवश्यकता नही समझी।" —नवरस पृ० ५१८

किन्तु भरत मुनि ने तो शान्त को स्वतंत्र रस स्वीकार किया है, और उसका स्थायी भाव 'शम' माना है, न कि निर्वेद। भरत मुनि ने कहा है—

"अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्ष प्रवर्तकः······"
"एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।"

ऐसा प्रतीत होता है कि 'नवरस' के विद्वान् लेखक ने

आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलङ्कारो के अन्तर्गत प्रधानतः 'वक्रोक्ति' अलङ्कार का विषय ही समझ लिया है। किन्तु कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है, कुन्तक ने अपने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि, अलङ्कार और रीति आदि सभी सिद्धान्तों का समावेश कर दिया है।

रस दोष का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है, "शृङ्गारादि रस, स्थायी भाव, और सञ्चारी भावों का स्वशब्द द्वारा कथन किया जाना दोष है"। यह ठीक है किन्तु फिर भी रस एवं भावों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे अधिकतर ऐसे है जिनमें रसों और भावो के नाम स्पष्ट आ गये है। अस्तु,

श्रद्धेय हरिऔधजी का 'रसकलश' विद्वत्तापूर्ण होने पर भी उसमें दिये गये उदाहरणो में रस, भाव आदि के नाम स्पष्ट स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, यह चिन्त्य है। इसके सिवा रसकलश में देश सेविका आदि नायिकाओ का जो नवाविष्कार किया गया है वह नवीन तो अवश्य है किन्तु शृङ्गार रस के आलम्बन-विभावों के अन्तर्गत चिन्तनीय है। श्री हरिऔधजी की काव्य-शक्ति के प्रभाव और महत्व के कारण उनका 'रसकलश' वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य-ग्रन्थो में गौरवास्पद स्थान रखता है।

चतुर्थ संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

हर्ष का विषय है कि भगवान् श्री राधागोविन्ददेवजी की कृपा से इस ग्रन्थ के चतुर्थ संस्करण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। निस्सन्देह साहित्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों की गुण-ग्राहकता और अनुग्रह का ही यह फल है।

प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण तृतीय संस्करण का संशोधित परिवर्तित एवं परिवर्द्धित संस्करण है।

इस संस्करण में कतिपय स्थानों में विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरण भी नये-नये रखकर ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। विषय को पृथक्-पृथक् विभक्त करके नये-नये शीर्षक कर दिये गये है। एवं विषय की स्पष्टता के लिये कतिपय विषयों को प्रसङ्गानुकूल स्थानान्तर भी कर दिया गया है। पिछले संस्करण की भाँति शब्दानुक्रमणिका इस संस्करण में भी रक्खी गई है और उसमें कुछ त्रुटियाँ थीं, वे यथा संभव दूर कर दी गई है।

आशा है, यह ग्रन्थ केवल हिन्दी ही के नही, संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये भी उपादेय होगा, और हिन्दी एवं संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों के भी मनन करने योग्य एवं मनोरञ्जन के लिये एक नवीन वस्तु होगी।

प्रथम तो रस और अलङ्कार विषय ही अत्यन्त जटिल है। दूसरे, ग्रन्थ का अधिकृत आलोचनात्मक विषय तो बहुत ही विवादास्पद है। अतएव संभव है, इस ग्रन्थ में बहुत कुछ त्रुटियाँ हों। लेखक इस विषय में कहाँ तक कृतकार्य हो सका है, यह सहृदय काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों की समालोचना पर निर्भर है—'एकः सूते कनकमुपलं तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः'। अस्तु।

अब अधिक कुछ निवेदन न करके सहृदय महानुभाव काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में कविराज भट्ट नारायण की निम्नलिखित सूक्ति प्रार्थना-रूप उद्धृत की जाती है—

'कुसुमाञ्जलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र ;
मधुलिह इव मधुबिन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान्।'

विनीत

मथुरा
वसंतपञ्चमी सं० १९९७

साहित्य का एक नगण्य सेवक
कन्हैयालाल पोद्दार

❀ श्रीहरिः शरणम् ❀

काव्यकल्पद्रुम

प्रथम स्तवक

मङ्गलाचरण

विघनहरन हो असरन-सरन मुद-करन विमल मति दूषन दरौ ही गे ;
वरन-करन[1] पुनि वरन-करन[2] सदा, वरन अरुन याहि पूषन[3] करौ ही गे।
वंदन चरन जुग ध्यान हिय धारि करौं, विनय करन सुनि भूखन[4] हरौ ही गे ;
वारन-वदन[5] प्रभु! मदन-कदनजू के,भूषन-सदन[6] ग्रथ भूषन[7] भरौ ही गे॥

कल्यानी ! बानी[8] ! सदा प्रनवौं पानी जोर।
मो मुख-रसनातल रुचिर करहु नृत्य थल तोर॥

विघन-हरन सुचि नाम कामदतरु वर-सुमति-सिधि।
सेवहिँ बुध सब जाम कविपति गनपति जयति नित[9]॥

---

१ वर्णों को शोभित करनेवाले या सर्वप्रथम लेखक (गणेशजी की लेखनी से ही 'महाभारत' लिखी गई थी) । २ अनेक वर प्रदान करनेवाले। ३ इस ग्रन्थ का पोषण करोगे। ४ मेरी भूख को हरोगे—मेरी इच्छा पूर्ण करोगे। ५ गज वदन। ६ श्रीमहादेवजी के गृह-भूषण। ७ इस ग्रन्थ को भूषित करोगे। ८ श्री सरस्वती। ९ इसमें श्लेष से श्रीगणेशजी और जोधपुर निवासी कविवर स्वामी गणेशपुरीजी—जिनसे ग्रन्थकर्ता ने सब से प्रथम भाषाभूषन ग्रन्थ पढ़ा था—की स्तुति है।

आनँद के कंद नँदनंद यदुवंसचंद !
भक्तन-दुख द्वन्द के हरैया मुकंद हौ ;
गायन चरैया गज-फंद के कटैया प्रभु !
सुवैया फनिंद छीरसिंधु में सुछंद हौ।
जानि मतिमंद त्यों विवेकमंद, विद्यामंद,
छेदौ तम वृन्द नाथ ! जै जय अमंद हौ ;
ग्रंथ के अमंगल टारि मगल करौ ही गे,
आपै हमारे सदा सहायक गुविंद हौ॥

धोए हरि पाद[1] आदि विधि के कमंडल सों,
काढ़ि सुरलोक वे असोक थोक जोय जब ;
उतरि तहाँ ते ईस-सीस[2] धोय धोए फेर,
सगरज-ढेर[3] हेर धार सत होय तब।
भक्तन भव-तापन औ पापन हूँ धोवै त्यों,
धोवै सँतापन हू ऐसो तव तोय अब—
सोई धोइवे की वान ध्यान करि आदि ही की,
ग्रथ के अमगल हू मात गंग ! धोय सब॥

करुन-सरुन-पद[4] पद-गुरुन तरुन अरन सम कंजु॥
वदौ जिहिँ सुमरिन किए होहिँ सकल मुद मजु॥

---

१ श्रीविष्णु भगवान् के चरण। २ श्रीशङ्कर का मस्तक। ३ सगर राजा के साठ हज़ार पुत्रों की भस्म के ढेर। ४ करुणा और शरण के स्थान।

बंदौ व्यास रु आदिकवि सक्र-चाप जिमि वंक[1]।
विहितघनालंकार[2] पुनि बरन बिचित्र[3] निसंक[4] ॥
श्लिष्ट सभंग[5] सुवर्ण मृदु[6] गुनजुत सरस निदोस।
कालिदास बानादि कवि जय-जय नवकृति कोस ॥
कहि हरि जस न अघाय बालमीकि मुनि व्यास मनु।
प्रकटे भुवि पुनि आय बंदौ तुलसी-सूर-पद ॥
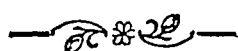
काव्य का लक्षण

दोष-रहित, गुण एवं अलङ्कार-सहित (अथवा कहीं अलङ्कार-रहित) शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।

अर्थात् काव्य उन शब्द और अर्थ की (दोनो की मिलकर) सज्ञा है जिनमे दोष न हो, और जो गुण एव अलङ्कार-युक्त हों। यदि किसी रचना में अलङ्कार न भी हो, अर्थात् स्पष्टतया अलङ्कार की स्थिति न हो, तो भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य कहा जाता है। काव्य का यह लक्षण आचार्य मम्मट-प्रणीत काव्यप्रकाश के अनुसार है। सस्कृत रीति-ग्रन्थों मे काव्य के लक्षण भिन्न भिन्न आचार्यों

१ इन्द्र धनुष के समान टेढे, अर्थात् वक्रोक्ति युक्त। २ इन्द्र-धनुष के पक्ष में मेघ-घटा से शोभित, और काव्य पक्ष में अलङ्कारों से युक्त। ३ इन्द्र धनुष के पक्ष में अनेक रंगोंवाला, काव्य पक्ष में विचित्र वर्णों की रचना-युक्त। ४ शङ्का-रहित। ५ अभङ्ग (श्लेष-युक्त) होकर भी सभङ्ग। ६ सुवर्ण (श्लेषार्थ सुन्दर) होकर भी कोमल।

द्वारा भिन्न भिन्न बताए गए हैं। इस विषय में बड़ा मतभेद है[1]। शब्द-अर्थ, गुण, दोष और अलङ्कारों की स्पष्टता यथास्थान आगे की जायगी।

काव्य के भेद

काव्य के मुख्य तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। अतएव काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञा व्यंग्यार्थ पर ही अवलम्बित है। अर्थात्, जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो, उसे उत्तम· जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो, उसे मध्यम; और जहाँ व्यंग्यार्थ न हो, केवल वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अधम काव्य माना गया है। इन तीनों भेदों के नाम क्रमशः ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अलङ्कार[2] हैं। यद्यपि काव्य के भेदों के विषय में भी साहित्याचार्यों का मतभेद है, किन्तु काव्यप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों में उपर्युक्त तीन भेद ही माने गए हैं। इन तीनों भेदों के विशेष लक्षण और उदाहरण यथास्थान आगे लिखे जायँगे। इनके सामान्य लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की स्पष्टता द्वितीय स्तवक में की जायगी। काव्य में ध्वनि का स्थान सर्वोच्च है, ध्वनि में व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक होने के कारण वह (व्यंग्यार्थ) प्रधान रहता है इसी से इसे उत्तम काव्य की सञ्ज्ञा दी गई है। ध्वनि का उदाहरण—

---

१ विस्तृत विवेचन के लिये, देखिये, हमारा 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' दूसरा भाग। २ 'अलङ्कार' का दूसरा नाम 'चित्र' भी है।

ये ही अपमान, मेरे शत्रु कौ लखानौं, पुनि
वाकौ इत आनौं, गढ़लंक में घिरानौं मैं ;
सोहू है तापस, ध्वंस बंस जातुधानन कौ
देखौं हौं जीवित, धिक रावन कहानौं मैं।
इंद्र के जितैया कौं हजार हैं धिकार और
जानौं हौं वृथा ही कुंभकर्न को जगानौं मैं ;
लूट्यो स्वर्ग तुच्छ या घमंड सौं प्रचंड अहो
मानौं क्यो न व्यर्थ भुजदड को फुलानौं मैं ॥१॥

यहाँ श्रीरघुनाथजी द्वारा असख्य राक्षस वीरो का विध्वस हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण का अपने आप पर अधिक्षेप है। इस पद्य के पद पद मे ध्वनि है। रावण कहता है—'प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है'। 'मेरे' पद मे यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बलशाली, इन्द्रादि के विजेता, रावण के साथ शत्रुता का साहस किया जाना बडे आश्चर्य का कारण है। 'फिर उसका यहाँ आना' इसमे यह ध्वनि है कि जिस लङ्का के चारो ओर समुद्र है और जो मेरे जैसे अलौकिक प्रभावशाली एव पराक्रमी द्वारा रक्षित है। 'और आकर लङ्का में मुझे घेर लेना' यहाँ यह ध्वनि है कि मेरे ही स्थान में आकर मुझे घेर लेना। 'वह शत्रु भी तापस है' 'तापस' मे यह ध्वनि है कि वह कोई देवता या प्रसिद्ध बलवान् नहीं है किन्तु घर से निकाला हुआ, वन मे भटकनेवाला, युद्ध-कला-अनभिज्ञ, स्त्री-वियोग से व्यथित, एक मनुष्य और मनुष्यों में भी तापस—पुरुषार्थ-हीन—जो हम राक्षसो का भक्ष्य है, यह और भी मेरा अपमान है। 'ऐसे तुच्छ शत्रु द्वारा मेरा घिर जाना और राक्षस-कुल का विनाश किया जाना और ऐसे अनर्थ को मैं जीता हुआ अपने नेत्रों के सामने ही देख रहा हूँ'। इस वाक्य मे यह ध्वनि है कि ऐसा घोर अपमान होने

पर भी मैं जी रहा हूँ। 'जीवित' पद मे काक्वाक्षिप्त ध्वनि[1] यह है कि, क्या मैं जी रहा हूँ ? नहीं, जीता हुआ भी मृतक के समान हूँ, जो अब तक ऐसे नगण्य शत्रु का परिहार करने मे समर्थ नहीं हो रहा हूँ। 'धिक्कार है मेरे रावण कहाने को'। 'रावण' पद में यह ध्वनि है कि मैं जो सारे ससार को रुलानेवाला हूँ (रावण नाम का तात्पर्य ही यह है) उसे यह तुच्छ तपस्वी भयभीत कर रहा है, इससे बढ़कर हाय ! मेरा और क्या अपमान हो सकता है ? 'केवल मुझे ही नहीं, किन्तु इन्द्र-विजेता मेघनाद को भी हजार बार धिक्कार है'। इसमे यह ध्वनि है कि जब वह इस तुच्छ शत्रु को परास्त करने मे असमर्थ है, तब इन्द्र को पराजित करके अपने को विश्व-विजयी समझनेवाले मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है, 'कुम्भकर्ण का जगाया जाना भी व्यर्थ हो गया है'। यहाँ यह ध्वनि है कि जिस कुम्भकर्ण को मैने अभूतपूर्व पराक्रमी समझकर जगाया था वह भी कुछ न कर सका। 'अतएव स्वर्ग जैसे एक छोटे-से गाँव को लूटकर जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा था वह व्यर्थ ही था। यहा यह ध्वनि है कि जिन भुज-दण्डों के अनुपम पराक्रम का अनुभव श्रीशङ्कर के कैलास को हो चुका है, उन भुजाओं द्वारा इस दो भुजावाले तुच्छ तपस्वी को मै पराजित नहीं कर सका तो इन अपनी भुजाओ के बल पर गर्व करना मेरा भ्रम-मात्र था। यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ मे ही अधिक चमत्कार है, अतः यह ध्वनि काव्य है।

ध्वनि के विशेष भेदों का निरूपण चतुर्थ स्तवक मे किया जायगा।

गुणीभूतव्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो, अथवा समान या कम चमत्कार हो अर्थात् व्यंग्यार्थ प्रधान

1 काक्वाक्षिप्त ध्वनि की स्पष्टता आगे ध्वनि प्रकरण में देखिये।

न हो वहाँ व्यंग्यार्थ गौण कहा जाता है। गौण व्यंग्यार्थ को गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं।

उदाहरण—

उन्निद्र रक्त अरविन्द लगे दिखाने,
गुञ्जार मञ्जु अलि-पुञ्ज लगे सुनाने ;
ए देख तू उदयअद्रि लगा सुहाने,
बन्धूक[1] पुष्प-छवि सूर्य लगा चुराने ॥२॥

प्रभात होने पर भी शयन से न उठनेवाली किसी नायिका के प्रति उसकी सखी की यह उक्ति है। यहाँ 'सूर्य-बिम्ब द्वारा बन्धूक-पुष्प की कान्ति का चुराया जाना' वाच्यार्थ है। इसमे प्रभात का हो जाना व्यग्यार्थ है। यहाँ व्यग्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट है, कोई अधिक चमत्कार नहीं है, अतएव यहाँ व्यग्यार्थ गौण है—प्रधान नहीं है। गुणीभूतव्यग्य के विशेष भेदो का पाँचवे स्तवक में निरूपण किया जायगा।

अलङ्कार

जहाँ व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अलङ्कार कहते हैं।

यद्यपि व्यग्यार्थ प्रायः सर्वत्र रहता है, किन्तु जहाँ कवि का लक्ष्य व्यंग्यार्थ पर नहीं होता है, अर्थात् जहाँ व्यग्यार्थ के ज्ञान बिना ही केवल वाच्यार्थ मे चमत्कार होता है, वहाँ अलङ्कार होता है। अलङ्कारों

[1] एक प्रकार का लाल रङ्ग का पुष्प।

के सामान्यतः मुख्य तीन भेद हैं—शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार और शब्दार्थ उभयालङ्कार।

शब्दालङ्कार का उदाहरण—

फूलन के म्याने कै कमानै लगी फूलन की,
फूलन ही के खाने सु सुहाने मनै हरै;
फूलन की माल में बिसाल छत्र कंचन कौ,
बीच उडुजाल बाल-रवि सो लखै परै॥
तिहिमें विराजैं रघुराजैं दुति भ्राजैं आज,
तुलसीमुकुट मनि तुरसी करै छरै;
देखि छवि याकै बिन बैन हाय आखैं,
आखैं बैनहू न राखैं तासौं भाखैं ना बनै परै॥३॥

इसमे फ, म, न आदि अनेक व्यञ्जनो की कई बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास और एक ही अर्थवाले 'आखै' पद का दो बार प्रयोग होने से लाटानुप्रास है। ये दोनो शब्दालङ्कार हैं। यहाँ भगवान् श्री रघुनाथजी के विषय मे जो प्रेम सूचन होता है, वह व्यंग्य अवश्य है, पर उस व्यंग्यार्थ के ज्ञान विना ही केवल शब्द-सादृश्य में यहाँ चमत्कार है।

अर्थालङ्कार का उदाहरण—

"भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख दैनी;
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सों इक सारस-नैनी।
'केसव' कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति कौं अति पैनी;
सूरज-मंडल में ससि-मंडल मध्य धसी जनु जाहि त्रिवैनी"॥४॥

दर्पण मे मुख देखती हुई किसी गोपाङ्गना के मुख के उस दृश्य मे, जिसके केश-कलाप में रक्त सूत्र की डोरियाँ और मोतियों की लड़ी गुँथी हुई थीं, सूर्य-मण्डल मे चन्द्र-मण्डल और उस चन्द्र-मण्डल में

शोभित त्रिवेणी की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार जो वाच्यार्थ है उसी में चमत्कार है।

शब्दार्थ उभयालङ्कार का उदाहरण—

"औरन के तेज तुल जात हैं तुलान बिच,
तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत,
तेरे गुन गन की न गिनती गनाइये।
'ग्वाल' कवि अमित प्रवाहन की थाह होत,
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हू को पारावार पाइयत,
तेरे पारा पार को न पारावार पाइये" ॥१॥

यहाँ अन्य नद-नदियों से यमुनाजी का आधिक्य वर्णन किये जाने में 'व्यतिरेक' अर्थालङ्कार है। और 'त' 'ग' 'प' की अनेक बार आवृत्ति में वृत्यानुप्रास तथैव चतुर्थ चरण मे एकार्थक 'पारावार' शब्द की आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास शब्दालङ्कार है। यहाँ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार एकत्र होने से उभयालङ्कार है।

अलङ्कारों के विशेष भेदो का निरूपण इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग 'अलङ्कार मञ्जरी' में किया गया है।

द्वितीय स्तवक

शब्द और अर्थ

काव्य शब्द और अर्थ के ही आश्रित है। काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक या लाक्षणिक, और (३) व्यञ्जक। इन तीन प्रकार के शब्दो के अर्थ भी तीन प्रकार के क्रमशः (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ और (३) व्यंग्यार्थ होते हैं। अर्थात् (१) वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं, (२) लक्षक या लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं, (३) व्यञ्जक शब्द के अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। ये अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, वे (१) अभिधा, (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना कही जाती हैं। अर्थात् 'अभिधा' आदि शक्तियाँ शब्द के व्यापार हैं। 'कारण' जिसके द्वारा कार्य करता है उसे व्यापार कहते हैं। जैसे, घट बनाने में मिट्टी, कुम्हार, कुम्हार का दण्ड और चाक आदि कारण हैं। भ्रमि (चाक के बार-बार फिरने की क्रिया) व्यापार है, क्योंकि इसी क्रिया द्वारा घट बनता है। इसी प्रकार अर्थ का बोध कराने मे 'शब्द' कारण है, और अर्थ का बोध करानेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार है। इन शक्तियों को वृत्ति भी कहते हैं। इनकी स्पष्टता क्रमशः इस प्रकार है—

'वाचक'-शब्द

साक्षात् संकेत किए हुए अर्थ को बतलानेवाले शब्द को वाचक कहते हैं।

संकेत—किसी वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाकर कहा जाय कि 'इसका नाम यह है', अथवा 'इस नाम की यह वस्तु है', इस प्रकार के निर्देश को—बतलाने को—सकेत कहते हैं। जैसे शङ्ख की ग्रीवा (गरदन) के आकारवाली वस्तु को दिखलाकर बतलाया जाय कि इसका नाम 'घडा' है, अथवा 'घड़ा'-शब्द का अर्थ 'शङ्ख की गरदन जैसे आकारवाली वस्तु'। इस तरह के निर्देश से 'घड़ा'-शब्द और शङ्ख की गरदन-जैसे आकारवाली वस्तु (घडा) का जो परस्पर सम्बन्ध बतलाया जाता है, वही सकेत है। और जो शब्द साक्षात् सकेत की हुई वस्तु को बतलाता है, वह वाचक शब्द है।

साक्षात्—इस शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया है कि सकेत दो प्रकार से किया जाता है—'साक्षात्' और 'परम्परा-सम्बन्ध से'। जैसे, गोवर्धन पर्वत को (जो ब्रज-मण्डल के अन्तर्गत है) प्रत्यक्ष दिखलाकर कहा जाय कि 'यह गोवर्धन है'। यह तो साक्षात् सकेत हुआ। गोवर्धन पर्वत से मिला हुआ जो एक कस्बा है उसका नाम भी गोवर्धन पर्वत के सम्बन्ध से गोवर्धन पड गया है। उस कस्बे का 'गोवर्धन' शब्द सकेत तो है पर वह साक्षात् सकेत नहीं है, गोवर्धन पर्वत के सम्बन्ध से परम्परा सम्बन्ध से सकेत है। 'गोवर्धन' शब्द उस कस्बे का वाचक नहीं कहा जा सकता किन्तु लाक्षणिक[1] है, क्योंकि वह परम्परा सम्बन्ध से सकेतित होता है।

संकेत का ग्रहण

संकेत का ग्रहण—व्यवहार से, प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से (समीप होने से), आप्त-वाक्य से, उपमान से, व्याकरण से और कोष आदि अनेक कारणों से होता है। जैसे—

---

१ लाक्षणिक शब्द की स्पष्टता आगे की जायगी।

१—**व्यवहार से संकेत ग्रहण**—किसी वृद्ध मनुष्य के द्वारा अपने भृत्य से यह कहने पर कि 'गैया ले आओ', यह सुनकर उस भृत्य द्वारा गैया ले आने पर, पास मे बैठा हुआ बालक, जो अब तक इन शब्दों का अर्थ नहीं जानता था, समझ लेता है कि दो सींग, पूँछ और फटी हुई खुरी के आकारवाले जीव को गैया कहते हैं। इस प्रकार लोगो के व्यवहार से सकेत का ग्रहण होता है।

२—**प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से**—यद्यपि 'मधुकर'-शब्द का अर्थ शहद की मक्खी और भौंरा दोनों है, पर—

"कमल पर बैठा हुआ मधुकर मधु पान करता है।"

इस वाक्य मे 'मधुकर'-शब्द का अर्थ 'कमल'-शब्द के समीप होने से भौंरा ही ग्रहण हो सकता है, न कि शहद की मक्खी। क्योंकि, कमल-शब्द प्रसिद्ध है, और कमल का रस-पान भौंरे किया करते हैं। ऐसे प्रयोगो मे प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से सकेत का ग्रहण होता है।

३—**आप्त-वाक्य से**—आप्त कहते हैं प्रामाणिक पुरुप को। कहीं आप्त वाक्य से भी सकेत ग्रहण होता है। जैसे, किसी बालक को उसका पिता बतला देता है कि 'इसे घोडा कहते हैं'। वह बालक घोडे शब्द का सकेत उस पशु मे समझ लेता है।

४—**उपमान द्वारा**—'उपमान' कहते हैं सादृश्य को। सादृश्य-ज्ञान से भी सकेत ग्रहण होता है। जिसने यह सुन रक्खा हो कि गैया के जैसा गवय (वनगाय) होता है, जब कभी वह पुरुष जङ्गल मे गैया के जैसा जीव देखेगा, तो झट समझ जायगा कि यह 'वनगाय' है।

५—**व्याकरण द्वारा**—दशरथ का पुत्र दाशरथी[1] कहा जाता है। यहाँ व्याकरण से सकेत का ग्रहण है।

---

१ दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः।

इस भाँति अनेक प्रकार से सकेत का ग्रहण किया जाता है। यह सकेत उपाधि में रहता है। वस्तु के धर्म को उपाधि कहते हैं। वस्तु के धर्म चार प्रकार के होते हैं, अर्थात् वाचक-शब्द के चार भेद हैं—जाति-वाचक, गुण-वाचक, क्रिया-वाचक और यदृच्छा-वाचक। इन्हीं में शब्द के सकेत का ज्ञान होता है—

(१) जाति—यह वस्तु का प्राण-भूत धर्म है। किसी भी पदार्थ का नाम उस पदार्थ की जाति पर ही स्थिर किया जाता है। जैसे, गैया को गैया इसलिये कहा जाता है कि गोत्व (गैयापन) अर्थात् दो सींग, फटी हुई खुरी, दूध देना इत्यादि गो-जाति के जो धर्म हैं, वे उसमें हैं। गैया, घोड़ा, मनुष्य आदि शब्द जाति-वाचक हैं क्योकि ऐसे शब्द जाति को बतलाते हैं।

(२) गुण—यह वस्तु की विशेषता बतलानेवाला धर्म है। जैसे, 'सफेद गाय'। यहाँ सफेद गुण है। यह गोत्व प्राप्त करने के लिये नहीं है, क्योकि गो-जाति का अस्तित्व तो पहले 'गो' कहने-मात्र से ही सिद्ध हो चुका है। गुण तो अस्तित्व प्राप्त वस्तु मे विशेषता (दूसरे से जुदापन) बतलाता है। जैसे, जब काली, पीली गायों में से सफेद गाय को जुदा बतलाने की इच्छा होती है तब 'सफेद' जैसे गुण-वाचक विशेषण का प्रयोग किया जाता है। जिसके द्वारा अन्य रङ्गो की गायो को छोड़कर सफेद गाय का बोध होता है। अतः दूसरे से भेद बतलानेवाले शब्द को गुण-वाचक कहते हैं।

(३) क्रिया—जो शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, वे क्रिया-वाचक होते हैं। जैसे, 'पाचक'—पाक बनानेवाला। यहाँ पाक क्रिया के निमित्त से पाचक-शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः पाचक, पाठक, आदि क्रिया-वाचक शब्द हैं।

(४) यदृच्छा—यह उपाधि वक्ता की इच्छा से व्यक्ति पर सकेतित होती है। जैसे, देवदत्त, धर्मदत्त इत्यादि नाम। ये नाम रखने-वाले की इच्छा पर निर्भर है। वक्ता की इच्छा से जिसका जो नाम रक्खा जाय, वही उसका सकेत है।

वाच्यार्थ

वाचक-शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। जाति-वाचक शब्दो मे जाति, गुण-वाचक शब्दो मे गुण, क्रिया-वाचक शब्दो में क्रिया और यदृच्छा-वाचक शब्दो मे यदृच्छा रूप वाच्यार्थ होता है। यह महाभाष्यकार का मत है। नैयायिक उक्त चारों प्रकार के शब्दो का एकमात्र 'जाति' ही वाच्यार्थ मानते हैं। इसी (वाच्यार्थ) को मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं—मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रथम वाच्यार्थ ही उपस्थित होता है; अभिधेयार्थ इसलिये कहा जाता है कि यह अभिधा शक्ति का व्यापार है—अभिधा से बोध होता है।
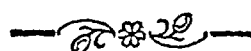
'अभिधा' शक्ति

साक्षात् संकेतित[1] अर्थ का बोध करानेवाली मुख्य क्रिया (व्यापार) को अभिधा कहते हैं।

'अभिधा' शक्ति द्वारा जिन शब्दो के अर्थ का बोध होता है वे तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

(१) रूढ़ शब्द—समुदाय शक्ति द्वारा जिन शब्दो का अर्थ बोध होता है वे रूढ़ शब्द होते हैं। रूढ़ शब्दो की व्युत्पत्ति नहीं होती है अर्थात्

[1] देखो पेज २१।

उनका अवयवार्थ नहीं होता[1] है। जैसे, 'आखण्डल' शब्द का अर्थ इन्द्र है। इस शब्द के अवयवों (जुदे-जुदे खण्डों) का अर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'गढ' 'घडा' 'घोडा' आदि शब्द भी रूढ हैं। रूढ-शब्द में प्रकृति प्रत्ययार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है समूचे शब्द के प्रयोग की किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्धि होती है[2]।

(२) **यौगिक शब्द**—अवयवों की शक्ति द्वारा जिन शब्दों का अर्थ बोध होता है वे यौगिक शब्द होते हैं। इन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से बोध होता है। जैसे, 'सुधाशु' इस शब्द मे 'सुधा' और 'अशु' दो अवयव (खण्ड) हैं। सुधा का अर्थ है 'अमृत' और अशु का अर्थ है 'किरण'। इन दोनों अवयवों का अर्थ है 'अमृत की किरणोंवाला', अतः अमृत को किरणवाले चन्द्रमा का सुधाशु नाम यौगिक है। 'नृप'[3] 'दिवाकर'[4] आदि शब्द भी यौगिक हैं।

(३) **योगरूढ़**—समुदाय और अवयवों की शक्ति के मिश्रण से जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है वे योगरूढ़ शब्द होते हैं। ये शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ होते हैं। अर्थात् जिस शब्द के अवयवों के अर्थ से बोध होनेवाली सभी वस्तुओं के लिये उस शब्द का प्रयोग न करके उन वस्तुओ में से किसी एक विशेष वस्तु के लिये ही प्रयुक्त किये

---

१ 'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढा आखण्डलादयः'।

२ 'प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्यशाब्दबोधजनक. शब्दः रूढः'—शब्द-कल्पद्रुम।

३ 'नृप'-शब्द में 'नृ' और 'प' दो अवयव हैं। 'नृ' का अर्थ है नर और 'प' का अर्थ पति। अतः 'नृप' शब्द राजा का यौगिक नाम है।

४ 'दिवाकर' में 'दिवा' और 'कर' दो अवयव हैं। दिन को करने-वाला होने से सूर्य का दिवाकर नाम यौगिक है।

जाने की रूढ़ि—प्रसिद्धि—हो, उस शब्द को योगरूढ़ कहते हैं। जैसे, 'वारिज'। 'वारि' नाम जल का है। जो वस्तु जल में उत्पन्न होती है उसको 'वारिज' कहा जा सकता है। कमल जल से उत्पन्न होता है। इसलिये कमल का 'वारिज' नाम यौगिक तो है, पर जल से केवल कमल ही नहीं, किन्तु शङ्ख, सीपी आदि भी उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ये सभी 'वारिज' ही हैं, किन्तु उन सभी को 'वारिज' नहीं कहा जाता। क्योंकि, 'वारिज' केवल कमल को ही कहने की रूढ़ि—प्रसिद्धि—है। अतः ऐसे शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होने के कारण 'योगरूढ़' कहे जाते हैं। पयोद[1], त्रिफला[2] आदि शब्द भी योगरूढ़ हैं।

पद्यात्मक उदाहरण—

नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अंबुज सरिस।
भुज मृनाल अनुहारु वदन सुधाकर-सम रुचिर ॥६॥

यहा 'नूपुर'-शब्द रूढ़ है। 'अम्बुज' शब्द योगरूढ़ है। 'सुधाकर' शब्द यौगिक है। ये सभी वाचक शब्द हैं। इनका सरल अर्थ ही वाच्यार्थ है।
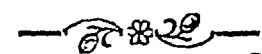
'लक्षणा' शक्ति

लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ

जो शब्द लक्षणा-शक्ति द्वारा अर्थ को लक्ष्य कराता है उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

---

१ पयोद का यौगिक अर्थ है पय (जल) देनेवाला, अतः जल देनेवाले कूप, तड़ाग सभी पयोद हैं, किन्तु पयोद केवल मेघ को ही कहने की प्रसिद्धि है। २ त्रिफला का यौगिक अर्थ है तीन फल, पर चाहे जिन तीन फलों को त्रिफला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि त्रिफला केवल हरड़, बहेड़ा और आँवला, इन्हीं तीन फलों को कहने की रूढ़ि है।

लक्षणा

मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

जिस प्रकार पूर्वोक्त अभिधा शक्ति शब्द के ज्ञान के साथ तत्काल उपस्थित होकर अपने वाच्यार्थ का बोध करा देती है, उस प्रकार लक्षणा तत्काल उपस्थित होकर लक्ष्यार्थ का बोध नहीं करा सकती। लक्षणा तभी होती है जब (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (सम्बन्ध), और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं[1]।

मुख्यार्थ का बाध—जहाँ मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) के ग्रहण करने में बाध हो, अर्थात् प्रत्यक्ष विरोध हो, अथवा जहाँ वक्ता (कहनेवाले) का अभिप्राय मुख्यार्थ से न निकलता हो उसे 'मुख्यार्थ का बाध' कहा जाता है।

मुख्यार्थ का योग—मुख्यार्थ का बाध होने पर जो दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाय और वह अर्थ ऐसा हो जिसका मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध[2] हो उसे मुख्यार्थ का योग कहा जाता है।

---

१ 'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।'

—वार्तिककार कुमारिल भट्ट

२ सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा।

रूढ़ि और प्रयोजन—रूढ़ि कहते हैं प्रसिद्धि को। अर्थात् किसी वस्तु को विशेषरूप से कहने की प्रसिद्धि और 'प्रयोजन' कहते हैं किसी कारण विशेष को। अर्थात् किसी कारण विशेष से या किसी विशेष बात को सूचन-करने के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाना।

इन मे से दो का—मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (सम्बन्ध) का होना तो लक्षणा में सर्वत्र अनिवार्य है। किन्तु रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से एक ही होता है।

इस प्रकार लक्षणा उपर्युक्त तीन कारणों के समूह होने पर दो प्रकार की होती है—

(१) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, और रूढ़ि, यह एक कारण समूह है।

(२) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध और प्रयोजन, यह दूसरा कारण-समूह है।

इन दोनो मे 'मुख्यार्थ का बाध' और 'मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध' तो समान हैं। तीसरा कारण पहिले समूह में 'रूढ़ि' है और दूसरे में 'प्रयोजन'। अतः इस तीसरे कारण द्वारा लक्षणा दो भेदों में विभक्त है—'रूढ़ि' और 'प्रयोजनवती।'

रूढ़ि लक्षणा

जहाँ केवल रूढ़ि के कारण, मुख्य अर्थ को छोड़कर मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है।

जैसे—'महाराष्ट्र साहसी है।'

यहाँ 'महाराष्ट्र' शब्द लाक्षणिक है, इसमें लक्षणा का पहला कारण समूह है—

(१) 'महाराष्ट्र' का मुख्यार्थ है महाराष्ट्र प्रान्त विशेष। यहाँ इस मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि प्रान्त जड़ वस्तु है, प्रान्त विशेष में साहस का होना सम्भव नहीं। अतः प्रान्त को साहसी नहीं कहा जा सकता। यही 'मुख्यार्थ का बाध' यहाँ लक्षणा का एक कारण है।

(२) मुख्यार्थ का बाध होने के कारण यहाँ 'महाराष्ट्र'-शब्द से उस प्रान्त से सम्बन्ध रखनेवाले 'महाराष्ट्र के निवासी पुरुष' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। अर्थात् महाराष्ट्र प्रान्त के निवासी साहसी हैं, ऐसा लक्ष्यार्थ समझा जाता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'महाराष्ट्र प्रान्त' के साथ आधाराधेय सम्बन्ध है। अर्थात् महाराष्ट्र प्रान्त आधार है और वहाँ के निवासी आधेय। यहाँ यही मुख्यार्थ का 'लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध रूप' लक्षणा का दूसरा कारण है।

(३) यहाँ तीसरा कारण रूढ़ि है। यहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिये ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है। महाराष्ट्र-निवासियों को महाराष्ट्र कहने की रूढ़ि (रिवाज) पड़ गई है, अतः यहाँ रूढ़ि ही कारण होने से रूढ़ि लक्षणा है।

दूसरा उदाहरण—'यह तैल शीतकाल में उपयोगी है'।

तैल का मुख्यार्थ है तिलों से निकाला हुआ तिली का तैल। पर सरसों, नारियल आदि से निकले हुए स्निग्ध द्रव्य को भी तैल कहा जाता है। सरसों आदि से निकले हुए स्निग्ध द्रव्य को तैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि वे तिलों से नहीं बनते। पर उनको भी तैल कहे जाने की रूढ़ि है। अतः यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि लक्षणा का पद्यात्मक उदाहरण—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब व्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस ते खरे लजाने लाल" ॥७॥

'व्रज' का मुख्य अर्थ गाँव या गोपालकों का निवास स्थान है। वह जड़ है। जड का 'बेहाल' होना सम्भव नहीं। अतः व्रज को बेहाल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'व्रज' शब्द का अर्थ लक्षणा द्वारा 'व्रज में रहने वाले व्रजवासी' समझा जाता है। यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

जैसे—'**गङ्गा पर ग्राम**[1] है'।

यहाँ 'गङ्गा' शब्द लाक्षणिक है। इस लाक्षणिक शब्द के प्रयोग किए जाने में विशेष प्रयोजन है। अतः यहाँ पूर्वोक्त दूसरा कारण समूह है—

(१) गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ है गङ्गाजी का प्रवाह (धारा) इस मुख्यार्थ का यहाँ बाध है। क्योंकि गङ्गाजी की धारा पर गाँव का होना सम्भव नहीं।

(२) गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ का बाध होने से इसका लक्ष्यार्थ 'गङ्गाजी का तट' ग्रहण किया जाता है। लक्ष्यार्थ 'तट' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' के साथ सामीप्य (समीप मे होना) सम्बन्ध है। यह लक्षणा का दूसरा कारण है।

ये दोनो कारण—'मुख्यार्थ का बाध' और 'मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध'—तो रूढ़ि लक्षणा के समान ही 'प्रयोजनवती' लक्षणा में भी हुआ करते हैं।

---

१ **गङ्गायां घोषः।**

(३) तीसरा कारण यहाँ 'प्रयोजन' है, न कि रूढ़ि। 'गङ्गा-तट पर गाँव' ऐसा स्पष्ट न कहकर, 'गङ्गा पर गाँव' ऐसा कहने में इस वाक्य को कहनेवाले (वक्ता) का अभिप्राय अपने गाँव की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना है। इसी प्रयोजन के लिये यहाँ ऐसा कहा गया है। यदि वह कहता कि 'मेरा गाँव गङ्गा-तट पर है', तो गाँव की पवित्रता और शीतलता का वैसा आधिक्य सूचन नहीं हो सकता था, जैसा कि 'गङ्गा पर गाँव' कहने से सूचित होता है। क्योंकि, वास्तव में पवित्रता आदि धर्म गङ्गा के प्रवाह के हैं, न कि तट के। अतः गङ्गा-तट को गङ्गा कहने से तट में गङ्गाजी की साक्षात् एकरूपता हो जाने से प्रवाह के पवित्रता आदि धर्म भी तट में सूचन होने लगते हैं। यहाँ यही प्रयोजन है, अतः यह प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा के भेद—
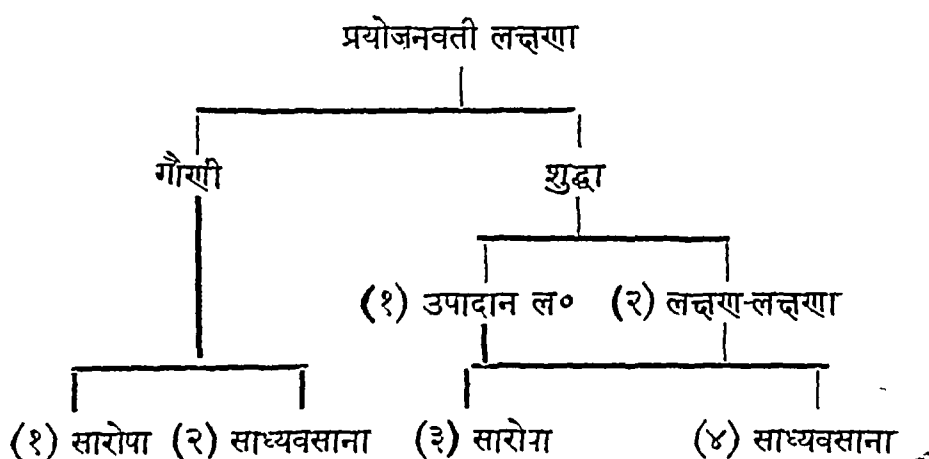
इस तालिका मे गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद, अर्थात् सब छः भेद बतलाए गए हैं। ये छहों भेद गूढ़-व्यंग्य में भी होते हैं और अगूढ़-व्यंग्य में भी। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के काव्यप्रकाश के अनुसार १२ भेद होते हैं। इन बारह भेदों की स्पष्टता इस प्रकार है—

गौणी लक्षणा

जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ गौणी लक्षणा होती है।

लक्षणा के ऊपर कहे गये तीन कारणों के समूह में एक कारण 'मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना' भी है। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से, अर्थात् आह्लादकता, जड़ता, आदि गुणों की समानता के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है[1], वहाँ गौणी लक्षणा होती है। इस लक्षणा का मूल 'उपचार' है। अत्यन्त पृथक् पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले दो पदार्थों में सादृश्य के अतिशय से—अत्यन्त समानता होने के प्रभाव से—भेद की प्रतीति न होने को 'उपचार' कहते हैं[2]।

जैसे—'मुखचन्द्र'।

इसका मुख्यार्थ है 'मुख चन्द्रमा है'। इस मुख्यार्थ का बाध है। मुख और चन्द्रमा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अतः मुख को चन्द्रमा नहीं कहा जा सकता। चन्द्रमा में आह्लादक अर्थात् आनन्द प्रदान करने का जो गुण है, वह मुख में भी है—मुख भी आनन्ददायक है। अर्थात्, आह्लादक गुण चन्द्रमा और मुख दोनों में समान है। इस समान गुण के सम्बन्ध से 'चन्द्रमा के समान मुख है' इस लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ यहाँ सादृश्य रूप गुण के सम्बन्ध से लिया जाता है, अतः गौणी लक्षणा है।

---

१ 'गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्तम्'—एकावली की तरल टीका, पृष्ठ ६८।

२ 'अत्यन्तविशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः'— साहित्यदर्पण परि० २।

शुद्धा लक्षणा

सादृश्य सम्बन्ध के बिना जहाँ अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

जहाँ सादृश्य के बिना अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। शुद्धा लक्षणा मे अनेक सम्बन्धो द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे—

(१) सामीप्य सम्बन्ध से।

पूर्वोक्त 'गङ्गा पर घर' ही इसका उदाहरण है। इसमे सादृश्य सम्बन्ध से तट का ग्रहण नहीं, किन्तु मुख्यार्थ प्रवाह के साथ लक्ष्यार्थ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

(२) तादार्थ्य[1] सम्बन्ध से।

जैसे, यज्ञ में काष्ठ के स्तम्भ को इन्द्र कहा जाता है। इन्द्र का मुख्यार्थ इन्द्र देवता है। स्तम्भ को इन्द्र कहने मे मुख्यार्थ का बाध है। वहाँ इन्द्र शब्द का लक्ष्यार्थ—स्तम्भ—तादार्थ्य सम्बन्ध से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यज्ञ-क्रिया मे स्तम्भ को इन्द्र का स्थानापन्न मान लिया जाता है। यज्ञ में इन्द्र की पूजा का विधान है। उसके स्थानापन्न स्तम्भ को पूज्य सूचन करने के लिये उसे इन्द्र कहा जाता है, यही प्रयोजन है।

(३) अङ्गाङ्गीभाव सम्बन्ध से।

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहिराई लाल;
नौलसिरी औरैं चढ़ी मौलसिरी की माल" ॥८॥

---

१ किसी कार्य के लिये जो नियत हो, उसके स्थानापन्न दूसरे को करना 'तादार्थ्य' है।

यहाँ मौलसिरी की माला को 'अपने कर गुही' कहा गया है। इसका मुख्यार्थ है 'हाथ से गूँथी हुई'। माला हाथ के अग्रभाग—उँगलियों—से गूँथी जाती है, न कि हाथ से। उँगली को हाथ कहने में मुख्यार्थ का बाध है। हाथ अङ्गी है उँगली उसके अङ्ग हैं, इसलिये अङ्गाङ्गी भाव के सम्बन्ध से 'हाथ' शब्द का 'उँगली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

(४) तात्कर्म्य[1] सम्बन्ध से।

जैसे, कोई ब्राह्मण जाति का बढ़ई न होने पर भी बढ़ई का काम करने से वह बढ़ई कहा जाता है। यहाँ बढ़ई कहने मे मुख्यार्थ 'बढ़ई-जाति' का बाध है। वह बढ़ई का काम करता है, इस तात्कर्म्य सम्बन्ध से यहाँ 'बढ़ई' अर्थ ग्रहण किया जाता है। इनके सिवा कुछ अन्य सम्बन्धों के उदाहरण भी आगे दिये जायँगे।

उपादान लक्षणा

अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

'उपादान' का अर्थ है 'लेना'। अर्थात् इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपना अर्थ (मुख्यार्थ) न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींचकर ले आता है। इसीलिये इस लक्षणा को 'अजहत् स्वार्था'[2] भी कहते हैं। निष्कर्ष यह कि इसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा रहता है।

---

१ तात्कर्म्य का अर्थ है किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले काम को करनेवाला पुरुष।

२ अजहत् = नहीं छोड़ा है, स्वार्था = (स्व अर्थ) अपना अर्थ जिसने।

जैसे—'ये कुन्त (भाले) आ रहे हैं'[1]।

इसका मुख्यार्थ है 'ये भाले आ रहे हैं'। भाले जड वस्तु हैं। वे आने जाने का कार्य नहीं कर सकते। अतः मुख्यार्थ का बाध है। 'भाले आ रहे हैं' यह मुख्यार्थ अपने इस अर्थ की सिद्धि करने के लिये 'भाले धारण किए हुए पुरुष आ रहे हैं; इस लक्ष्यार्थ का आक्षेप करता है—खींचकर ले आता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'भालों' के साथ संयोग-सम्बन्ध[2] अथवा धार्य-धारक-सम्बन्ध[3] है। यहाँ 'भाले' शब्द ने अपना मुख्यार्थ नहीं छोडा है, और 'भाले धारण किए हुए पुरुष' यह लक्ष्यार्थ खींचकर ले लिया है। इस लक्ष्यार्थ के बिना मुख्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती थी। अर्थात्, इस वाक्य के कहनेवाले का तात्पर्य नहीं निकल सकता था। यहाँ भालेवाले पुरुषो में भालो जैसी तीक्ष्णता सूचन करने के लिये इस लाक्षणिक वाक्य का प्रयोग किया गया है, अतः प्रयोजनवती उपादान लक्षणा है। आगे ध्वनि प्रकरण में लिखी जानेवाली अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि में यही लक्षणा हुआ करती है।

एक और उदाहरण—'कौओं से दही की रक्षा करो'।

इस वाक्य का मुख्यार्थ है 'कौओ से दही की रक्षा करने को कहा जाना।' इस अर्थ में कुछ असम्भवता प्रतीत न होने से साधारणतः मुख्यार्थ का बाध प्रतीत नहीं होता है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध इसलिये है कि इस वाक्य के वक्ता का तात्पर्य केवल कौओं से ही दही की रक्षा करने

---

१ एते कुन्ताः प्रविशन्ति।

२ भालेवालों के साथ भाले हैं, यह संयोग-सम्बन्ध है।

३ भाले धार्य हैं और भालेवाले धारक, यह धार्य-धारक सम्बन्ध है।

को कहने का नहीं है—कौआ-शब्द तो उपलक्षण[1] मात्र है। वास्तव में कौओं के सिवा जितने और बिल्ली, कुत्ते आदि दही के भक्षक हैं, उन सभी से रक्षा करने के लिये कहने का है। यह बात मुख्यार्थ द्वारा नहीं जानी जाती, इसलिये यहाँ वक्ता के तात्पर्य रूप मुख्यार्थ का बाध है। 'मुख्यार्थ के अन्वय का बाध' और 'वक्ता के तात्पर्य का बाध', दोनो ही को मुख्यार्थ का बाध पहले बतलाया गया है। यहाँ 'कौआ' शब्द अपना मुख्यार्थ न छोडता हुआ अन्य दधि-भक्षकों का आक्षेप कराता है, ऐसे प्रयोगो में भी उपादान लक्षणा होती है।

लक्षण-लक्षणा

जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।

उपादान लक्षणा 'अजहत्-स्वार्था' है उसमे—मुख्यार्थ अपना अर्थ नहीं छोडता। लक्षण-लक्षणा 'जहत् स्वार्था[2] है। क्योकि, इसमें मुख्यार्थ अपना अर्थ छोड देता है। 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' में यही लक्षणा होती है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' है। इसका मुख्यार्थ (प्रवाह) सर्वथा छोड दिया गया है।

पद्यात्मक उदाहरण—

"कच समेट करि भुज उलटि खए सीस पर डारि;
का को मन बाँधै न यह जूरो बाँधनि हारि" ॥१॥

---

१ एक पद के कहने से उसी अर्थवाले अन्य पदार्थों का कथन जिसके द्वारा किया जाय, उसे 'उपलक्षण' कहते हैं—'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम् उपलक्षणम्'।

२ जहत् = छोड़ दिया है। स्वार्था = अपना अर्थ जिसने।

यह जूरा (केश-पाश) बाँधते समय की किसी युवती की चेष्टा का वर्णन है। 'मन बाँधै' पद में 'बाँधै'-शब्द का मुख्यार्थ 'बाँधना' है। मन कोई स्थूल वस्तु नहीं है, जिसको बाँधा जा सकता हो। अतः मुख्यार्थ का वाध है। इस मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'मन को आसक्त करना' यह लक्ष्यार्थ लिया जाता है। अतः लक्षण-लक्षणा है। युवती का अनुपम सौन्दर्य सूचन करना यहाँ प्रयोजन है।

एक और उदाहरण—

" .... । कीन्ह कैकेयी सब कर काजू ।
एहि ते मोर कहा अब नीका । तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥"१०॥

राज्यारोहण के लिये आग्रह करनेवाले अयोध्यानिवासियों के प्रति भरतजी की यह उक्ति है। इसका मुख्यार्थ यह है कि 'आप लोग मुझे राजतिलक देने को कहते हैं इससे अधिक मेरी क्या भलाई हो सकती है'। राज्य के अनिच्छुक भरतजी द्वारा ऐसा कहना नहीं वन सकता अतः मुख्यार्थ का वाध है। यहाँ भलाई का लक्ष्यार्थ बुराई है। यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का विपरीत सम्बन्ध है। बुराई की अधिकता सूचन करना प्रयोजन है। ऐसे उदाहरणों में भी लक्षण-लक्षणा होती है। लक्ष्यार्थ विपरीत होने से इसे विपरीत लक्षणा भी कहते हैं। और भी—

लखहु सरोवर रुचिर यह, जल पूरन लहराय ।
लोटत पोढ़त नर जहाँ, न्हाय रहे हरखाय ॥११॥

यहाँ सरोवर को जल से भरा हुआ कहने मे मुख्यार्थ का वाध है। जल भरे हुये तालाव में लोग लोट कर नहीं नहा सकते। अतः 'जल से भरे' का अर्थ 'थोड़े जल वाला' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

सारोपा लक्षणा

जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय, दोनो का शब्द द्वारा कथन किया जाय, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

पृथक् पृथक् शब्दो द्वारा कही हुई दो वस्तुओं में एक वस्तु के स्वरूप की दूसरी वस्तु मे तादात्म्य प्रतीति (अभेद ज्ञान) को आरोप कहते हैं। जिस वस्तु का आरोप किया जाय, उसे 'आरोप्यमाण' या 'विषयी', और जिस वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय, उसे 'आरोप का विषय' या 'विषय' कहते हैं। 'सारोपा' लक्षणा मे विषयी और विषय दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और विषयी के साथ विषय की तादात्म्य प्रतीति होती है, अर्थात् उन दोनो में अभेद ज्ञान रहता है।

सारोपा गौणी लक्षणा।

जैसे—'वाहीक बैल है'[1]।

वाहीक कहते हैं असभ्य (गँवार) को। यहाँ गँवार मे बैल का आरोप है। 'वाहीक' आरोप का विषय है। 'बैल' आरोप्यमाण है। दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। अतः सारोपा है। गँवार को बैल कहने मे मुख्यार्थ का बाध है। बैल में जड़ता, मन्दता आदि धर्म है। गँवार में भी जडता और मन्दता होती है। अतः इस सादृश्य सम्बन्ध से 'वाहीक बैल के समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। अतः गौणी है। वाहीक (गँवार) में मूर्खता का आधिक्य सूचन किया जाना

---

१ गौर्वाहीकः।

प्रयोजन है। पूर्वोक्त 'मुखचन्द्र' उदाहरण में भी यही सारोपा गौणी लक्षणा है। 'रूपक' अलङ्कार के अन्तर्गत यही लक्षणा रहती है[1]।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा।

जैसे—**'वे भाले आ रहे हैं।'**

इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'भाले' आरोप्यमाण हैं, और भालेवाले पुरुष आरोप के विषय हैं। इन दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। क्योंकि 'वे' इस सर्वनाम से भाले धारण करनेवाले पुरुषों का भी शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। लक्ष्यार्थ जो भालेवाले पुरुष हैं, उनके साथ मुख्यार्थ जो 'भाले' हैं, वह भी लगा हुआ है, अतः उपादान लक्षणा है। यहाँ धार्य-धारक सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा।

जैसे—**'घृत जीवन है'**[2]।

इसमें घृत को जीवन कहा गया है। अतः घृत आरोप का विषय है और जीवन आरोप्यमाण है। घृत को जीवन कहने में मुख्यार्थ का बाध है। घृत आयु बढ़ानेवाला है—जीवन का कारण है, यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। घृत जीवन का कारण है, और 'जीवन' कार्य है, अतः कार्य-कारण सम्बन्ध होने से शुद्धा है। घृत ने अपना मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। यहाँ अन्य पदार्थों से घृत को अत्यधिक आयु-वर्द्धक सूचन करना प्रयोजन है। जीवन के साथ घृत की तादात्म्य प्रतीति अर्थात् अभेद बतलाया गया है, और घृत तथा जीवन दोनो का स्पष्ट शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है।

---

१ रूपक अलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिये इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग 'अलङ्कारमञ्जरी' देखिये।

२ आयुर्घृतम्।

पद्यात्मक उदाहरण—

"कोऊ कोरिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा विपद-विदारन-हार ॥१२॥"

यहाँ यदुपति मे सम्पत्ति का आरोप है—यदुपति को ही सम्पत्ति कहा गया है। इन दोनो का शब्द द्वारा कथन होने से सारोपा है। सम्पत्ति के मुख्यार्थ 'द्रव्य' आदि का त्याग है। सम्पत्ति का लक्ष्यार्थ पालक, सुखद आदि ग्रहण किया जाता है। अतः लक्षण-लक्षणा है। तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मे प्रेम सूचन करना ही प्रयोजन है। अतः प्रयोजनवती है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश (कथन) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा।

जैसे, किसी गँवार को देखकर कहा जाय कि **'यह बैल है'**। इसकी स्पष्टता **'वाहीक बैल है'** इस उदाहरण मे की जा चुकी है। वहाँ आरोप का विषय जो वाहीक (गँवार) है उसका और आरोप्यमाण बैल दोनो का शब्द द्वारा कथन है। यहाँ आरोप के विषय 'वाहीक' का कथन नहीं, केवल आरोप्यमाण 'बैल' का ही कथन है। अतः साध्यवसाना है। बस सारोपा और साध्यवसाना में यही अन्तर है। इसके सिवा वहाँ बैलपन और गँवारपन आदि परस्पर में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर भी अत्यन्त सादृश्य के प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् अभेद की प्रतीति कराना-मात्र प्रयोजन है, किन्तु यहाँ—साध्यवसाना के **'यह बैल है'** इस

उदाहरण में—'वाहीक' पद, जो विशेष्य-वाचक है, नहीं कहा गया है, अतएव लक्ष्यार्थ के समझने के प्रथम ही मुख्यार्थ के ज्ञानमात्र से ही बैलपन और गँवारपन, जो परस्पर में इनके भेद बतलानेवाले धर्म हैं उनकी प्रतीति के बिना ही सर्वथा अभेद कथित हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गँवार को बैल के समान जड़ और मन्द तो दोनो ही में सूचन किया गया है, तथापि सारोपा मे भेद की प्रतीति होते हुए अर्थात् गँवार और बैल दो पृथक् पृथक् वस्तु समझते हुए, एकता का—तद्रूपता का—ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है, और साध्यवसाना में दोनो की पृथक् पृथक् प्रतीति कराए बिना ही सर्वथा अभेद अर्थात् 'यह बैल ही है' ऐसा ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है। इन दोनो लक्षणाओं मे यही उल्लेखनीय भेद है।

पद्यात्मक उदाहरण—

> **लावण्य-पूरित नवीन नदी सुहाती,**
> **देखो वहाँ द्विरद-कुम्भ-तटी दिखाती,**
> **उन्निद्र चन्द्र अरविन्द प्रफुल्लशाली—**
> **है काञ्चनीय कदली-युग-दण्ड वाली ॥१३॥**

किसी सुन्दरी को लक्ष्य करके किसी युवक की यह उक्ति है। सुन्दरी में लावण्य की नदी का और उसके अङ्गों में—उरोज, मुख, नेत्र, और जङ्घाओं मे—तट, पूर्णचन्द्र, प्रफुल्लित कमल और सुवर्ण के केले के स्तम्भों का आरोप है। यहाँ आरोप के विषय सुन्दरी और उसके अङ्गों का कथन नहीं किया गया है, केवल आरोप्यमाण नदी और 'तट' आदि का कथन है। अतः साध्यवसाना है। सुन्दरी के अङ्गों के साथ गज-कुम्भ आदि का सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। यहाँ अत्यन्त सौन्दर्य सूचन करना

प्रयोजन है। 'रूपकातिशयोक्ति'[1] अलङ्कार के अन्तर्गत यही लक्षणा रहती है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा।

'कुन्त (भाले) आ रहे हैं'।

पूर्वोक्त 'वे कुन्त आ रहे हैं' उसमें और इसमें भेद यही है कि वहाँ 'वे' सर्वनाम के प्रयोग द्वारा आरोप के विषय भालेवाले पुरुषों का भी कथन किया गया है, अतः सारोपा है; किन्तु यहाँ केवल 'कुन्त आ रहे हैं' कहा गया है, अतः केवल आरोप्यमाण 'कुन्त' का ही कथन है, न कि आरोप के विषय का, अतः साध्यवसाना है।

दूसरा उदाहरण—

'वंसी गावत है वहाँ'।

यहाँ श्रीकृष्ण में वंसी का आरोप है। आरोप का विषय जो श्रीकृष्ण हैं, उनका कथन नहीं है। आरोप्यमाण वंसी मात्र का कथन है। श्रीकृष्ण और वंसी में अभेद कथन है, अतः साध्यवसाना है। वंसी जड है, वह गान नहीं कर सकती। अतः मुख्यार्थ वंसी का बाध है। यहाँ इसका लक्ष्यार्थ 'वंसीवाला' ग्रहण किया जाता है। इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ वंसी भी लगा हुआ है, अतः उपादान है। धार्य-धारक सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण-लक्षणा।

घृत को दिखलाकर कहा जाय **'यही जीवन है।'**

पूर्वोक्त **'घृत जीवन है'** उसमें और इसमें एक भेद तो यह है कि वहाँ घृत और जीवन—आरोप के विषय और आरोप्यमाण—दोनों का

---

१ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिये इस ग्रन्थ का दूसरा भाग अलङ्कारमञ्जरी देखिये।

कथन किया जाने से सारोपा है, और यहाँ आरोप के विषय घृत का कथन न किया जाकर केवल आरोप्यमाण 'जीवन' का ही कथन है, अतः साध्यवसाना है। इसके सिवा दूसरा भेद प्रयोजन मे है। सारोपा मे 'घृत जीवन है' इसका प्रयोजन आयु-वर्द्धक अन्य पदार्थों से केवल घृत को अत्यधिक आयु-वर्द्धक सूचन करना है। साध्यवसाना मे 'यही जीवन है' इस मे घृत को अव्यभिचार तथा अव्यर्थ आयु-वर्द्धक सूचन किया गया है। इन दोनो (सारोपा और साध्यवसाना के) उदाहरणों मे कार्य-कारण सम्बन्ध समान है। पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' मे भी साध्यवसाना लक्षणा ही है, क्योंकि 'तट' में गङ्गा के प्रवाह का आरोप है, और आरोप के विषय 'तट' का कथन नहीं है।

प्रयोजनवती लक्षणा के छओं भेदों के लक्षण और उदाहरण जो ऊपर लिखे गए है उनमें जिसे प्रयोजन कहा जाता है, वह व्यंग्यार्थ होता है। वह न तो वाच्यार्थ है, और न लक्ष्यार्थ। यह लक्षणा-मूला व्यञ्जना के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है—गूढ़ और अगूढ़। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के उपर्युक्त छओं भेदो मे से प्रत्येक भेद में लक्षणा गूढ-व्यंग्या और अगूढ़-व्यंग्या होती है।

गूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है अर्थात् जिसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, वहाँ गूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

मुख में विकस्यो मुसकान वसीकृत वंकता चारु विलोकन है।
गति मॅ उछलै वहु विभ्रम त्यों मति मे मरजादहु लोपन है।
मुकुलीकृत हैं स्तन, उद्धर त्यों जघनस्थल चित्त प्रलोभन है;
इहिँ चंदमुखी तन में ह्वै उदै हुलसाय रह्यो नव जोबन है ॥१४॥

किसी तरुणी को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है। इसका मुख्य अर्थ यह है कि—(१) इस चन्द्रमुखी के अङ्गो मे यौवन का उदय मुदित हो रहा है। (२) इसके मुख में मुसकान—स्मित विकसित—है। (३) वक्रता को वश करने वाला कटाक्षपात है। (४) गति में विभ्रमों की उछाल है। (५) बुद्धि मे परिमित विषयता का त्याग है। (६) कुच अधखिली कली हैं। (७) जघनस्थल उद्धर है। इनमे लक्षणा और व्यंग्य क्रमशः इस प्रकार है—

(१) यौवन कोई चेतन वस्तु नहीं है। यह मुदित नहीं हो सकता है अतः मुख्यार्थ का वाध है। इसका लक्ष्यार्थ है यौवन अवस्था-जनित उत्कर्ष। अर्थात्, अत्यन्त सौन्दर्य। और नायिका मे अभिलाषा होना व्यंग्य है।

(२) 'विकस्यो' का मुख्यार्थ है प्रफुल्लित होना। प्रफुल्लित होना, पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान का। अतः मुख को विकसित कहने मे मुख्यार्थ का वाध है। 'विकसित' का लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' ग्रहण किया जाता है। मुख्यार्थ 'विकसित' के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का असङ्कोच रूप सादृश्य सम्बन्ध है। क्योंकि विकास और आधिक्य दोनो में असङ्कोच रहता है। मुख को पुष्पो के समान सुगन्धित सूचन करना व्यग्य है। इसमे सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी, 'मुख' एवं 'विकसित' दोनो का कथन होने से सारोपा, और 'विकसित' ने अपना मुख्यार्थ छोड दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है।

(३) 'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है किसी को अपने वश मे कर लेना। कटाक्षो द्वारा बॉकेपन को वश मे करना असम्भव है, अतः मुख्यार्थ का वाध है। 'वशीकृत' का लक्ष्यार्थ स्वाधीन करना ग्रहण किया जाता है। अपने अभिलषित विषय मे प्रवृत्ति रूप सम्बन्ध है। अपने प्रेमी मे अनुराग सूचन करना प्रयोजन है।

(४) 'विभ्रम' अर्थात् हाव उछलने वाली वस्तु नहीं है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ उछलने का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' ग्रहण किया जाता है। प्रेर्य-प्रेरक भाव सम्बन्ध है। 'मनोहारी' सूचन करना व्यंग्य है।

(५) मति में मर्यादा का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ इसका लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। अनुराग का आधिक्य व्यंग्य है।

(६) 'मुकुलीकृत' का मुख्यार्थ अधखिली कली है। स्तनों को अधखिली कली कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि कली फूलों की होती है, न कि मनुष्य के अङ्गों की। इसका लक्ष्यार्थ 'काठिन्य' है। अवयवों की सघनता रूप सादृश्य सम्बन्ध है। मनोहरता सूचन करना व्यंग्य है।

(७) जघनस्थल को 'उद्धर' कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि यह चेतन का धर्म है। उद्धर का लक्ष्यार्थ है—विलक्षण रति योग्य होना। भार को सहन करने रूप सादृश्य सम्बन्ध है। रमणीयता सूचन करना व्यंग्य है।

इनमें जहाँ जहाँ सादृश्य सम्बन्ध है वहाँ गौणी और जहाँ जहाँ अन्य सम्बन्ध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इनमें जो व्यंग्य हैं वे सभी गूढ़ हैं, साधारण व्यक्ति द्वारा सहज में नहीं समझे जा सकते—इन्हें काव्य-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं।

अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ ऐसा व्यंग्य हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

> प्रिय परिचय सों मूढ़हू जानहिं चतुर चरित्र।
> जोबन-मद तरुनिन ललित सिखवत हाव विचित्र ॥१२॥

यहाँ 'सिखवत' पद लाक्षणिक है। सिखाने का मुख्यार्थ है उपदेश[1] करना। यह चेतन का कार्य है। यौवन जड़ है। उसके द्वारा उपदेश होना असम्भव है, अतः मुख्यार्थ का बाध है। 'सिखवत' का लक्ष्यार्थ है 'प्रकट करना'। प्रकट करना यह सामान्य वाक्य है, और 'सिखाना' यह विशेष वाक्य है, अतः यहाँ सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। अनायास लालित्य का ज्ञान होना व्यंग्य है। यह व्यंग्य गूढ नहीं—सहज ही मे समझा जा सकता है। अतः अगूढ़ व्यग्या है। सिखवत ने अपना मुख्यार्थ छोड दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अगूढ़ गुणीभूतव्यग्य मे यही लक्षणा होती है।

गूढ़ के समान अगूढ़ व्यग्य भी सभी लक्षणाओं के भेदो में हो सकता है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिये गये हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लक्षणा का मूल लाक्षणिक शब्द है, अतः लक्षणा लाक्षणिक शब्द पर ही अवलम्बित है।

यहाँ तक काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षणा के भेद लिखे गये हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार लक्षणा के भेद

साहित्यदर्पण मे विश्वनाथ ने शुद्धा लक्षणा के समान गौणी के भी उपादान और लक्षण-लक्षणा, ये दो भेद और अधिक लिखे हैं। और इन दोनो को सारोपा और साध्यवसाना मे विभक्त करके गौणी के भी चार भेद माने हैं। गौणी के ये चार और शुद्धा के चार भेद मिलकर आठ भेद हैं। ये आठो गूढ़-व्यंग्य और अगूढ़-व्यग्य भेद से १६, हो जाते हैं। ये सोलह भी पदगत और वाक्यगत भेद से ३२, और ये ३२ भी कहीं धर्मगत और कहीं धर्मिगत भेद से प्रयोजनवती

---

१ उपदेश का अर्थ है न जानी हुई बात को शब्द द्वारा कथन करके समझाना।

लक्षणा के ६४ भेद लिखे हैं, और रूढ़ि लक्षणा के भी साहित्यदर्पण में निम्नलिखित १६ भेद लिखे है—
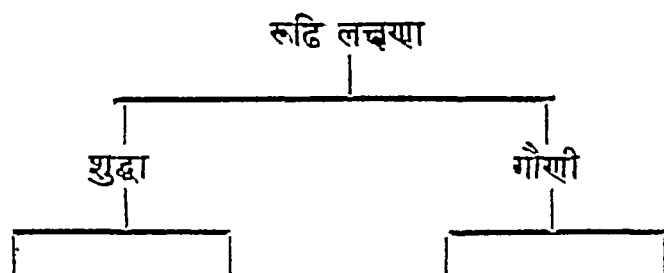
(१) उपादान (२) लक्षणलक्षणा (३) उपादान (४) लक्षणलक्षणा

ये चारो भेद सारोपा और साध्यवसाना दोनो प्रकार के होने पर आठ और ये आठो भी कहीं पदगत और कहीं वाक्यगत होने पर १६ होते हैं। इस प्रकार रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के उपर्युक्त ६४ सब मिलाकर लक्षणा के ८० भेद लिखे हैं। ये सब महत्वपूर्ण न होने के कारण[1] यहाँ केवल पदगत और वाक्यगत एव धर्मगत और धर्मिगत भेदों के उदाहरण ही लिखते हैं—

पदगत और वाक्यगत लक्षणा

जहाँ एक ही पद लाक्षणिक हो वहाँ पदगत लक्षणा समझना चाहिये। जैसे, पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' मे 'गङ्गा' यह एक ही पद लाक्षणिक है। अतः ऐसे उदाहरण पदगत लक्षणा के होते हैं। जहाँ अनेक पदों के समूह से बना हुआ सारा वाक्य लाक्षणिक होता है, वहाँ वाक्यगत लक्षणा होती है। जैसे, पूर्वोक्त 'कीन्ह कैकयी सब कर काजू।' में सारा वाक्य लाक्षणिक है।

---

१ 'काव्यप्रदीप' मे साहित्यदर्पण के इस मत का खण्डन भी किया है। देखिये—काव्यप्रदीप में काव्यप्रकाश के 'शुद्धैव सा द्विधा' २।१० की व्याख्या।

धर्मगत और धर्मिगत लक्षणा

यहाँ 'धर्मि' से लक्ष्यार्थ और 'धर्म' से लक्ष्यार्थ का धर्म समझना चाहिए। अर्थात् लक्षणा का प्रयोजन रूप फल जहाँ लक्ष्यार्थ में हो, वहाँ धर्मिगत लक्षणा और जहाँ लक्ष्यार्थ के धर्म मे प्रयोजन हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है।

चातक मोरन धुनि बढ़ी, रही घटा भुवि छाय।
सहिहौं सब हौ राम, पै वैदेही किमि हाय ॥१६॥

वर्षाकालिक उद्दीपन विभावों को देखकर श्रीजनकनन्दिनी के वियोग में किष्किन्धा-स्थित श्रीरघुनाथजी चिन्ता कर रहे हैं कि मैं तो 'इस वर्षा-कालिक विरह-ताप को सर्व प्रकार सहन कर सकता हूँ। पर ऐसे समय मे वैदेही की क्या दशा होगी?' यहाँ 'हौ राम' के मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि, जब श्रीराम स्वयं वक्ता हैं तब 'हौ राम' कहा जाना व्यर्थ है। इसका 'मैं वनवासादि अनेक दुःख सहन करनेवाला कठोर हृदय राम हूँ', यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। कठोरता के अतिशय रूप प्रयोजन को सूचन करने के लिये 'हौ राम' पद का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ इस लक्ष्यार्थ मे प्रयोजन होने के कारण यह धर्मिगत लक्षणा है।

पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' मे गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ 'तट' है और तट का धर्म पवित्रता आदि है। वहाँ तट के धर्म पवित्रतादि का अतिशय सूचन प्रयोजन है। अतः वहाँ धर्मगत लक्षणा है।

तृतीय स्तवक

व्यञ्जना[1]

अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं।

व्यञ्जक शब्द और व्यंग्यार्थ

जिस शब्द का व्यञ्जना शक्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत होता है उसे 'व्यञ्जक' कहते हैं। व्यञ्जना से प्रतीत होनेवाले अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं।

व्यग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा नहीं करा सकतीं। क्योंकि, शब्द, बुद्धि और क्रिया एक-एक व्यापार करके विरत (शान्त) हो जाने पर फिर व्यापार नहीं कर सकते[2]। अभिप्राय यह कि एक वार उच्चारण किये गये शब्द का एक ही वार अर्थ बोध हो सकता है, अनेक वार

---

१ अप्रकट वस्तु को प्रकट करनेवाले पदार्थ को अञ्जन (नेत्रों में लगाने का सुरमा) कहा जाता है। अञ्जन में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यञ्जन' शब्द बनता है। इसका अर्थ है एक विशेष प्रकार का अञ्जन। साधारण अञ्जन दृष्टि-मालिन्य को नष्ट करके अप्रकट वस्तु को प्रकट करता है। 'व्यञ्जन' अभिधा और लक्षणा से जो अर्थ प्रकट न हो सके उस अप्रकट अर्थ को प्रकट करता है। अतएव इस शब्द-शक्ति का नाम 'व्यञ्जना' है।

२ "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।"

नहीं। बुद्धि (ज्ञान) उदय होकर एक ही बार प्रकाश करती है। अर्थात् 'घट' आकार से परिणत बुद्धि घट का ही ज्ञान करा सकती है, न कि पट का। क्रिया भी उत्पन्न होकर एक ही बार अपना कार्य करती है। जैसे, बाण एक बार छोड़ा जाने से एक ही बार चलेगा, अनेक बार न चल सकेगा। ये तीनो ही शब्द, बुद्धि और क्रिया क्षणिक हैं—उत्पन्न होकर अत्यन्त अल्प समय तक ही ठहरते हैं। इसी न्याय के अनुसार वाच्यार्थ का बोध कराना अभिधा और लक्ष्यार्थ का बोध कराना लक्षणा का व्यापार है। जब यह अपने-अपने व्यापार का अर्थात् अभिधा अपने वाच्यार्थ का और लक्षणा अपने लक्ष्यार्थ का बोध करा देती हैं, तब उनकी शक्ति क्षीण हो जाने से वे विरत हो जाती हैं—हट जाती हैं, उसके बाद किसी अन्य अर्थ का बोध कराने की उनमें सामर्थ्य नहीं रहती है। ऐसी अवस्था में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ की यदि प्रतीति होती है तो वह व्यञ्जना शक्ति ही करा सकती है। जिस प्रकार अभिधा द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध न हो सकने पर लक्ष्यार्थ के लिये लक्षणा शक्ति का स्वीकार किया जाना अनिवार्य है, उसी प्रकार अभिधा और लक्षणा जिस अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं, उस अर्थ के लिये किसी तीसरी शक्ति का स्वीकार किया जाना भी अनिवार्य है, और ऐसे अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को ही व्यञ्जना कहते हैं।

व्यंग्यार्थ को 'ध्वन्यर्थ', 'सूच्यार्थ', 'आक्षेपार्थ' और 'प्रतीयमान' आदि भी कहते हैं। यह वाच्यार्थ की तरह न तो कथित ही होता है, और न लक्ष्यार्थ की तरह लक्षित ही, किन्तु यह व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित, आक्षिप्त और प्रतीत होता है।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार (क्रिया) केवल शब्दो मे ही होता है, किन्तु व्यञ्जना का शब्द और अर्थ दोनो में। अर्थात्, वाचक

और लाक्षणिक तो केवल शब्द होते हैं; अर्थ नहीं। पर व्यञ्जक केवल शब्द ही नहीं, किन्तु वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य जो तीन प्रकार के अर्थ हैं वे भी व्यञ्जक होते हैं।

व्यञ्जना के निम्नलिखित भेद हैं:—
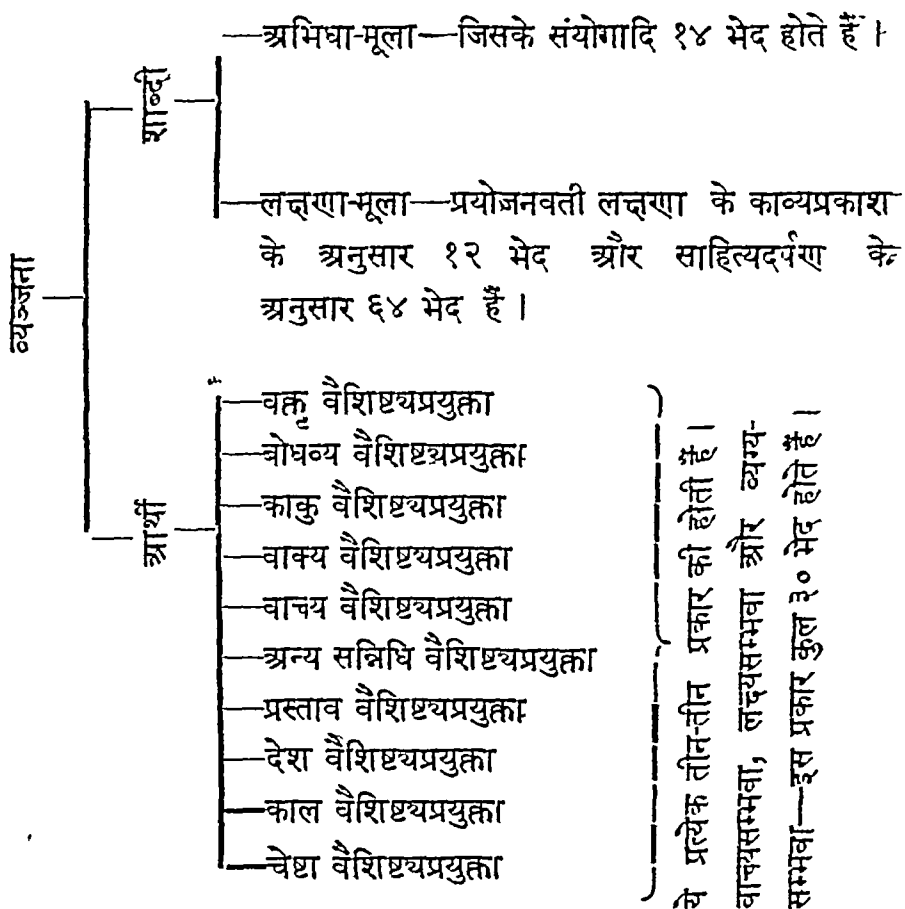
इस तालिका के अनुसार व्यञ्जना के शाब्दी और आर्थी दो भेद होते हैं। इन दोनो भेदो के उपर्युक्त अवान्तर भेदो की स्पष्टता इस प्रकार है:—

अभिधा-मूला शाब्दी व्यञ्जना

अनेकार्थी शब्दों की वाचकता का 'संयोग' आदि से नियन्त्रण हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा-मूला व्यञ्जना कहते हैं।

जिन शब्दों के एक से अधिक—अनेक—अर्थ होते हैं, वे अनेकार्थी शब्द कहे जाते हैं। अनेकार्थी शब्दों की वाचकता को, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध करानेवाली अभिधा की शक्ति को, 'संयोग' आदि (जिनकी स्पष्टता नीचे की जायगी) एक ही विशेष अर्थ में नियन्त्रित कर देते हैं। अतः उस विशेष अर्थ के सिवा अनेकार्थी शब्द के अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। अर्थात्, वे अन्य अर्थ अभिधा द्वारा न हो सकने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते। ऐसी अवस्था में अनेकार्थी शब्द के वाच्यार्थ से भिन्न जिस किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा-मूला व्यञ्जना द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि अभिधा की शक्ति तो 'संयोग' आदि के कारण से एक अर्थ का बोध कराके रुक जाती है, और पूर्वोक्त मुख्यार्थ के बाध आदि तीन कारणों के समूह के विना लक्षणा उपस्थित नहीं हो सकती। अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही इसे उपस्थित होने का अवसर मिलता है। अतः यह व्यञ्जना अभिधा के आश्रित है और इसीलिये यह अभिधा-मूला कही जाती है।

अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ (मुख्यार्थ) का बोध कराके अभिधा की शक्ति को नियन्त्रण करनेवाले 'संयोग' आदि जिन कारणों का ऊपर उल्लेख हुआ है, वे (१) संयोग, (२) वियोग, (३) साहचर्य, (४) विरोध, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्यसन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति और (१४) स्वर आदि हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) संयोग ।

"शंख-चक्र-सहित हरि ।"

हरि-शब्द के इन्द्र, विष्णु, सिंह, वानर, सूर्य और चन्द्रमा आदि अनेक अर्थ हैं। शंख-चक्र का सम्बन्ध केवल भगवान् श्रीविष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः यहाँ 'शख-चक्र' के सयोग ने—'शख-चक्र-सहित' कहने से—'हरि' शब्द को केवल 'विष्णु' के अर्थ में ही नियन्त्रित कर दिया है। यहाँ हरि शब्द के इन्द्र आदि अन्य अर्थ वोध कराने मे अभिधा शक्ति 'शख-चक्र-सहित' कथन से रुक गई है। इसी प्रकार—

पुष्कर सोहत चंद सो वन पलास के फूल ।

पुष्कर और वन अनेकार्थी शब्द हैं—पुष्कर का अर्थ आकाश है और तालाब भी। वन का अर्थ जङ्गल है और जल भी। यहाँ चन्द्रमा के सयोग ने 'पुष्कर' को आकाश के अर्थ मे और पलास के फूल के सयोग ने 'वन' को जङ्गल के अर्थ मे ही नियन्त्रित कर दिया है। अतः यहाँ इनका क्रमशः आकाश और जङ्गल ही अर्थ हो सकता है, अभिधा द्वारा दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

(२) वियोग।

"शंख-चक्र-रहित हरि ।"

इसमे शंख-चक्र के वियोग ने 'हरि' शब्द को श्रीविष्णु के अर्थ में नियन्त्रित कर दिया है। 'हरि' शब्द का यहाँ विष्णु के सिवा दूसरा अर्थ वोध होने मे शख-चक्र के वियोग ने रुकावट कर दी है। इसी प्रकार—

सोहत नाग न मद बिना, तान बिना नहिँ राग ।

'नाग' और 'राग' अनेकार्थी शब्द हैं। नाग का अर्थ हाथी है और सर्प भी। राग का अर्थ अनुराग, रङ्ग और गाने की रागिनी भी। यहाँ मद

के वियोग ने 'नाग' का अर्थ केवल हाथी और तान के वियोग ने 'राग' का अर्थ केवल गाने की रागिनी बोध कराकर अन्य अर्थों में रुकावट कर दी है।

(३) साहचर्य[1]।

"राम लक्ष्मण।"

राम और लक्ष्मण दोनो अनेकार्थी हैं। 'राम' का अर्थ दाशरथी श्रीराम, परशुराम और बलराम आदि हैं। लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-पुत्र लक्ष्मण, सारस पक्षी और दुर्योधन का पुत्र, आदि हैं। यहाँ लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से—साथ होने से—'राम' शब्द का श्रीदाशरथी राम और राम शब्द के साहचर्य से 'लक्ष्मण' का अर्थ दशरथ-कुमार लक्ष्मण ही बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में साहचर्य के कारण रुकावट हो गई है। इसी प्रकार—

विजय तहाँ, वैभव तहाँ, हरि-अर्जुन जिहिँ ओर।

हरि और अर्जुन दोनो शब्द अनेकार्थी हैं। इनके परस्पर के साहचर्य से हरि का श्रीकृष्ण और अर्जुन का पाण्डुनन्दन अर्जुन ही अर्थ हो सकता है।

(४) विरोध।

"राम-रावण।"

---

१ 'संयोग' और साहचर्य में यह भेद है कि जहाँ 'प्रसिद्ध सामान्य-सम्बन्ध' शब्द द्वारा कथन हो वहाँ 'संयोग' होता है। जैसे, गाण्डीव-सहित अर्जुन (सगाण्डीवोऽर्जुनः)। इसमें 'सहित' शब्द द्वारा प्रसिद्ध सम्बन्ध कहा गया है। जहाँ केवल सम्बन्धियों का कथन मात्र होता है वहाँ साहचर्य होता है। जैसे, गाण्डीव अर्जुन (गाण्डीवार्जुनौ) इसमें 'सहित' आदि शब्द के बिना सम्बन्धी-मात्र का कथन है।

राम शब्द अनेकार्थी है। वह विरोधी 'रावण' शब्द के समीप होने के कारण 'राम' का दशरथ-नन्दन राम ही अर्थ हो सकता है। यहाँ विरोध ही प्रधान है, न कि साहचर्य।

(५) अर्थ।

भव-खेद-छेदन के लिये क्यों स्थाणु को भजते नहीं।

'स्थाणु' का अर्थ श्रीमहादेवजी और बिना शाखा-पत्र-वाले वृक्ष का ठूँठ है। यहाँ ससार-ताप-नाश करने रूप अर्थ के वल से स्थाणु का अर्थ श्रीमहादेव ही हो सकता है। इसमें चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

(६) प्रकरण।

"सैंधव ले आओ।"

'सैंधव' का अर्थ सैंधा नमक और सिन्धु देश मे उत्पन्न घोडा है। यह वाक्य भोजन के प्रकरण मे कहा जायगा तो इसका अर्थ सैधा नमक ही होगा। बाहर जाने के समय कहा जायगा तो घोडा अर्थ होगा। प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके दूसरे अर्थ के बोध कराने में अभिधा रुक जायगी।

(७) लिङ्ग।

लिङ्ग का अर्थ यहाँ लक्षण या विशेषता-सूचक चिह्न है।

कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही।

'मकरध्वज' का अर्थ समुद्र और कामदेव है। यहाँ कोप के चिह्न (लिङ्ग) से मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही बोध होता है, क्योंकि समुद्र में कोप का होना वस्तुतः सम्भव नहीं है[1]।

---

१ इसमें और पूर्वोक्त 'संयोग' में यह भेद है कि 'संयोग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में प्रसिद्ध न होते हुए किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध होनेवाला 'सम्बन्ध' होता है। और 'लिङ्ग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में सर्वथा न रहनेवाला चिह्न होता है।

(८) अन्य सन्निधि।

'कर सों सोहत नाग।'

'नाग' और 'कर' अनेकार्थी हैं। कर शब्द की समीपता से 'नाग' का अर्थ हाथी और नाग की समीपता से 'कर' का अर्थ हाथी की सूँड ही बोध होता है।

(९) सामर्थ्य।

मधुमत्त कोकिल।

'मधु' शब्द के मदिरा, मकरन्द, एक दैत्य, वसन्त-ऋतु आदि अनेक अर्थ हैं। कोकिल को मतवाली बनाने की सामर्थ्य वसन्त-ऋतु मे ही है, इसलिये 'मधु' का अर्थ यहाँ वसन्त ही हो सकता है।

(१०) औचित्य।

"रे मन, सबसों निरस रहु, सरस राम सों होहि।
इहै सिखावन देत है तुलसी निसि-दिन तोहि।"१७॥

'निरस' का अर्थ न्यून और रस-हीन है। 'सरस' का अर्थ अधिक और रस-युक्त है। यहाँ जगत् से न्यून और राम से अधिक यह अर्थ अनुचित है, इसलिये 'राम के विषय मे सरस और जगत् से रस-हीन रहना' औचित्य से बोध होता है। क्योंकि यही अर्थ उचित है।

(११) देश।

'ज्यों विहरत घनस्याम नभ, त्यों विहरत व्रज राम।'

'घनस्याम' का अर्थ श्याम मेघ और श्रीकृष्ण है। 'राम' शब्द भी अनेकार्थी है। 'नभ' और 'व्रज' शब्द देश-वाचक की समीपता से यहाँ घनस्याम का अर्थ मेघ और राम का अर्थ श्रीबलराम ही हो सकता है।

(१२) काल।

चित्रभानु निसि में लसत।

'चित्रभानु' का अर्थ सूर्य और अग्नि है। किन्तु रात्रि में अग्नि का ही प्रकाश होता है, न कि सूर्य का। अतः काल-वाचक 'निसि' शब्द ने यहाँ चित्रभानु को अग्नि के अर्थ में ही नियन्त्रित कर दिया है।

(१३) व्यक्ति।

"काहे को सोचति सखी! काहे होत बिहाल;
बुधि-छल-बल करि राखिहौं पति तेरी नव-बाल।"१८॥

'पति' शब्द अनेकार्थी है। ये परकीया नायिका से दूती के वाक्य हैं—'तेरी पति मैं रख लूँगी'। 'तेरी' स्त्रीलिङ्ग होने से पति का अर्थ यहाँ लज्जा ही हो सकता है, न कि स्वामी। यहाँ 'व्यक्ति' से स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग का तात्पर्य है।

(१४) स्वर।

आचार्यों का मत है कि स्वर का प्रायः वेदो मे ही प्रयोग होता है। पर बातचीत मे भी स्वर की विलक्षणता से वाक्य का एक विशेष अर्थ निर्णय किया जा सकता है।

ऊपर दिये हुये उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि इन 'संयोग' आदि कारणो से अनेकार्थी शब्दो का एक वाच्य अर्थ ही अभिधा द्वारा बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने मे अभिधा की शक्ति इन (सयोग आदि) के द्वारा नियन्त्रित हो जाने के कारण अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे अन्य अर्थों के अवाच्य हो जाने पर जब किसी अनेकार्थी शब्द मे किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तो अभिधा-मूला व्यञ्जना द्वारा ही हो सकती है। अभिधा-मूला व्यञ्जना का उदाहरण—

भद्रात्म है अति विशाल सु-वंश उच्च,
है पास में बहु शिलीमुख भी स-पक्ष;
जो है सदैव परवारण शोभनीय,
दानाम्बु - सेचनमयी कर है तदीय।१६॥

इसमें कवि द्वारा किसी राजा की प्रशंसा की गई है। वह राजा भद्रात्म (शुद्ध अन्तःकरणवाला) है, विशाल वंश में (उच्च कुल में) उत्पन्न है, जिसके समीप स-पक्ष शिलीमुख (पंखदार बाणों) का समूह है, जो परवारण (शत्रुओं को निवारण) करनेवाला है, और जिसका कर (हाथ) सदा ही दान देने के लिये हुए जल से शोभित रहता है। यह वाच्यार्थ है, क्योंकि कवि द्वारा राजा की प्रशंसा किये जाने का प्रकरण है। इस प्राकरणिक वाच्यार्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति पूर्वोक्त 'प्रकरण' के द्वारा रुक जाती है। प्रकरणगत राजा की प्रशसा के सिवा दूसरा अर्थ अभिधा द्वारा बोध नहीं हो सकता। इस पद्य मे 'भद्रात्म' आदि बहुत से ऐसे शब्दो का प्रयोग है जो अनेकार्थी हैं। अतः इस वर्णन में एक दूसरा अर्थ—हाथी के वर्णन का—प्रतीत होता है। जैसे—परवारण=श्रेष्ठ हाथी, भद्रात्म=भद्र जाति का, विशालवश=बड़े बाँस के समान ऊँचा अथवा जिसकी पीठ का बाँस ऊँचा है, और जिसके पास शिलीमुख=भौंरों के समूह रहते हैं, क्योकि उसकी दानाम्बु-सेचनमयी कर है=सूंड मद के चूने से सदैव शोभित रहती है। यह दूसरा अर्थ वाच्यार्थ नहीं है, क्योकि वाच्यार्थ तो उसे ही कहा जायगा, जो अभिधा शक्ति द्वारा बोध होता है। यहाँ अभिधा की शक्ति तो प्रकरण के कारण राजा के वर्णन का एक अर्थ बोध कराकर रुक जाती है—प्रकरण ने अभिधा की शक्ति को दूसरा अर्थ बोध कराने से रोक दिया है। यह न लक्ष्यार्थ ही है, क्योकि लक्ष्यार्थ तो वहीं ग्रहण किया जाता है जहाँ वाच्यार्थ का बाध होता है। यहाँ राजा के वर्णन का अर्थ, जो वाच्यार्थ है, उसका बाध नहीं है। अतः हाथी के वर्णनवाला जो अर्थ है वह न तो वाच्यार्थ है और न लक्ष्यार्थ ही। इन दोनो से भिन्न व्यंग्यार्थ है, जो अभिधा-मूला व्यञ्जना का व्यापार है। क्योंकि इस व्यंग्यार्थ को यहाँ अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही उपस्थिति होने का अवसर मिला है। यह व्यञ्जना शाब्दी इसलिये कही जाती है कि वह शब्द के आश्रित है। क्योंकि, 'भद्रात्म' के स्थान पर 'कल्याणात्मक'

और 'शिलीमुख' आदि के स्थान पर 'बाण' आदि पर्याय शब्द बदल देने पर हाथी के वर्णनवाले व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है।

इस प्रसङ्ग मे एक महत्त्व-पूर्ण बात यह भी उल्लेखनीय है कि अनेकार्थी शब्दो के प्रयोग मे 'श्लेष[1]' अलङ्कार भी होता है। पर श्लेष में अनेकार्थी शब्दो के जो एक से अधिक अर्थ होते हैं, वे सभी वाच्यार्थ ही होते हैं, क्योंकि वे सब अर्थ प्रकरणगत होते हैं। अर्थात्, जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का वाच्यार्थ अभिधा द्वारा बोध हो जाने पर—अभिधा की शक्ति के रुक जाने पर—अभिधा-मूला व्यञ्जना का व्यंग्यार्थ होता है। उस प्रकार श्लेष में अभिधा की शक्ति रुक जाने पर दूसरा अर्थ नहीं होता। वहाँ सभी अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ही एक साथ बोध होते हैं। श्लिष्ट-रूपक[1] अलङ्कार मे भी अनेकार्थी शब्दो के एक से अधिक अर्थ होते हैं। वहाँ विशेष्य-वाचक पद अनेकार्थी नहीं होता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। व्यञ्जना मे विशेष्य-वाचक और विशेषण-वाचक सभी शब्द अनेकार्थी होते हैं। इनमे यही भेद है।

लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना

जिस प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की प्रतीति करानेवाली शक्ति को लक्षणा-मूला व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणा प्रकरण मे पहिले कह आये हैं कि प्रयोजनवती लक्षणा मे जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ है। उस व्यंग्यार्थ का ज्ञान

---

१ इस अलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिये इस ग्रन्थ का दूसरा भाग अलङ्कारमञ्जरी देखिये।

करानेवाली लक्षणा-मूला व्यञ्जना ही है, अभिधा और लक्षणा नहीं। जैसे 'गङ्गा पर गाँव' इस लक्षणा के उदाहरण में लाक्षणिक शब्द 'गङ्गा' का प्रयोग तट में पवित्रता आदि धर्म सूचित करने के प्रयोजन से किया गया है। इस प्रयोजन का अर्थात् तट मे पवित्रतादि धर्मों का सूचन न तो अभिधा ही करा सकती है (क्योंकि अभिधा तो गङ्गा शब्द का सकेतित वाच्यार्थ जो प्रवाह-धारा है उसी का बोध करा सकती है) और न लक्षणा ही (क्योंकि जहाँ मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध और प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं, वहीं लक्षणा हो सकती है)। 'तट' गङ्गा शब्द का लक्ष्यार्थ है, न कि मुख्यार्थ। लक्ष्यार्थ 'तट' का बाध नहीं है, क्योंकि तट पर गाँव का होना सम्भव है। 'तट' का पवित्रादि धर्मों से सम्बन्ध नहीं है, क्योकि पवित्रतादि धर्म गङ्गा के प्रवाह के हैं न कि तट के। न पवित्रतादि धर्मों का (जो स्वयं प्रयोजन हैं) बोध होने मे कोई दूसरा प्रयोजन ही है। अर्थात्, पवित्रतादि धर्म 'तट' मे सूचन करने के प्रयोजन के लिये तो लाक्षणिक शब्द 'गङ्गा' का प्रयोग ही किया गया है, फिर प्रयोजन मे दूसरा प्रयोजन क्या हो सकता है ? यदि एक प्रयोजन मे दूसरा, दूसरे मे तीसरा, तीसरे मे चौथा प्रयोजन स्वीकार किया जाय, तो इस प्रयोजन-शृंखला का तो कहीं अन्त ही न हो सकेगा। फलतः अनवस्था[1] के कारण मूलभूत प्रयोजन भी जिसके लिये लक्षणा की जाती है निर्मूल हो जायगा।

निष्कर्ष यह है कि लक्षणा मे जो प्रयोजन अर्थात् व्यंग्यार्थ होता है उसे अभिधा और लक्षणा दोनो ही प्रतीत नहीं करा सकतीं—केवल

---

1 'अनवस्था' झूठे तर्क को कहते हैं, जो अप्रामाणिक, अन्त-रहित प्रवाह-मूलक है—'मूलक्षयकरीं चाहुरनवस्थां च दूषणम्'।

लक्षणा-मूला व्यञ्जना द्वारा ही वह प्रतीत हो सकता है[1]।

उपर्युक्त अभिधा-मूला और लक्षणा-मूला व्यञ्जना शाब्दी इसलिये हैं कि ये शब्द के आश्रित हैं—अभिधा-मूला तो अनेकार्थी शब्दों पर निर्भर है, और लक्षणा-मूला लाक्षणिक शब्दों पर।

आर्थी व्यञ्जना

(१) वक्तृ, (२) बोधव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश, (९) काल और (१०) चेष्टा के वैशिष्ट्य[2] से जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह आर्थी व्यञ्जना कही जाती है।

(१) वक्तृ-वैशिष्ट्य—वाक्य के कहनेवाले को वक्तृ कहते हैं। वक्ता स्वयं कवि होता है या कवि-निबद्ध पात्र अर्थात् कवि द्वारा कल्पित व्यक्ति। वक्ता की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित होता है, उसे वक्तृवैशिष्ट्य कहते हैं।

उदाहरण—

"प्रीतम की यह रीति सखि, मोपै कही न जाय;
झिझकत हू ढिंग ही रहत, पल न वियोग सुहाय।"२०॥

---

१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते;
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।
(काव्यप्रकाश, २ । १४-१५)

२ विशेषता या विलक्षणता।

यहाँ कवि-कल्पित नायिका वक्ता है। उसकी इस उक्ति के वैशिष्ट्य से यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'मै अत्यन्त रूपवती हूँ, मेरा पति मुझ पर अत्यन्त आसक्त है'। यह आर्थी व्यञ्जना इसलिये है कि यहाँ 'झिझकत' के स्थान पर 'अनादर' आदि और 'ढिग' के स्थान पर 'समीप' आदि पर्यायशब्द (उसी अर्थ के बोधक शब्द) बदल देने पर भी उक्त व्यग्यार्थ प्रतीत हो सकता है—शाब्दी व्यञ्जना की तरह शब्दो पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु अर्थ के आश्रित है। आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त सभी भेदों के शब्द-परिवर्तन करने पर व्यग्यार्थ की प्रतीति होती रहती है।

"मनरंजन अजन कै तन में अँगराग रचैं रति रंगन में;
गृह के सिगरे नित काज करैं गुरु लोगन के सतसंगन में।
कहिए कहि कौन सो कौन सुनें सु सहैं बनैं प्रेम प्रसंगन मे;
धनि वे, धनि हैं तिनके लहने, पहिरैं गहने नित अङ्गन में।"२१॥

यहाँ प्रेम-गर्विता रूपवती नायिका वक्ता है। इसमें 'मेरा पति मुझे कहीं भी बाहर नहीं जाने देता' यह जो व्यंग्य है, वह वक्ता की उक्ति-वैशिष्ट्य से सूचित होता है।

(२) बोधव्य-वैशिष्ट्य—श्रोता को बोधव्य कहते हैं। जहाँ वाक्य को सुननेवाले की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचन हो, वहाँ यह भेद माना जाता है।

कुच के तट चंदन छूट्यो सबै, अधरानहु पै न रही अरुनाई;
दृग-कंजन-कोर निरंजन भे तनु अंगन मे पुलकावलि छाई।
नहिँ जानत पीर हितून की तू, अरी! बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई;
इतसों गई न्हाइबे वापी ही तू न गई तिहिँ पापी के पास तहाँई!२२॥

अपने नायक को बुलाने के लिये भेजी हुई, किन्तु वहाँ जाकर उसके साथ रमण करके लौटी हुई, पर अपने को वापी (तालाब) पर

स्नान करके आई हुई, बतलानेवाली दूती से यह अन्यसम्भोगदुःखिता नायिका की उक्ति है। यहाँ दूती बोधव्य (सुननेवाली) है। नायिका के इन वाक्यों से 'तू वापी स्नान करने को कब गई थी ? तुझे तो नायक के पास बुलाने को भेजा था, और तू उसके साथ रमण करके आई है[1]!' यह जो व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वह तभी सूचित हो सकता है, जब तादृश दूती—श्रोता—के प्रति ये वाक्य कहे जायँ। यदि इस प्रकार की दूती के अतिरिक्त किसी दूसरे को कहे जायँ, तो उक्त व्यग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। इसलिये बोधव्य की विशेषता से ही यहाँ व्यग्यार्थ है।

"घाम धरीक निवारिए कलित ललित अलि-पुंज,
जमुना-तीर-तमाल तरु मिलत मालती कुंज।"

नायक के प्रति स्वयदूतिका नायिका की इस उक्ति मे सङ्केत-स्थान का सूचित किया जाना व्यंग्यार्थ है। यहाँ बोधव्य नायक होने से ही यह व्यग्यार्थ प्रतीत हो सकता है।

---

१ इस पद्य मे स्नान के कथन की पुष्टि करने के लिये जो वाक्य नायिका के हैं उनमें रति-चिह्न-सूचक व्यंग्यार्थ है। जैसे, 'कुचों के तट का चन्दन छुट गया' कहने में व्यंग्य यह है कि स्नान करने से केवल ऊपरी भाग का चन्दन ही छुटता है, न कि सन्धि भाग का सन्धि-भाग का चन्दन मर्दनाधिक्य से ही छुट सकता है। अधर (नीचे का होठ) की अरुणता छुट जाने में व्यंग्य यह है कि स्नान से ऊपर के होठ का भी रंग धुले विना नहीं रह सकता (काम-शास्त्र में नीचे के अधर के चुम्बन का ही विधान है) नेत्रों के प्रान्त भाग का अञ्जन भी चुम्बनाधिक्य से ही छुटता है, न कि स्नान-मात्र से। रोमाञ्च का होना स्नान और रति दोनो में समान है।

(३) काकु-वैशिष्ट्य—एक विशेष प्रकार की कण्ठ-ध्वनि से कहे हुए वाक्य को 'काकु' कहते हैं[1]। जहाँ केवल काकु-उक्ति मात्र से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ तो 'काकाक्षिप्त' गुणीभूत व्यंग्यहोता है। जहाँ काकु उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ काकु-वैशिष्ट्य होता है।

उदाहरण—

"किती न गोकुल कुल-बधू ? काहि न किहिँ सिख दीन ?
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ?"२४॥

मुरली की ध्वनि सुनकर विवश हो श्रीनन्दनन्दन के समीप जाने को उद्यत किसी गोपी की अपनी उस सखी के प्रति यह उक्ति है जो उसे वहाँ न जाने की शिक्षा दे रही थी। इसमें तीन काकु उक्ति हैं—(१) 'किती न गोकुल कुल-बधू'—गोकुल में कितनी कुलाङ्गनाएँ नहीं हैं ? इस काकु उक्ति से यह अर्थ खिंचकर आता है कि प्रायः सभी कुल-बधू ही तो हैं। (२) 'काहि न किहिँ सिख दीन'—किसको किसने शिक्षा नहीं दी ? सभी को सब ऐसी शिक्षाएँ देती रहती हैं। (३) 'कौने तजी न कुल-गली'—पर यह बता कि वंशी की मनोहर ध्वनि को सुनकर किसने कुल की मर्यादा नहीं छोड़ी ? सभी ने तो छोड़ दी है। यहाँ इन काकु उक्तियो के आगे जो वाक्य लिखे गए हैं, वे काकु उक्ति मात्र के व्यंग्य अर्थ हैं, उन्हीं में इन काकु उक्तियों के प्रश्नों का उत्तर तत्काल हो जाता है अतः यह काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का विषय है। किन्तु "तू जो अब मुझे उपदेश दे रही है, क्या कभी मुरलीमनोहर की मुरली की चेतोहारी ध्वनि सुनकर और मेरे जैसी दशा को प्राप्त होकर तथा उस अवसर पर तुझे भी ऐसी शिक्षा मिलने पर क्या तू श्रीनन्दकुमार के समीप न पहुँची थी ?

---

१ 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते'।

फिर मुझे यह झूठा उपदेश क्यों सुना रही है! सच है, उपदेश दूसरों को ही देने के लिये हुआ करते हैं।" यह व्यग्यार्थ काकु-वैशिष्ट्य द्वारा ही सूचित होता है, और यही व्यग्यार्थ प्रधान है। यह काकु उक्ति द्वारा आक्षिप्त नहीं होता—काकु उक्ति तो यहाँ केवल सहायक मात्र है[1]।

(४) वाक्य-वैशिष्ट्य—जहाँ सारे वाक्य की विशेषता से व्यग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ यह भेद माना जाता है।

मम कपोल तजि अनत तब दग न कियो कित गौन ?
मैं हूँ वही, कपोल वह, पिय ! अब वह न चितौन !२५॥

अपने प्रच्छन्न-कामुक नायक के प्रति यह नायिका की उक्ति है। 'तब (जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिबिम्ब मेरी कपोलस्थली पर पड़ रहा था) मेरे कपोलों को छोड़कर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कहीं भी नहीं जाती थी, किन्तु अब (जब कि वह आपकी प्रेमिका यहाँ से चली गई है, और उसका प्रतिबिम्ब मेरी कपोलस्थली पर नहीं रहा है) यद्यपि मैं वही हूँ, और मेरे कपोल भी वही हैं, पर आपकी दृष्टि वह नहीं—मेरे कपोल पर नहीं आती।' इस सारे वाक्य की विशेषता से यह व्यग्य सूचित होता है कि 'आपका प्रेम मुझ पर नहीं, उसी युवती पर है, जो अभी यहाँ बैठी हुई थी'। अतः यह वाक्य-वैशिष्ट्य है।

---

१ गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद 'काकाक्षिप्त व्यंग्य' है। उसमें भी काकु उक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ होता है। भेद यह है कि वहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं, किन्तु गौण होता है। काकाक्षिप्त मात्र है—काकु उक्ति के साथ तत्काल ही खिंचकर सूचित हो जाता है। जैसा कि ऊपर की तीनों काकु उक्तियों के आगे लिखे हुए वाक्यों के व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के प्रश्न के साथ ही तत्काल प्रतीत हो जाते हैं।

(५) **वाच्य-वैशिष्ट्य**—जहाँ उत्कृष्ट विशेषणोंवाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होता है वहाँ यह भेद माना जाता है।

वन रंभन थंभन पाँतन सों रु कदंबन सों सरसावनो है;
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-गुंजन सों मनभावनो है।
मलयानिल सीतल मंद बहै, हिय काम-उमंग बढ़ावनो है;
अवलोकु प्रिये ! जमुना-तट कों सहजैं यह कैसो लुभावनो है।२६॥

यहाँ श्रेणी-बद्ध सघन कदली और कदम्ब-वृक्ष, लता-कुञ्जों में भ्रमरों का गुञ्जार और मलय-मारुत आदि कामोद्दीपक विशेषणोंवाले वाक्यार्थ की विशेषता द्वारा रमणोत्सुक नायक की नायिका के प्रति रति-प्रार्थना-रूप व्यंग्यार्थ सूचन होता है।

(६) **अन्य-सन्निधि**—जहाँ वक्ता और सम्बोध्य (जिसको कहा जाय) के अतिरिक्त तीसरे पुरुष की समीपता के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होता है वहाँ यह भेद माना जाता है।

सौंप्यौ सब गृह-काज मुहि अहो निरदई सास !
साँझ समय में छिनक अलि ! मिलत कबहुँ अवकास।२७॥

अपने प्रेम-पात्र को सुनाकर अपने समीप बैठी हुई सखी के प्रति यह परकीया नायिका की उक्ति है। यहाँ वक्ता नायिका है और सम्बोध्य उसकी सखी है, क्योंकि सखी के प्रति ही उसने यह वाक्य कहा है। यहाँ तीसरे व्यक्ति (अपने प्रेम पात्र) को सूचन किये हुए इस वाक्य में नायिका ने सन्ध्या समय में मिलने को व्यंग्यार्थ में सूचन किया है।

(७) **प्रकरण-वैशिष्ट्य**—जहाँ विशेष प्रकरण होने के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होता है वहाँ यह भेद माना जाता है।

सुनियत तव पिय आतु है साँझ समय सखि आज ;
करत न क्यों उपकरन तू, क्यों बैठी बेकाज ? २८॥

यह उप-नायक के समीप अभिसार को जाने के लिये उद्यत नायिका के प्रति उसकी अन्तरङ्ग सखी की उक्ति है। यहाँ अभिसार को रोकना व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्य अभिसार को जाने का प्रकरण होने के कारण ही सूचित हो सकता है।

(८) देश-वैशिष्ट्य—स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

चित्रकूट-गिरि है वही, जहँ सिय-लछमन-साथ—
पास सरित मंदाकिनी वास कियो रघुनाथ ।२१॥

यहाँ श्रीरघुनाथजी के निवास के कारण चित्रकूट के स्थल की विशेषता से उसकी परम पावनता व्यंग्यार्थ मे सूचित होती है।

"बेलिन सो लपटाय रही हैं तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल, केकी, कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनँद भारी।
सोच करौ जिन, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रबीन सबैं नर-नारी;
मंजुल वंजुल कुंजन में घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी।"२०॥

अनुशयाना नायिका के प्रति सखी को इस उक्ति मे जो वंजुल, कुंज आदि का होना कहा गया है, उसके द्वारा नायिका को उसकी ससुरार मे संकेत-स्थान का सूचन किया गया है।

(९) काल-वैशिष्ट्य—समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

गुरु जन परबस पीय ! तुम गमन करत मधुकाल;
हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनि हो सब मो हाल ।२१॥

यहाँ वसन्त-काल के कारण यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'वसन्त का समय घर पर आने का है, न कि विदेश गमन का। आप भले ही जाइए, पर मेरी दशा आप वहीं यह सुनेंगे कि वह जीवित नहीं है।'

(१०) चेष्टा-वैशिष्ट्य—चेष्टा द्वारा व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

"न्हाय पहरि पट उठि कियो बेंदी मिस परनाम ;
दृग चलाय घर को चली, बिदा किए घनस्याम।"३२॥

कोई गोपाङ्गना यमुना-तट पर स्नान कर रही थी। वहाँ श्रीनन्दनन्दन को आए देखकर नेत्रों की चेष्टा से उसने संकेतस्थल पर अपना आना सूचित किया है।

ये सब उदाहरण एक-एक वैशिष्ट्य के हैं। कहीं वक्तृ, बोधव्य आदि अनेक वैशिष्ट्य एक ही पद्य में एकत्रित हो जाते हैं। जैसे—

यह काल रसाल वसंत अहो ! कुसुमायुध बान चलावतु री ;
फिर धीर-समीर सुगंधित ये तरुनीन अधीर बनावतु री।
बन मंजुल-वंजुल-कुंज बनी सजनी ये घनी ललचावतु री ;
नहिँ पास पिया, करिए जु कहा ? अब तू ही तो क्यों न बतावतु री ॥३३॥

अन्तरङ्ग सखी के प्रति यह किसी नायिका की उक्ति है। वसन्त के कथन से काल-वैशिष्ट्य और वजुल-कुंज के कथन से देश-वैशिष्ट्य है। नायिका वक्ता है, अतः वक्तृ-वैशिष्ट्य है। सम्पूर्ण वाक्यार्थ मे सखी को प्रच्छन्न कामुक के बुलाने के लिये कहा जाना वाक्य-वैशिष्ट्य भी है। इसमें वक्तृ आदि वैशिष्ट्य से पृथक्-पृथक् व्यंग्यार्थ सूचित होता है।

कहीं अनेक वैशिष्ट्यों के सयोग से भी एक ही व्यंग्यार्थ सूचित होता है। जैसे—

हौं इत सोवतु, सास उत, लखि किन लै दिन माय ;
अरे पथिक ! निसि-अंध तू गिरियो जिन कहुँ आय ॥३४॥

यह कामुक-पथिक के प्रति स्वयदूतिका नायिका की उक्ति है। 'मैं यहाँ सोती हूँ, और मेरी सास वहाँ। तू दिन में यह स्थान देख ले। तुझे

रतौंध आती है। रात में कहीं हम लोगों के ऊपर आकर न गिर जाना।' इस उक्ति में वक्ता नायिका और बोधव्य पथिक दोनों के वैशिष्ट्य से नायिका द्वारा अपना शयन-स्थल सूचन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार दो से अधिक वैशिष्ट्य के मिलने पर भी व्यञ्जना होती है।

आर्थी व्यञ्जना का व्यंग्यार्थ कवि के इच्छानुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य तीनो अर्थों में हो सकता है। अत. उपर्युक्त वक्तृ आदि वैशिष्ट्यों द्वारा होनेवाली व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—**वाच्यसम्भवा, लक्ष्यसम्भवा और व्यंग्यसम्भवा।**

वाच्यसम्भवा व्यञ्जना।

गृह-उपकरन जु आज कछु तू न बतावति मातु;
कहहु कहा करतव्य अब घौस चल्यो यह जातु।२५॥

उप-नायक से मिलने को उत्सुक तरुणी का अपनी माता के प्रति यह वाक्य है—'अरी मा! गृह-उपकरण—ईंधन, शाक आदि—आज तू घर मे नहीं बतलाती है, क्या कुछ बाजार से लाना है? दिन छिपना चाहता है।' इस वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से 'उस तरुणी की अपने प्रेम-पात्र के समीप जाने की इच्छा' व्यग्यार्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ ही व्यग्यार्थ का व्यञ्जक है।

लक्ष्यसम्भवा व्यञ्जना।

तन स्वेद कढ्यो, अति स्वास बढ्यो छिन-ही-छिन आइबे-जाइबे में;
अरी मो हित तू बहु खिन्न भई, पिय मेरे को एतो मनाइबे में।
कछु दोस न हौं सिर तेरे मढ़ौं, अब का घनी बात बनाइबे में;
सब तेरे ही जोग कियो सखि, तू त्रुटि राखी न नेह निभाइबे में।२६॥

अपने नायक को बुलाने को भेजी हुई, पर उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति अन्यसम्भोग-दुःखिता नायिका की यह उक्ति है।

वाच्यार्थ में दूती के कार्य की प्रशंसा है। पर जिस दूती के अङ्गों में थकावट आदि रति-चिह्न देखकर यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है, उसको नायिका द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कहना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। उक्त वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का लक्ष्यार्थ विपरीत लक्षणा द्वारा यह ग्रहण किया जाता है कि 'तूने उचित कार्य नहीं किया। मेरे प्रियतम के साथ रमण करके तूने मेरे साथ स्नेह नहीं, किन्तु विश्वासघात किया है'। इस लक्ष्यार्थ द्वारा बोधव्य (दूती) के वैशिष्ट्य से उस दूती का अपराध-प्रकाशन-रूप जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह तो लक्षणा का प्रयोजन-रूप व्यग्यार्थ है। इसके सिवा नायिका के इस वाक्य में अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचन-रूप व्यग्यार्थ है, वह इस लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित होता है। अतः लक्ष्यसम्भवा व्यञ्जना है। वह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ लक्ष्यसम्भवा आर्थी-व्यञ्जना होती है वहाँ लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना भी उसके अन्तर्गत लगी रहती है। क्योंकि, जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन-रूप होता है वह लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना का विषय है। दूसरा व्यग्यार्थ जो लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है वह लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना का विषय है। जैसे दूती के विषय में विश्वासघात सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन-रूप है, लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना का विषय है। और अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना का विषय है। इसके द्वारा शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना का विषय विभाजन भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

व्यंग्यसम्भवा व्यञ्जना—

> **लखहु बलाका कमल-दल बैठी अचल सुहाहिं;**
> **मरकत-भाजन माहिं ज्यों संख-सीप विलसाहिं ॥३७॥**

उपनायक के प्रति किसी युवती की यह उक्ति है—'देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठी हुई बलाका बड़ी सुन्दर लगती है, जैसे नीलमणि के पात्र

में स्थित शङ्ख की सीप—शङ्ख के आकार की बनी कटोरी। इस वाच्यार्थ में बलाका (बक पक्षी की मादा) की निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ है। इस निर्भयता-सूचक व्यग्यार्थ द्वारा उस स्थान का एकान्त होना सूचित होने के कारण रति-प्रार्थना-सूचक दूसरा व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। अर्थात्, एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है अतः व्यग्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना है। पहले व्यग्य को प्रतीत करानेवाली वाच्यसम्भवा और दूसरे व्यग्य को प्रतीत करानेवाली व्यंग्यसम्भवा है।

उक्त तीनों ही प्रकार की व्यञ्जनाओं के पूर्वोक्त 'वक्तृ', 'बोधव्य' आदि वैशिष्ट्यों से अनेक भेद होते हैं। उनकी वाच्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, लक्ष्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्यप्रयुक्ता, व्यग्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता इत्यादि संज्ञा होती हैं। यह व्यञ्जना की तालिका में दिखाया जा चुका है।

शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का विषय-विभाजन

शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना के विषय में प्रश्न होता है कि काव्य तो शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अर्थात् शब्द और अर्थ परस्पर में अन्योन्याश्रित हैं, फिर शाब्दी और आर्थी दो भेद क्यों किये गये? काव्य अवश्य ही शब्दार्थ उभयात्मक है। व्यञ्जना व्यापार में भी एक के कार्य में दूसरे की सहकारिता अवश्य रहती है—शाब्दी व्यञ्जना मे अर्थ की और आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहायता रहती है। अर्थात्, केवल शब्द द्वारा या केवल अर्थ द्वारा व्यञ्जना व्यापार नहीं हो सकता। पर जहाँ शब्द की प्रधानता होती है वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ आर्थी व्यञ्जना मानी गई है। शाब्दी मे शब्द की प्रधानता और आर्थी में अर्थ की प्रधानता किस प्रकार होती है, इसकी स्पष्टता की जा चुकी है। जिसकी जहाँ प्रधानता होती है, उसको उसी नाम से कहा जाता है—**'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'**।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों के सिवा एक वृत्ति 'तात्पर्याख्या' भी होती है। यह सर्वमान्य नहीं है। साहित्याचार्य मम्मट आदि ने इसको माना है।

तात्पर्याख्या वृत्ति

वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय[1] बोध करानेवाली शक्ति को तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं।

इस वृत्ति को समझने के लिये पद और वाक्य का विश्लेषण आवश्यक है।

पद

पद उस वर्ण-समूह को कहते हैं जो प्रयोग करने के योग्य, अनन्वित अर्थात् किसी दूसरे पद के अर्थ से असम्बद्ध (न जुटा हुआ), एक, और अर्थबोधक होता है। जैसे, 'घट' यह दो वर्णों का समूह 'पद' है। व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण इसका प्रयोग हो सकता है। यह किसी दूसरे पद के अर्थ से सम्बद्ध भी नहीं है, एक है, तथा घट अर्थ का बोधक भी है। 'पद' को अनन्वित इसलिये कहा गया है कि यह वाक्य की तरह दूसरे पद के अर्थ से जुडा हुआ नहीं होता। 'एक' इसलिये कहा गया है कि 'पद' आकाङ्क्षा-रहित होता है—वाक्य की तरह दूसरे पदों की आकाङ्क्षावाला नहीं होता। अर्थ-बोधक कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका अर्थ हो सके वही 'पद' कहा जाता है। क, च, ट, प, इत्यादि निरर्थक वर्ण प्रयोग के योग्य होने पर भी पद नहीं कहा जा सकता। यदि सार्थक हो तो एक वर्ण भ. पद कहा जा सकता है।

---

१ एक पद के अर्थ का दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध।

वाक्य

वाक्य उस पद-समूह को कहते हैं जो योग्यता, आकाङ्क्षा और सन्निधि से युक्त होता है।

योग्यता—एक पद के अर्थ का अन्य पदों के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होना 'योग्यता' है। जैसे, 'पानी से सींचता है'। इस वाक्य में योग्यता है। 'अग्नि से सींचता है' इसमें योग्यता नहीं है, क्योंकि अग्नि जलाने का साधन है, न कि सींचने का। अतः अग्नि का 'सींचने' पद के अर्थ के साथ विपरीत सम्बन्ध होने के कारण बाधा उपस्थित होती है। जहाँ ऐसी 'बाधा' न हो, वह 'योग्यता' है।

आकांक्षा—किसी ज्ञान की समाप्ति (पूर्त्ति) का न होना, अर्थात् वाक्यार्थ को पूरा करने के लिये किसी दूसरे पद की अपेक्षा—जिज्ञासा—का रहना 'आकाङ्क्षा' है। जैसे, 'देवदत्त घर को' इतना कहने पर 'जा रहा है' क्रिया अपेक्षित है। क्योंकि, 'जा रहा है' के विना वाक्यार्थ के ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है। अतः, गाय, घोड़ा, पुरुष इत्यादि निराकाङ्क्ष (एक पद दूसरे पद से सम्बन्ध न रखनेवाला) पद-समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे निराकाङ्क्ष स्वतन्त्र पद हैं। पद निराकाङ्क्ष होता है, वाक्य नहीं।

सन्निधि—एक पद का उच्चारण करने के वाद दूसरे पद के उच्चारण में विलम्ब न होना (अर्थात्, जिस पद के अर्थ की जिस अन्य पद के सम्बन्ध की अपेक्षा हो, उसके बीच में व्यवधान का न होना) 'सन्निधि' है। व्यवधान दो प्रकार का होता है। काल द्वारा और अनुपयुक्त शब्द द्वारा। एक पद के कहने के वाद दूसरे पद के कहे जाने में अधिक समय होना काल द्वारा व्यवधान है। जैसे, 'रामगोपाल"

यह तो अब कहा जाय और 'जा रहा है' यह घंटे-दो घंटे बाद या दूसरे दिन कहा जाय, तो विलम्ब हो जाने से किसी को 'रामगोपाल' और 'जा रहा है' इन पदार्थों का सम्बन्ध मालूम नहीं होगा। यह हुआ काल द्वारा व्यवधान। अनुपयुक्त पद द्वारा व्यवधान तब होता है, जब प्रकरणोपयोगी पदो के बीच में प्रयोग के अयोग्य पद आ जाता है। जैसे, 'पर्वत भोजन किया ऊँचा है देवदत्त ने'। इसमें दो वाक्य हैं—'पर्वत ऊँचा है' और 'देवदत्त ने भोजन किया'। पर्वत का सम्बन्ध 'ऊँचा है' के साथ है, पर बीच मे 'भोजन किया' यह पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। 'देवदत्त ने' के पहले 'ऊँचा है' पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। इस व्यवधान के कारण सन्निधि के नष्ट हो जाने से इन पदों का सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता है। इसलिये वाक्य वही कहा जा सकता है, जिसके पदो के बीच में व्यवधान न हो।

निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' मे योग्यता, आकाङ्क्षा और सन्निधि का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदो से युक्त होता है। वाक्य मे जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पद होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराना, अर्थात् सम्बन्ध-रहित पदो का अर्थ बतलाना, अभिधा का कार्य है। उन बिखरे हुए पदो के अर्थों को परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोडकर जो वाक्य बनता है उस वाक्य के अर्थ का जो शक्ति बोध कराती है उसे तात्पर्याख्या वृत्ति कहतें हैं। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। इस-वृत्ति-का बोधक वाक्य होता है।

इस वृत्ति का स्थान अभिधा के बाद दूसरा है। किन्तु, जहाँ अभिधा के वाच्यार्थ के तात्पर्य का बाध होने पर लक्षणा की जाती है, वहाँ अभिधा के बाद लक्षणा और लक्षणा के बाद तात्पर्याख्या वृत्ति आती है।

चतुर्थ स्तवक
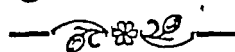
प्रथम पुष्प

ध्वनि

वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है वहाँ ध्वनि होती है। ध्वनि में व्यग्यार्थ प्रधान होता है। प्रधान का अर्थ है अधिक चमत्कारक होना। चमत्कार के उत्कर्ष पर ही वाच्य और व्यग्य की प्रधानता निर्भर है—जहाँ वाच्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता, और जहाँ व्यग्यार्थ मे अधिक चमत्कार होता है वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता समझी जाती है[1]।

वाच्यार्थ का शब्द द्वारा कथन किया जाता है। व्यग्यार्थ का शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता—व्यग्यार्थ की तो ध्वनि ही निकलती है। जैसे, घडावल (झालर) पर चोट लगाने पर पहले टङ्कार होता है, फिर उसमे से मीठी-मीठी झङ्कार—ध्वनि—निकलती है। इसी प्रकार वाच्यार्थ को टङ्कार और व्यंग्यार्थ को झङ्कार समझना चाहिए।

ध्वनि के भेद नीचे की तालिका के अनुसार होते हैं—

१ 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा'।

—ध्वन्यालोक।

ध्वनि के ५१ भेद
लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य, ४ भेद)
अभिधामूला (विवक्षितअन्यपरवाच्य, ४७ भेद)
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
पदगत
वाक्यगत
असलक्ष्यक्रमव्यंग ६ भेद
पदगत
वाक्यगत
प्रबन्धगत
पदांशगत
वर्णगत
रचनागत
सलक्ष्यक्रमव्यंग ४१ भेद
शब्दशक्तिउद्भव अनुरणन
अर्थशक्ति उद्भव०
शब्दार्थ उभय
वस्तु व्यंग
अलङ्कार व्यंग
पदगत
वाक्यगत
स्वतः संभवी
कवि प्रौढोक्ति
कविनिबद्ध पात्रप्रौढोक्ति
वस्तु से वस्तुव्यंग
वस्तु से अलङ्कारव्यंग
अलङ्कार से वस्तुव्यंग
अलङ्कार से अलङ्कारव्यंग
प्रबन्धगत
वाक्यगत
पदगत
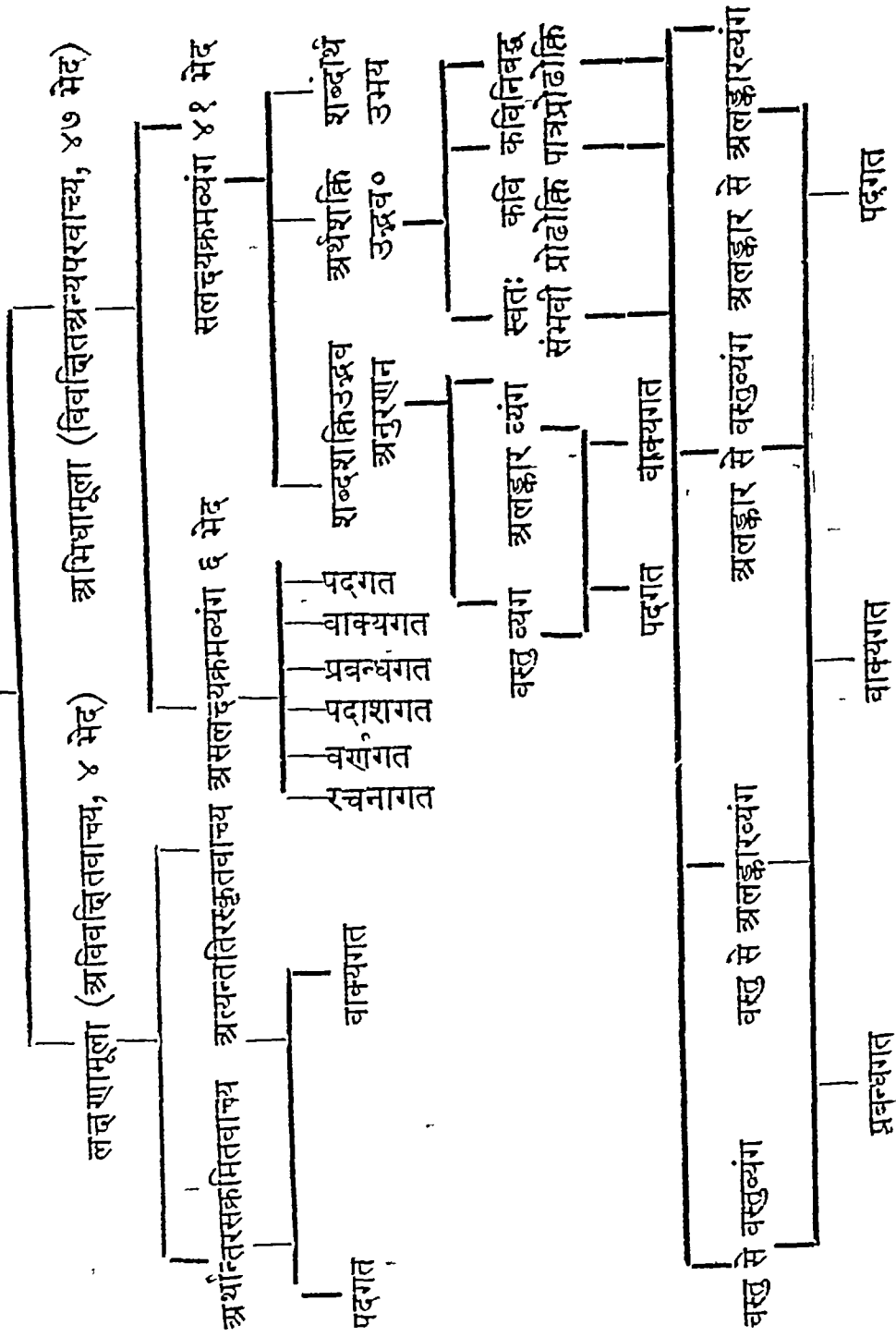
इस तालिका के अनुसार ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणा-मूला और (२) अभिधा-मूला ।

लक्षणा-मूला ध्वनि

लक्षणा-मूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।

अविवक्षितवाच्य का अर्थ है—वाच्यार्थ की विवक्षा का नहीं रहना । अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बाध[1] रहने के कारण वह (वाच्यार्थ) उपयोग में नहीं लाया जा सकता—ग्रहण नहीं किया जा सकता लक्षणा प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है । अतः इस ध्वनि के मूल मे लक्षणा रहती है, और इसी से इसे लक्षणा-मूला कहते हैं । इसमे प्रयोजनवती गूढ-व्यंग्या लक्षणा रहती है, न कि रूढ़ि लक्षणा । क्योंकि रूढ़ि लक्षणा मे व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) होता ही नहीं, और ध्वनि तो व्यग्यार्थ रूप ही है । ध्वनि मे व्यग्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अगूढ़-व्यग्य भी ध्वनि का विषय नहीं, किन्तु वह (अगूढ़ व्यग्य) गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत है ।

लक्षणा के मुख्य दो भेदों (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) के अनुसार लक्षणा-मूला ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—

(१) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि ।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमण करता है—बदल जाता है—वहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होती है ।

---

१ 'बाध' का स्पष्टीकरण लक्षणा प्रकरण पृष्ठ ४७ में देखिये ।

इस ध्वनि के मूल में उपादान लक्षणा रहती है। उपादान लक्षणा में जिस प्रकार वाच्यअर्थ का बाध होने पर वह लक्ष्यार्थ मे बदल जाता है, उसी प्रकार इस ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित अर्थात् अनुपयुक्त (उपयोग मे लाने के अयोग्य) होने से अर्थान्तर संक्रमित हो जाता है, अर्थात् दूसरे अर्थ में बदल जाता है। इसी कारण इसको अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि कहते हैं। वाच्यार्थ दो प्रकार से अनुपयुक्त हो सकता है—पुनरुक्ति से, या जब वह किसी विशेष अर्थ को न बतलाता हो, अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के कहने का तात्पर्य न निकलता हो। यह ध्वनि पदगत (एक ही पद में) और वाक्यगत (कई पदो के बने हुए वाक्य मे) होती है।

पुनरुक्ति से वाच्यार्थ के अनुपयोगी होने का उदाहरण—

कदली कदली ही तथा करभ हु करभ लखाय ;
मृगनैनी के उरुन की समता कितहु न पाय ।२८॥

उरुओ को केले के वृक्ष के स्तम्भ की अथवा करभ[1] की उपमा दी जाती है। यहाँ कहा गया है—'कदली कदली ही है' अर्थात् केला केला ही है, और करभ करभ ही। मृगनयनी के उरुओ (जंघाओ) का सादृश्य तीनो लोक मे कहीं भी नहीं मिलता। दुबारा कहे हुए 'कदली' और 'करभ' शब्दों का वाच्यार्थ कदली और करभ ही है। यदि इसी वाच्यार्थ को ग्रहण किया जाय तो पुनरुक्ति दोष हो जाता है—एकार्थक शब्दो का दो बार कहा जाना व्यर्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ का बाध है—अनुपयोगी होने के कारण यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये दुबारा कहे हुए कदली और करभ का जो वाच्यार्थ है वह,—'कदली कदली ही है, अर्थात् जड है; और करभ करभ ही है, अर्थात् हथेली के एक तरफ

१ हाथ की छोटी उँगली से पहुँचे तक हथेली के बाहरी भाग का नाम करभ है—'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभोबहिः'।

का भाग-मात्र है'—इस दूसरे अर्थ मे (जो वाच्यार्थ का ही विशेष रूप है) परिणत हो जाता है, यही अर्थान्तर में सक्रमण है। यह अर्थान्तर वही व्यग्यार्थ है, जिसको उपादान लक्षणा में प्रयोजन कहते हैं। किसी के गुण या अवगुण को सूचन करने के लिये ही एक शब्द को प्रायः दो बार कहा जाता है। जैसे, 'कौआ कौआ ही है, और कोकिल कोकिल ही'। इस वाक्य मे भी दूसरी बार कहे हुए कौआ और कोकिल का वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु दूसरी बार कहे हुए कौआ का 'कर्ण-कटु शब्द करनेवाला' और कोकिल का 'मधुर ध्वनि करनेवाली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ का विशेष रूप है—वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं। उपादान लक्षणा के प्रकरण मे इस विषय का विवेचन किया जा चुका है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'व्यंग्यार्थ' शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसकी वाच्यार्थ से ध्वनि ही निकलती है। जैसे, 'कदली कदली' आदि के वाच्यार्थ मे दूसरे अर्थ की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार व्यग्यार्थ की सर्वत्र ध्वनि ही निकलती है।

तब ही गुन सोभा लहैं, जब सहृदय सु सराहिँ ;
कमल कमल हैं तबहि, जब रवि-कर सो विकसाहिँ ।२१॥

यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त कमल शब्द का यदि 'कमल' अर्थ ग्रहण किया जाय तो पुनरुक्ति दोष आ जाता है। अतः यह वाच्यार्थ अनुपयोगी है। दूसरी बार के 'कमल' शब्द का वाच्यार्थ 'सौरभ और सौन्दर्य-युक्त विकसित कमल' इस अर्थान्तर मे सक्रमण करता है।

दूसरे प्रकार के अनुपयोगी वाच्यार्थ का उदाहरण—

श्याम घटा घन घोर भलैं उमडैं यह जोरन सों चहुँ ओरन,
सीतल धीर समीर चलै भलैं होहु घनी धुनि चातक मोरन;

राम हौं, मेरो कठोर हियो हौं, सहौंगो सबै दुख ऐसे करोरन,
हा! हा! विदेह-सुता की दसा अब ह्वै है कहा इनके झकझोरन।४०॥

वर्षाकालिक उद्दीपक सामग्रियों को देखकर जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इसमें 'राम हौं' इस पद के मुख्यार्थ का यहाँ कुछ उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि, इस वाक्य के वक्ता जब स्वयं श्रीराम ही हैं, तब 'राम हौं' कहने की क्या आवश्यकता थी। केवल 'हौं सहौंगो' कहनेमात्र ही से वाक्य पूरा हो जाता है। अतः 'राम हौं' का वाच्यार्थ वाधित है। इसलिये 'राम हौं' पद राज्यभ्रष्ट, वनवासी, जटा-वल्कल धारण करनेवाला और प्राणप्रिया जानकी के हरण आदि के असह्य दुःखो को सहन करनेवाला क्रूर-हृदय 'मैं राम हूँ', इस अर्थान्तर (व्यग्यार्थ) में सक्रमण करता है।

सुंदर श्वेत पटंबर कों कसि कै कट स्रोनि पै बाँधि सँवारिए,
भाल में बाल-मयंक-किरीट हु पन्नग के गन साज सुधारिए;
पापी हजारन तारन की-सी सधारन बात न याहि निहारिए,
मोहि उधारन को है समौ यह, भागीरथी! जिय क्यों न विचारिए।४१

यह भगवती गङ्गा के प्रति पण्डितराज की प्रार्थना है। 'मोहि उधारन को है समो यह', इस वाक्य के प्रकरणगत अर्थ मे 'यह' शब्द का वाच्यार्थ अनुपयोगी है। क्योकि, 'मोहि उधारन को है समौ' यह है ही, फिर 'यह' पद के वाच्यार्थ की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। 'यह' शब्द का वाच्यार्थ 'मै निरन्तर पाप करनेवाला हूँ, ऐसे घोर पातकी के उद्धार करने का 'यह' समय है, इस अर्थान्तर मे सक्रमण करता है। इसमे व्यग्य यह है कि 'मेरे पाप अनिर्वाच्य हैं, कहे नहीं जा सकते; ऐसे घोर पापी का उद्धार करना है'। यहाँ पुनरुक्ति नहीं, किन्तु जब तक 'यह' शब्द का लक्ष्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, वाच्यार्थ अनुपयोगी रहता है।

इन दोनो उदाहरणों में पदगत ध्वनि है। पहले उदाहरण मे 'राम हौं' मे और इस उदाहरण मे 'यह' पद में।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार होता है, वहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि होती है।

इसमें वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार किया जाता है। अर्थात् वाच्य अर्थ को सर्वथा छोड दिया जाता है। इसी से इसे अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि मे प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा रहती है। यह भी पदगत और वाक्यगत दोनो प्रकार की होती है। वाक्य-गत का उदाहरण—

सुबरन फूलन की धरा जोरत हैं नर तीन—
सूर और विद्या-निपुन सेवा में जु प्रवीन।४२॥

इसका वाच्यार्थ सुवर्ण के फूलों की पृथ्वी को इकट्ठा करना है। न तो सुवर्ण के फूलों की कहीं पृथिवी ही होती है, और न पृथिवी इकट्ठी ही की जा सकती है। अतः वाच्यार्थ का बाध होने के कारण वाच्यार्थ को सर्वथा छोड देना चाहिये। और लक्षणा से 'शूर आदि तीनो प्रकार के पुरुष अपने बल, अभ्यास और क्रिया-कौशल से अतुल समृद्धि को प्राप्त करते हैं' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लेना चाहिये। यहाँ शूर-वीरो की, विद्वानो की तथा सेवा में प्रवीण सेवकों की प्रशसा व्यग्य से ध्वनित होती है। यह ध्वनि अनेक पदों के समूहरूप सारे वाक्य से निकलती है, अतः वाक्यगत ध्वनि है।

पदगत का उदाहरण—

लगि मुख के निःस्वास अन्ध भये आदर्स[1] ज्यों,
लखत न चंद्र-प्रकास छादित परिघ तुषार सों ।४३॥

यह हेमन्त ऋतु का वर्णन है । वाच्यार्थ तो यह है कि मुख के निःश्वास से अन्धे (मलीन हुए) दर्पण के समान तुषारावृत—कुहरे से घिरा हुआ—चन्द्रमा प्रकाशित नहीं हो रहा है । अन्धा तो वही कहा जा सकता है, जिसके पहले नेत्र रहे हों या जिसमें नेत्रों की योग्यता हो । दर्पण के न तो कभी नेत्र थे, और न उसमें नेत्रों की योग्यता ही है। उसे अन्धा कैसे कह सकते हैं ? अतः यहाँ 'अन्ध' शब्द के मुख्य अर्थ का बाध होने के कारण सर्वथा छोड़ देना चाहिये, और इसका लक्ष्यार्थ 'प्रकाश-हीन' ग्रहण कर लेना चाहिये । वहाँ प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है । 'अन्ध' पद में ध्वनि है, अतः पदगत ध्वनि है ।

इस ध्वनि का विपरीत लक्षणा के रूप में भी उदाहरण हो सकता है । जैसे—

कहि न सकौं तव सुजनता ? अति कीन्हों उपकार ?
सखे ! करत यों रहु सुखी जीवहु बरस हजार ।४४॥

यह अपकार करनेवाले के प्रति उसके कार्यो से दुखित किसी पुरुष की उक्ति है । वाच्यार्थ में उसकी प्रशंसा है । किन्तु अपकारी के प्रति प्रशंसात्मक वचन नहीं कहे जा सकते, अतः वाच्यार्थ का बाध है । इस वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर विपरीत लक्षणा से उपकार का 'अपकार', सुजनता का 'दुर्जनता' और सखे का 'शत्रु' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसमें अत्यन्त अपकार करना व्यंग्यार्थ है ।

---

१ दर्पण ।

"हमको तुम एक, अनेक तुम्हैं, उनहीं के विवेक बनाय बहौ,
इत चाह तिहारी बिहारी, उतै सरसाय कै नेह सदा निबहौ;
अब कीबो 'मुबारक' सोई करौ अनुराग-लता जिन बोय दहौ,
घनस्याम ! सुखी रहौ आनँद सौं, तुम नीकै रहौ, उनही कै रहौ।"

अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका के वाक्य हैं। वाच्यार्थ में तो 'सुखी रहौ', 'उनही कै रहौ' कहा गया है, किन्तु लम्पट नायक के प्रति नायिका द्वारा ऐसा कथन असम्भव है। अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ के विपरीत 'उसके पास न रहौ' इत्यादि लक्ष्यार्थ समझना चाहिये।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत होने पर भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहीं नहीं भी होती है। जैसे—

इत न स्वान वह आज, अहो भगत ! निधरक बिचर,
हत्यो ताहि मृगराज, जो या सरिता-तट रहतु।४५॥

किसी कुलटा स्त्री के सङ्केत कुञ्ज के समीप कोई भक्त पुरुष पुष्प लेने के लिये आने जाने लगा था। कुलटा अपने कुत्ते को उसके पीछे लगा दिया करती थी, जिससे वह तंग आकर वहाँ आना छोड़ दे, और उसके एकान्त स्थल में विघ्न न हो। इस पर भी वह आता रहा तो एक दिन उस कुलटा ने कहा—"भक्तजी, अब आप यहाँ निःशङ्क आया करें, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, उसे इसी वन के निवासी सिंह ने मार डाला है"। 'निधरक बिचर' के कथन से वाच्यार्थ में उसे आने के लिये कहा गया है, किन्तु कुत्ते से डरनेवाले उस पुरुष को उस कुलटा के कहने का अभिप्राय यह है कि 'जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था वह तो मारा गया, पर जिसने उसे मारा है वह सिंह इस नदी-तट के वन मे ही रहता है, कभी उसकी झपेट मे आ गए, तो मारे

जाओगे'। निष्कर्ष यह है कि वाच्यार्थ में तो आने को कहा गया है, पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है। अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत है। यहाँ न तो विपरीतलक्षणा ही है और न यह लक्षणा-मूला अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि ही। विपरीत लक्षणा तो वहीं हो सकती है जहाँ वाच्यार्थ के अन्वय का या वक्ता के तात्पर्य का बाध होने के कारण वाक्य कहने के साथ ही वाच्यार्थ विपरीत अर्थ मे अर्थात् लक्ष्यार्थ मे बदल जाता है। जैसे, उपरोक्त 'हमको तुम एक..........' इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं है, क्योंकि वाच्यार्थ असम्भव नहीं है। यहाँ तो प्रकरणादि का विचार करने पर वाच्यार्थ विपरीत अर्थ मे परिणत होता है। अतः ऐसे स्थलो मे लक्षणा-मूला ध्वनि नहीं होती, किन्तु अभिधा-मूला ध्वनि हुआ करती है।

अभिधा-मूला ध्वनि

अभिधा-मूला ध्वनि को 'विवक्षितअन्यपरवाच्य' ध्वनि कहते हैं।

इसमे वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है। अर्थात् वाच्यार्थ भी वाञ्छनीय रहता है, पर वह अन्यपरक अर्थात् व्यग्यनिष्ठ होता है। इसीलिये यह विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि कही जाती है।

इस ध्वनि मे वाच्यार्थ का बोध होने के बाद क्रमशः व्यग्यार्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे, दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसमे वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का क्रम कहीं तो स्पष्ट प्रतीत होता है और कहीं स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इसलिये इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) असलक्ष्यक्रमव्यग्य, और (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। ये दोनो भेद लक्षणा-मूला ध्वनि के इसलिये

नहीं हो सकते हैं कि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती—वाच्यार्थ उपयोग के योग्य ही नहीं रहता, अतः वाच्य अर्थ के साथ व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित या अलक्षित होने का वहाँ प्रश्न ही नहीं है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम असंलक्ष्य हो[1] वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पौर्वापर्य—पहले-पीछे का—क्रम संलक्ष्य होता है—भले प्रकार प्रतीत होता है, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है, वहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पहले-पीछे का क्रम प्रतीत नहीं होता है। इस ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि व्यंग्यार्थ होते हैं। ये रस भावादि जो व्यंग्यार्थ हैं, विभावानुभावादि (जो वाच्यार्थ होते हैं) के द्वारा ध्वनित होते हैं। विभावादि और रस-भावादि का पौर्वापर्य क्रम भले प्रकार प्रतीत नहीं हो सकता है। यद्यपि विभाव, अनुभाव आदि कारणों के वाच्यार्थ का बोध होने के बाद ही रस-भावादि की प्रतीति होती है। अतः कारण-कार्य रूप पौर्वापर्य-क्रम तो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी रहता है, किन्तु अल्पकालिक होने के कारण 'शतपत्र-पत्रभेदन'[2] न्याय के अनुसार वह

---

१ भली प्रकार से प्रतीत न हो।

२ शतपत्र-पत्रभेदन न्याय यह है कि जब शतपत्र (कमल) के सैकड़ों पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सुई की नोक से छेद किया जाता है, तब यद्यपि उन पत्तों का छेदन एक के बाद दूसरे का क्रमशः ही होता है, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे सब पत्तों

(क्रम) लक्ष्य मे नहीं आ सकता। इसीलिये इसे 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहा जाता है। यदि इसमे क्रम का सर्वथा अभाव होता तो इसे अक्रम व्यंग्य कहा जाता। 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग का यहाँ यही तात्पर्य है कि क्रम भले प्रकार नही जाना जाता है।

"हरि-सुत[1]-श्रौन हर-श्रौन[2] हरि[3]दै है कर,
घरी-घरी घोर धनु-घंट घननाटे तें;
भूरि रत्र भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरंगे भिंदिपाल भननाटे तें।
खप्पर खनक ह्वै न खेटक के खप्पर ह्वाँ,
खेटको[4] खिसकि जैहैं खग्ग[5] खननाटे तें;
भूलि जैहैं जानधर[6] जान[7] को चलान, बान—
बानधर[8] मेरे पान[9] बान सननाटे तें।"४६॥

ये कर्ण के वाक्य हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन आलम्बन हैं। उनके द्वारा भीष्मादि के पतन का स्मरण उद्दीपन है। कर्ण के ये वाक्य अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव[10] हैं। इनके द्वारा

में सुई एक ही साथ छेद करती हुई-सी मालूम होती है—यह प्रतीत नहीं होता कि उनमें से कौन पहले और कौन पीछे बिँध गया है; अतः वह अल्पकालिक क्रम जाना नहीं जा सकता। १ इन्द्र का सुत अर्जुन। २ रथ के घोड़ों के कानों पर। ३ श्रीकृष्ण। ४ ढालों को धारण करनेवाले। ५ तलवार। ६ रथ को धारण करनेवाले सारथी—श्रीकृष्ण। ७ रथ। ८ बाणों को धारण करनेवाला अर्थात् अर्जुन। ९ हाथ। १० आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारियों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

भावों को ये विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अतः रस के उत्पादक (कारण) होने से इनको विभाव कहते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव।

जिसका आलम्बन करके स्थायी भाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं। जैसे, शृङ्गार-रस मे रति स्थायी भाव के नायक-नायिका आलम्बन होते हैं। आलम्बन विभाव प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं।

उद्दीपन विभाव।

रति आदि मनोविकारों को जो अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं—वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। जैसे, शृङ्गार-रस मे सुन्दर वेष-भूषणादि की रचना, पुष्प-वाटिका, एकान्त स्थान, सुन्दर केलि-कुञ्ज, कोकिलादि का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, और शीतल धीर समीर, आदि रति के बढानेवाले होने से उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। उद्दीपक पदार्थ, स्थायी भाव के उत्पादक कारण नहीं, केवल उद्दीपक हैं, किन्तु उत्पन्न स्थायी भाव को इनके द्वारा यदि उत्तेजना न मिले तो वह अनुत्पन्न के समान ही है। जैसे, उत्पन्न अङ्कुर को जल न मिलने से वह नष्ट हो जाता है। उद्दीपन विभाव भी प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं।

(२) अनुभाव

विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं[1]। जैसे, शृङ्गार-रस में

---

१ "अनुभावयन्ति इति अनुभावाः"।

नायिका आलम्बन और चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय मे रति (मनोविकार) उत्पन्न और उद्दीपित होती है, किन्तु उसको प्रकट करने वाली कटाक्ष और भ्रू-क्षेप एवं हस्तसञ्चालनादि शारीरिक चेष्टाएँ जब तक न हों, तब तक उस अनुराग का उनको परस्पर या समीपस्थ अन्य जनों को कुछ ज्ञान नही हो सकता। रति आदि स्थायी भाव काव्य मे शब्दो द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओ द्वारा प्रकट होते हैं[1]। इन चेष्टाओं की ही अनुभाव संज्ञा है। अनुभाव असख्य हैं। जिस-जिस रस में जो-जो अनुभाव होते हैं, उनका दिग्दर्शन रसों के प्रकरण मे कराया जायगा।

सात्विक भाव।

सत्त्व से उत्पन्न भावों को सात्विक कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वर-भङ्ग (५) वेपथु (कम्प), (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय। इनकी सात्विक संज्ञा क्यो है, इसकी विवेचना साहित्याचार्यों ने बहुत कुछ की है। आचार्य मम्मट ने तो इनका पृथक् नामोल्लेख भी नहीं किया है— सम्भवतः उन्होने इन्हें अनुभावो के अन्तर्गत माना है।

विश्वनाथ का मत है कि सात्विक भाव रस के प्रकाशक होने के कारण अनुभाव ही हैं। किन्तु, गोवलीवर्द

---

१ अनुभावो भावबोधकः।

न्याय[1] के अनुसार ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं[2]। महाराजा भोज कहते हैं कि सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित 'मन' है। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं[3]। प्रश्न यह होता है कि क्या अन्य भाव सत्त्व के विना ही उत्पन्न होते हैं? भरत मुनि कहते हैं—"हाँ, ऐसा ही है। सत्त्व मन-प्रभव है—समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति है। मनोविकार द्वारा उत्पन्न रोमाञ्च, अश्रु और वैवर्ण्य आदि जो स्वभाव हैं, वे अन्य-मनस्क होने पर उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे, रोदनात्मक दुःख और हर्षात्मक सुख, दुःख और सुख के विना कैसे उत्पन्न हो सकते हैं[4]"? हेमचन्द्राचार्य कहते हैं—"प्राण ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक हैं। प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है, तब स्तम्भ, जल का भाग प्रधान होता है, तब वाष्प (अश्रु), तेज का भाग तीव्रता से प्रधान होता है, तब स्वेद (पसीना), और जब वह तीव्रता-रहित प्रधान होता है, तब वैवर्ण्य, आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय, और वायु का स्वातन्त्र्य होता है, तब उसके मन्द, मध्य और

---

१ जैसे, 'गाएँ आ गईं', बैल भी आ गया'। गाएँ कहने मात्र से ही बैल का आना भी जान लिया जाता है, पर गायों की अपेक्षा बैल की प्रधानता सूचन करने के लिये बैल का पृथक् कथन किया जाता है। इसी को 'गोवलीवर्द' न्याय कहते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक भाव अनुभावों के अन्तर्गत होने पर भी सात्त्विक भावों की उत्कृष्टता सूचन करने के लिये इनको सात्त्विक भाव कहते हैं।

२ साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३।१३४-३५।

३ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। निर्वृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।२०।४।

४ नाट्यशास्त्र, गायकवाड-संस्करण, पृष्ठ ३७१।

उत्कृष्ट आवेश से रोमाञ्च, कम्प एवं स्वर-भेद होता है। और शरीर के धर्म जो स्तम्भादिक बाह्य अनुभाव हैं, वे इन आन्तरिक स्तम्भादिक भावों की व्यञ्जना करते हैं[1]"। इनके लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार[2] इस प्रकार हैं—

(१) **स्तम्भ**—यह हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद और रोषादि से उत्पन्न होता है। इसमें निस्सज्ञ, निष्कम्प, खड़ा रह जाना, शून्यता और जडता आदि अनुभाव होते हैं।

(२) **स्वेद** (पसीना)—यह क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, उपघात और व्यायाम आदि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर के पसीने आना आदि अनुभाव होते हैं।

(३) **रोमाञ्च**—यह स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमे शरीर का कण्टकित होना, पुलकित होना और रोमाञ्चित होना अनुभाव होते हैं।

(४) **स्वर-भङ्ग**—यह भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें स्वर का गद्गद होना, आदि अनुभाव होते हैं।

(५) **वेपथु** (कम्प)—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें कम्पादि अनुभाव होते हैं।

(६) **वैवर्ण्य**—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमे मुख का वर्ण बदल जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

(७) **अश्रु**—यह आनन्द, अमर्ष, धुआँ, जँभाई, भय, शोक, अनिमेष-प्रेक्षण (विना पलक लगाये देखना), शीत और रोगादि से

१ काव्यानुशासन, अध्याय २, पृष्ठ १०० ।

२ नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३८१-३८२ ।

उत्पन्न होता है। इसमें नेत्रों से अश्रुओं का गिरना और उनका पोछना आदि अनुभाव होते हैं।

(८) प्रलय—यह श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, अभिघात और मोहादि से उत्पन्न होता है। इसमे निश्चेष्ट हो जाना, निष्प्रकम्प हो जाना, श्वास का रुक जाना और पृथ्वी पर गिर जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

स्तम्भ और प्रलय मे यह भेद है कि स्तम्भ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता हैं, किन्तु 'प्रलय' मे शरीर जड़ हो जाने के कारण चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे—

स्तम्भ।

"पाय कुंज एकांत में भरी अंक ब्रजनाथ;
रोकन को तिय करत, पै कह्यो करत नहिँ हाथ।"

प्रलय।

"दै चख-चोट अँगोट मग तजी जुवति वन माहिँ;
खरी विकल कब की परी, सुधि सरीर की नाहिँ।"

(३) सञ्चारी या व्यभिचारी भाव

चिन्ता आदि चित्त की वृत्तियों को व्यभिचारी या सञ्चारी भाव कहते हैं।

ये स्थायी भाव (रस) के सहकारी कारण हैं। ये सभी रसों मे यथासम्भव सञ्चार करते हैं। इसी से इनकी सञ्चारी या व्यभिचारी सज्ञा हैं[१]। स्थायी भावे की तरह ये रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते।

---

१ 'विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।'—नाट्यशास्त्र, गायकवाड-संस्करण। पृष्ठ ३४६।

अर्थात् ये अवस्था विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं[1]।

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुद्बुदो की भाँति प्रकट हो-होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं—बिजली की चमक की भाँति दिखलाई देकर ये झट अदृश्य हो जाते हैं। इनकी सख्या ३३ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि सञ्चारी भावो की भी, स्थायी भाव और रस के समान, व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनि ही निकलती है, और वही आस्वादनीय होती है। इनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना दोष माना गया है[2]। इनके नाम, लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) **निर्वेद**—वैराग्य के कारण या इष्ट वस्तु के वियोगादि के या दारिद्रय, व्याधि, अपमान एव आक्षेप आदि के कारण अपने आप को धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जहाँ निर्वेद वैराग्य से उत्पन्न होता है वहाँ निर्वेद शान्त रस का व्यञ्जक होकर शान्त रस का स्थायी भाव होता है, न कि व्यभिचारी। वैराग्य या तत्त्वज्ञान के विना जहाँ इष्ट-वियोगादि-जन्य उपर्युक्त कारणो से निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ यह शान्त रस के अतिरिक्त अन्य रसों मे व्यभिचारी रहता है। क्योकि, जहाँ इष्ट-वियोगादि से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहाँ शान्त रस की व्यञ्जना नहीं हो सकती। निर्वेद व्यभिचारी मे दीनता, चिन्ता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास एवं विवर्णतादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

---

१ "ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ;
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

२ इस विषय का विवेचन सप्तम स्तवक में, आगे रसों के दोष-विवेचन के प्रसङ्ग में, विस्तार से किया जायगा।

"अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनु री सखी! स्यामसुंदर बिन बाँटि बिषम-बिष पीजै।
कै गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी! स्वकर सीस सिव दीजै;
कै दहिए दारुन दावानल जाय जमुन धसि लीजै।
दुसह बियोग बिरह माधव के कौन दिनहि दिन छीजै;
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि-सोचि मन खीजै।"४७॥

यहाँ व्रजराज श्रीकृष्ण के वियोग मे श्रीराधिकाजी द्वारा अपने जीवन का तिरस्कार किए जाने मे निर्वेद की व्यञ्जना है।

कबहूँ नहिं साधी समाधि इकंत न काम कलान की जोति जगी;
न सुनी भगवंत कथा न तथा रस की बतियाँ मृदु प्रेम पगी।
सहि कष्ट न जोग की आँच तयो न वियोग की आग हिए सुलगी;
यह वादि ही वैस वितीत भई गल सेली लगी न नवेली लगी।४८

यहाँ व्यर्थ जीवन व्यतीत होने से उत्पन्न निर्वेद की व्यञ्जना है।

(२) ग्लानि—आधि (मानसिक ताप) या व्याधि (शारीरिक कष्ट) के कारण शरीर का वैवर्ण्य (अङ्गो की शिथिलता) और कार्य मे अनुत्साह आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को ग्लानि कहते हैं। उदाहरण—

"सूती किसलय-सयन पै जिमि नव ससि की रेख;
आयो पिय आदर कियो केवल मधुरहि देख।"४९॥

यहाँ विरह-जनित सन्ताप से तापित नायिका द्वारा विदेश से आए हुए अपने पति का केवल मधुर कटाक्ष से सम्मान किए जाने में ग्लानि भाव की व्यञ्जना है।

यों कहि अरजुन अति विकल समुझि महा कुलहान,
बैठ्यो रथ रन-विमुख ह्वै छाड़ि दिये धनुबान।"५०॥

यहाँ अर्जुन के रण-विमुख होकर धनुषबान छोड़ कर बैठ जाने में ग्लानि की व्यञ्जना है।

(३) शङ्का—मेरा क्या अनिष्ट होनेवाला है? इस प्रकार की चित्तवृत्ति को 'शङ्का' कहते हैं। इसमें मुख वैवर्ण्य, स्वर-भङ्ग, कम्प, ओष्ठ और कण्ठ का सूखना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"हे मित्र, मेरा मन न-जाने हो रहा क्यों व्यस्त है;
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो;
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो।"५१॥

महाभारत मे संसप्तकगणों के युद्ध से लौटते समय श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन के ये वाक्य हैं। इसमे 'शङ्का' की व्यञ्जना है। 'शङ्का' मे भय आदि से उत्पन्न कम्प होता है[1]। चिन्ता में भय नही होता है। जैसे—

"अब ह्वै है कहा अरविंद सो आनन इंदु के हाथ हवाले परयो,
इक मीन बिचारो बिँध्यो बनसी पुनि जाल के जाय दुमाले परयो;
'पदमाकर' भाषै न भाषै बनै जिय कैसो कछूक कसाले परयो,
मन तो मनमोहन के सँग गो, तन लाज-मनोज के पाले परयो।"५२

यहाँ चिन्ता है। इन दोनो में यही भेद है।

(४) असूया—दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या आदि का उत्कर्ष देखने से या सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्ति को असूया कहते हैं। इसमें

१ शङ्का की स्पष्टता में कहा है—"इयं तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, नतु चिन्ता।"—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ८०

अवज्ञा, भ्रूकुटी चढाना, ईर्ष्या के वाक्य कहना, दूसरे के दोषों को प्रकट करना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

अयि! कितव सखे! क्यों पाद छूता हमारे;
विरह-विकलिता हैं, मानिनी हैं न प्यारे!
अनुनय यह तेरा है सुहाता न, जा रे;
प्रिय-प्रणयिनि है वो, तू उसे हो रिझा रे।५३॥

भ्रमर के प्रति विरहिणी व्रजाङ्गनाओं के इन वाक्यों मे कुब्जा के विषय में असूया की व्यञ्जना है।

"सुघर सलोने स्यामसुंदर सुजान कान्ह,
करुनानिधान के वसीठ बन आये हौ।
प्रेम पन धारी गिरधारी को सँदेसौ नाहीं,
होत है अँदेसौ झूठ बोलत बनाये हौ॥
ज्ञान-गुन-गौरव-गुमान भरे फूले फिरौ,
बंचक के काज पै न रंचक बराये हौ।
रसिक–सिरोमनि को नाम बदनाम करौ,
मेरी जान ऊधो कूर कूबरी पठाये हौ॥"५४॥

गोपी जनों की उद्धव के प्रति इस उक्ति में कुब्जा के विषय में असूया की व्यञ्जना है।

हैं वे वृद्ध विचार-शील न, वृथा कैसी बढ़ा दी कथा,
गाते हैं वह ताड़िका-बध अहो! स्त्री-लक्ष्य ही जो न था;
वीरों को खरदूषणादि, बध भी क्या गण्य युद्धत्व है?
बाली का बध कृत्य, सत्य कहना, क्या उग्र वीरत्व है?५५॥

ये रघुकुलकुमार लव के वाक्य हैं। इनमें श्रीरघुनाथजी की अवज्ञा के कथन मे असूया की व्यञ्जना है।

(५) मद—मद्यपानादि से उत्पन्न अङ्ग एवं वचनो की स्खलद्गति आदि अनुभावों की उत्पादक चित्तवृत्ति मद है। उदाहरण—

डगमगात पग परत मग सिथलित तन दृग लाल ;
कहन चहतु कछु कहतु कछु कीन्ह सुरा यह हाल ।५६॥

(६) श्रम—मार्ग चलने और व्यायाम आदि से थक जाना श्रम है। मुख सूख जाना, अँगडाई एवं जँभाई लेना और निःश्वास आदि इसके अनुभाव हैं। उदाहरण—

"पुर ते निकसी रघुवीर-बधू धरि धीर हिए मग में डग द्वै ,
झलकी भरि भाल कनी जल की पट सूखि गए अधराधर वै ;
फिर बूझति है चलिबोब कितो ? पिय, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ,
तियकी लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।"५७

यहाँ वनवास के समय श्रीजनकनन्दिनी के थक जाने मे श्रम की व्यञ्जना है।

"घट वहन से स्कंध नत थे और करतल लाल ,
उठ रहा था स्वास गति से वक्ष–देश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद सीकर-जाल ;
एक कर से थी सँभाले मुक्त काले बाल॥"५८॥

यहाँ घटवहन से शकुन्तला के थक जाने में श्रम की व्यञ्जना है।

ग्लानि प्रधानतः मानसिक आधि और शारीरिक व्याधि के कारण होती है, और श्रम मे परिश्रम से उत्पन्न थकावट होती है।

(७) **आलस्य**—श्रम, गर्भ, व्याधि, जागरण आदि से कार्य करने से विमुख होना आलस्य है। इसमें जँभुआई आना, एक ही स्थान पर स्थित रहना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"नीठि-नीठि उठि बैठिहू प्यो प्यारी परभात ;
दोऊ नींद-भरे खरैं गरैं लागि गिरि जात।"५६॥

यहाँ निद्रान्त आलस्य की व्यञ्जना है।

(८) **दैन्य**—दुःख, दारिद्र्य, मन के सन्ताप और दुर्गति आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष (दुर्दशा) के वर्णन में दैन्य भाव होता है। उदाहरण—

नँदनंदन के स्मित-आनन पास लगी रहै कान सदा भर जी ;
अधरामृत को रस पान करै ब्रजगोपिन सों न रहै बरजी।
कर जोरि निहोरि कै तोहि कहौं मुरली ! सुनु एक यहै अरजी ;
मुरलीधर सों यह मेरी दसा कहियो, फिर है उनकी मरजी।६०॥

यहाँ भगवान् श्रीनन्दनन्दन के मुँहलगी वशी से ससारताप से सन्तापित इस दीन की इस प्रार्थना मे 'यह मेरी दशा' इन शब्दो द्वारा दैन्य की व्यञ्जना है।

"पांडु की पतोहू भरी स्वजन सभा मे जब,
आई एक चीर सों तो धीर सब ख्वै चुकी।
कहै 'रतनाकर' जो रोइवो हुतो सो तबै,
धार मारि बिलखि गुहारि सब र्‍वै चुकी।
झटकत सोऊ पट विकट दुसासन है,
अब तो तिहारी हू कृपा की बाट ज्वै चुकी।
पाँच पांच नाथ होत नाथनि के नाथ होत,
हाय ! हौं अनाथ होति नाथ ! अब ह्वै चुकी॥"६१॥

द्रौपदी की इस उक्ति में दैन्य भाव की व्यञ्जना है।

कुछ सेष रह्यो घर में न, परयो पति खाट पै, वृद्ध है अन्ध भयो ;
सुत को नहिं हाल मिल्यो कितसों जब सों वह हाय ! बिदेस गयो।
ऋतु-पावस बासन हू गयो फूटि जो तेल परोसिन पास लयो;
लखि आरत गर्भिनि पुत्र-बधू दुख सों भरि सास को आयो हियो।६२

यहाँ दारिद्रय-दशा-जनित दैन्य की व्यञ्जना है।

"उदर भरे की जो पै गोत की गुजर होती,
घर की गरीबी माँहिं गालिब गठौती ना ;
रावरे चरन अरविंद अनुरागत हौं,
माँगत हौं दूध, दही, माखन, मठौती ना।
याहू ते कहौ तो और होतो अनहोतो कहा,
साबुत दिखात कंत ! काठ की कठौती ना ;
छुधा-छीन दीन बाल-बालिका बसन-हीन,
हेरत न होती देव ! द्वारिका पठौती ना।"६३॥

सुदामाजी की पत्नी के इन वाक्यों मे दारिद्रय-जन्य दैन्य की व्यञ्जना है।

(६) चिन्ता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति या अनिष्ट की प्राप्ति, आदि से उत्पन्न चित्तवृत्ति ही चिन्ता है। सन्ताप, चित्त की शून्यता, कृशता, अधोमुख आदि अनुभावों द्वारा इसका वर्णन होता है। उदाहरण—

सींची भू-सा सुरभित अहो वक्त्र तेरा न दीखे ;
छेदे मेरा कृशित तनु भी काम के बाण तीखे।
काटूँ कैसे अब दिवस ये हे प्रिये ! सोच तू मैं ;
छाई सारी दिशि घनघटा देख वर्षा-ऋतू में।६४॥

यहाँ यक्ष द्वारा अपनी वियोग-जनित अवस्था के वर्णन में चिन्ता की व्यञ्जना है।

> "दृगन मूँदि भौंहन जुरैं करतिय राखि कपोल ;
> अवधि बिती आए न पिय सोचत भई अडोल।"६५॥

प्रोषितपतिका नायिका की इस दशा के वर्णन में चिन्ता की व्यञ्जना है।

(१०) मोह—प्रिय-वियोग, भय, व्याधि और शत्रु के प्रतिकार मे असमर्थ होने आदि से चित्त का विक्षिप्त हो जाना अर्थात् वस्तु का यथार्थ ज्ञान न रहना ही मोह है। इसका वर्णन चित्त-भ्रम, हतचेतना आदि अनुभावों से होता है। उदाहरण—

> "कहती हुई बहु भाँति यों ही भारती करुणामई,
> फिर भी हुई मूर्च्छित अहो! वह दुःखिनी विधवा नई।
> कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ,
> हतचेत होना भी विपद् में लाभदाई है महा।"६६॥

इसमे अपने पति अभिमन्यु के शोक में उत्तरा के हत-चेतना हो जाने में मोह की व्यञ्जना है। सुख-जन्य भी मोह होता है[1]। जैसे—

> "दूलह श्रीरघुवीर बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माँहीं ;
> गावत गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाँहीं।
> राम को रूप निहारत जानकी कंकन के नग की परिछाँहीं,
> याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाँहीं।"६७॥

यहाँ श्रीरघुनाथजी का प्रतिबिम्ब अपने कङ्कण के रत्न में गिरने पर जनकनन्दिनी के सुधि भूल जाने में सुख से उत्पन्न मोह की व्यञ्जना है।

---

१ 'सुखजन्यापि मोहो भवति'—हेमचन्द्र का काव्यानुशासन।

(११) स्मृति—पहले के अनुभव किये हुए सुख एवं दुःख आदि विषयो का स्मरण ही स्मृति है।

"है विदित, जिसकी लपट से सुरलोक संतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर था जिसने छुआ,
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात! संधि-विचार करते तुम भुला देना नहीं।"६८॥

दुर्योधन से सन्धि करने को जाते हुए श्रीकृष्ण के प्रति द्रौपदी के इन वाक्यों मे अपमान-जन्य स्मृति की व्यञ्जना है।

हे सरसीरुहलोचनि, मोहि बताओ प्रिये! कबौं आवतु है चित;
वा गिरि-कानन के बहुरंग विहंग कुरंगन सों अति सोभित—
कुंजन के रज-रंजित नीर सु तीर गुदावरि के निकटैं जित;
मंजुल वंजुल कुंजन मे मनरंजन मंजु विहार किए नित।६९

जनकनन्दिनी के प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्र की इस उक्ति मे चित्रकूट-विषयक स्मृति की व्यञ्जना है।

"'केसव' एक समैं हरिराधिका आसन एक लसैं रँगभीने;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यो दृग दीने।
भाल के लाल में बाल विलोकत ही भर लालन लोचन लीने,
सासन-पीय स-वासन-सीय हुतासन में जनु आसन कीने।"७०॥

यहाँ दर्पण देखते हुए श्रीकृष्ण को राधिकाजी के भाल की रक्तमणि मे उनका (राधिकाजी का) प्रतिबिम्ब देखकर वस्त्रों-सहित श्रीजानकीजी की अग्नि-परीक्षा-समय के अग्नि-प्रवेश के दृश्य का स्मरण हो आने में स्मृति की व्यञ्जना है।

"बालम के बिछुरे बढ़ी बालके व्याकुलता बिरहा दुख दान तें ;
चौपरि आनि रची 'नृप शंभु' सहेलिनी साहबिनी सुखदान तें।
'तू जुग फूटै न मेरी भटू' यह काहू कही सखियाँ सखियान तें,
कंज-से पानि से पासे गिरे, अँसुआ गिरे खंजन-सी अँखियान तें।"७१॥

चौपड के खेल मे सखी से 'जुग न फूटै' सुनकर वियोगिनी को अपनी वियोग-दशा का स्मरण हो आने मे दुःख-जन्य स्मृति भाव है। पहले उदाहरण मे सादृश्य वस्तु देखने पर और इसमे श्रवण से, स्मृति की व्यञ्जना है।

"पल्लव-पलंग पै प्रभात में मलिन्द-वृन्द,
गाता महा मोद से तराना[1] कुसुमो का था।
दौड पडता था कलियों के खुलते ही वह,
क्षण में ही लुटता खजाना कुसुमों का था।
सांझ को विलम्ब मुरझाने में न होता कभी,
एक ही दिवस का फिसाना[2] कुसुमों का था।
आन में बदलती हवा थी कुसुमाकर की,
बात में बदलता जमाना कुसुमों का था।"७२॥

यहाँ कवि द्वारा अपने ग्राम की पूर्व कालिक अवस्था के वर्णन में स्मृति भाव की व्यञ्जना है।

"गोकुल की गैल गैल गैल गैल ग्वालनि की,
गोरस कै काज लाज-बस कै बहाइबौ।
कहे 'रतनाकर' रिझाइबौ नवेलिनि कौ,
गाइबौ गवाइबौ औ नाचबौ नचाइबौ।

1 गीत। 2 कहानी।

कीबौ समहार मनुहार कै विविध विधि,
मोहिनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबौ।
ऊधौ सुख-सम्पति-समाज वृजमण्डल के,
भूलैं हूँ न भूलै भूलैं हमकौ भुलाइबौ।''७३॥

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण की उक्ति में स्मृति भाव की व्यञ्जना है।

(१२) धृति—लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को दूर करनेवाली चित्त-वृत्ति धृति है। इसमे प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट वस्तुओं का शोक न करना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

क्यों संतापित हिय करौं भजि-भजि धनिकन द्वार;
मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्रीनंदकुमार।७४॥

यहाँ चित्त की चञ्चलता का दूर होना धृति है।

हो तुम वित्त सों तुष्ट रु त्यों हम वल्कल चीर सों तुष्ट सदा हैं;
है परितोष समान जबै, कहु तो इहि में तब भेद कहा है।
है जिनको तृसनाकुल चित्त, वही जग माँहि दरिद्र महा है;
जो मन होय सँतोषित तो फिर को धनवान दरिद्र यहाँ है।७५॥

सन्तोष होने पर धनवान् और दरिद्री दोनो की समान अवस्था के वर्णन मे यहाँ 'धृति' भाव की व्यञ्जना है।

(१३) व्रीड़ा—स्त्रियो को पुरुष के देखने आदि से और पुरुषों को प्रतिज्ञा-भङ्ग, पराभव एव निन्दित कार्य करने आदि से वैवर्ण्य और अधोमुख आदि करनेवाली लज्जा ही व्रीडा है। उदाहरण—

"सुनि सुंदर बैन सुधा-रस-साने सयानि है जानकी जान भली;
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाय कछू मुसकाय चली।
'तुलसी' तिहिं औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन-लाहु अली;
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै विकसी मनो मंजुल कंज-कली।''७६॥

यहाँ ग्राम-वधुओं द्वारा श्रीरघुनाथजी के विषय में यह पूछने पर कि 'यह आपके कौन हैं ?' श्रीजानकीजी द्वारा नेत्रों की चेष्टा से उनको अपना प्राणनाथ बतलाने में व्रीडा की व्यञ्जना है।

नँदलाल के प्रेम तू बाल ! पगी, उनके बिन तोहि कछू न सुहातु है ;
तन औ' मन सौंप चुकी सब ही चरचा उनही की सदा मन भातु है।
फिर काहे को नाहक मेरी भटू ! दृग-दान के हेत उन्हें तरसातु है ;
सखि, बेचि गयंदहि अंकुस लौं झगरो करिबो कहा जोग कहातु है।७७

यहाँ प्रेम-कटाक्ष के दान देने को सखी द्वारा दी गई शिक्षा मे नायिका-निष्ठ लज्जा-भाव की व्यञ्जना है।

"मानी न मानवती भयो भोर, सु सोचते सोइ गयो मनभावन ;
तेही ते सास कही दुलही ! भई बार कुमार को जाहु जगावन।
हौंस मनाइवे को जु गयो उडि, पै न गई हिय की अनखावन ;
चंदमुखी पलका ढिंग जाय लगी पग-नूपुर पाटी बजावन।"७८

यहाँ मानिनी नायिका द्वारा नायक को जगाने के लिये पर्यंक की पाटी का नूपुर से बजाने में स्त्री-स्वभाव-सुलभ अपमान की शङ्का-जनित व्रीडा की व्यञ्जना है।

(१४) चपलता—मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और अनुराग आदि से चित्त का अस्थिर होना ही चपलता है। चपलता मे दूसरों को धमकी देना, कठोर शब्द बोलना और अविचार पूर्वक उच्छृङ्खल आचरण करना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

उत्फुल्ल मंजुल अनेक लता बनी हैं,
जो प्रौढ और उपमर्दन योग्य भी हैं।
मुग्धा विहीन-रज है इस मालती को ;
क्यों भृङ्ग तू व्यथित है करता कली को ॥७९॥

यहाँ भृङ्ग के प्रति इस अन्योक्ति को वर्णन में चपलता की व्यञ्जना है।

(१५) हर्ष—इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट-जनके समागम आदि से उत्पन्न सुख हर्ष है। इसमे मन की प्रसन्नता, प्रिय भाषण, रोमाञ्च, गद्गद होना और स्वेदादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल ;
बिन-ही पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल।"८०॥

इसमे वाम नेत्र का फडकना प्रिय-आगम-सूचक समझकर, उत्साह से पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करने मे नायिका के हर्ष की व्यञ्जना है।

"नव गयंद रघुबीर-मन, राजु अलान-समान ;
छूटि जानि बन-गमन सुनि उर अनंद अधिकान।"८१॥

यहाँ बनवास की आज्ञा को सुनकर भगवान श्रीरामचन्द्र के मन की अवस्था वर्णन मे हर्ष भाव की व्यञ्जना है।

(१६) आवेग—भयङ्कर उत्पात एव प्रिय और अप्रिय बात के सुनने आदि से उत्पन्न चित्त की घबराहट आवेग है। इसमे विस्मय, स्तम्भ, स्वेद, शीघ्र गमन, वैवर्ण्य, कम्प आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"सुनत श्रवन वारिधि-बंधाना, दसमुख बोलि उठा अकुलाना—

बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस ,
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस।"८२॥

सेतु बाँधने का समाचार सुनकर रावण के चित्त में व्याकुलता होने मे आवेग की व्यञ्जना है। यह अप्रिय श्रवण-जनित आवेग है।

"'हा लक्ष्मण हा सीते' दारुण, आर्तनाद गूँजा ऊपर,
और एक तारक-सा तत्क्षण टूट गिरा सम्मुख भू पर।
चौंक उठे सब "हरे! हरे!" कह हा! मैंने किसको मारा,
आहतजन के शोणित पर ही गिरी भरत-रोदन-धारा।
दौड पडीं बहु दास-दासियाँ, मूर्च्छित-सा था वह जन मौन,
भरत कह रहे थे सहलाकर—'बोलो भाई तुम हो कौन'।"८३॥

यहाँ सञ्जीवनी जडी को लेकर आते हुये हनुमानजी के ऊपर मार्ग मे राक्षस के भ्रम से छोडे हुए बाण के लगने पर हनुमानजी का आर्तनाद सुनकर भरतजी की तात्कालिक अवस्था के वर्णन मे आवेग भाव की व्यञ्जना है।

(१७) जड़ता—इष्ट तथा अनिष्ट के देखने और सुनने से किंकर्तव्य-विमूढ होजाना जडता है। इसमे अनिमिष होकर (पलक न लगाकर) देखना और चुप रहना इत्यादि अनुभाव होते है। उदाहरण—

"आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि
सोहत सुहाई सीस ईंडुरी सु पट की;
कहै 'पदमाकर' गँभीर जमुना के तीर
लागी घट भरन नवेली नई अटकी।
ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई, तामे
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की,
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की।"८४॥

यहाँ वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रजाङ्गना की दशा के वर्णन मे जडता की व्यञ्जना है।

"कर-सरोज जयमाल सुहाई, विश्व-विजय-सोभा जनु पाई।
तन सँकोच मन परम उछाहू, गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू।
जाइ समीप राम-छवि देखी, रहि जनु कुँवरि चित्र-अवरेखी।" ८५॥

यहाँ जयमाला धारण कराने को श्रीरघुनाथजी के समीप गई हुई सीताजी की दशा के वर्णन में 'जडता' की व्यञ्जना है। यह इष्ट-दर्शन-जन्य जडता है। अनिष्ट-दर्शन-जन्य जडता का उदाहरण—

गर्व भरे आए प्रथम थकित रहे ढिँग तीर ;
अनिमिष-दृग देखन लगे वारिधि वानर वीर ॥८६॥

यहाँ सीताजी की खोज में गए हुए वानर वीरों द्वारा अगाध समुद्र को देखकर और उसको पार करना दुःसाध्य समझकर उनकी—दृष्टि के स्थगित हो जाने में जडता की व्यञ्जना है।

(१८) गर्व—रूप, धन, बल और विद्यादि के कारण उत्पन्न अभिमान ही गर्व है। जहाँ उत्साह-प्रधान गूढ-गर्व होता है, वहाँ वीर-रस की ध्वनि होती है। गर्व में अविनय (नम्रता का अभाव), अवज्ञा आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

मम नैनन नील सरोज गुनैं रु उरोजन कंजकली अनुमानहिँ ;
भ्रम बंधुक-फूलन के अधरान रु पानन पद्म स-नाल सु जानहिँ।
मनि-मोतिन चारु गुही कबरी लखि बंधुन की अवली मन ठानहिँ ;
अतिमंद मिलिंद के वृंद सखी! दुरबार घनो दुख देत न मानहिँ।८७॥

रूप-गर्विता नायिका की अपनी सखी के प्रति इस उक्ति में रूप-जनित गर्व की व्यञ्जना है।

"भीषम भयानक पुकार्‌यौ रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।

कहै 'रतनाकर' रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीँति उठि जायगी ॥
जीति उठिजाइगी अजीत पांडुपूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी ।
कैतौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-पन की प्रतीति उठि जाइगी" ॥८८॥

यहाँ भीष्मजी की इस उक्ति मे गर्व सञ्चारी की व्यञ्जना है ।

(१६) विषाद—आरम्भ किए हुए कार्य की असिद्धि आदि से उत्साह-भङ्ग और अनुताप होना विषाद है । इसमे दीर्घोच्छ्वास, सन्ताप आदि अनुभाव होते हैं । उदाहरण—

"निज शक्ति-भर मै आपकी सेवा सदा करता रहा,
त्रुटि हो न कोई भी कभी, इस बात से डरता रहा ।
सम्मान्य ! मैंने आपका अपराध ऐसा क्या किया,
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया ।
मैं जानता जो पांडवो पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी बेला विकट संताप की ।"८९॥

शकटाकार व्यूह मे अर्जुन के प्रवेश करने पर उत्साह भङ्ग होकर द्रोणाचार्य से कहे हुए दुर्योधन के इन वाक्यो मे विषाद की व्यञ्जना है ।

"ठाढ़े भए कर जोरिकै आगे, अधीन ह्वै पॉयन सीस नवायो ;
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठतें मन भायो ।
देखत ही सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महामद छायो ;
रूठि गयो उठि प्रानपियारो, कहा कहिए तुमहूँ न मनायो ।"९०॥

कलहान्तरिता नायिका की इस उक्ति मे नायक के रूठकर चले जाने पर यहाँ भी विषाद की व्यञ्जना है ।

"ऐसेहु बचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान,
तो प्रभु विषम-वियोग-दुख सहिहहिं पाँवर प्रान।"११॥

श्रीराम-वन-गमन के समय जानकीजी के इन वाक्यों में विषाद की व्यञ्जना है।

(२०) औत्सुक्य—अमुक वस्तु का अभी लाभ हो, ऐसी इच्छा होना औत्सुक्य है। इसमें वाञ्छित वस्तु के न मिलने के विलम्ब का असहन, मन को सन्ताप, शीघ्रता, पसीना और निःश्वास आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

दृग-कंजन अंजन आँजि तथा तन भूषन साजि कहा करि है;
मेहँदी एक हाथ लगी न लगी रहिबे दे सखी! न कछू डरि है।
अरी! बावरी का नहिं जानत तू, मोहिं देखिबे की जु उतावरि है;
ब्रजगोपिन के धन प्रान वही अब आय रहे मथुरा हरि है।१२

यहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा-जन्य औत्सुक्य की व्यञ्जना है।

"मानुष हौंहु वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पसु हौंहु कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौंहु वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र धुरंधर धारन;
जो खग हौंहु बसेरो करौं वहिं कालिंदी-कूल कदंब की डारन।"१३॥

यहाँ ब्रजवास की इच्छा मे औत्सुक्य की व्यञ्जना है।

(२१) निद्रा—परिश्रम आदि के कारण बाह्य विषयों से निवृत्त होना निद्रा है। इसमें जँभाई आना, आँख मिचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई आदि चेष्टाएँ होती हैं। उदाहरण—

कल्ल कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगंधित केलि के कुंजन में;
थकि झूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकैं कच-पुंजन में।

कब देखहुँगी पिय अंक मे पौढ़त लाडिली को मुख रंजन मैं ;
कहियो यह हंस ! वहाँ जब तू नँदनंदन लै कर-कंजन में ।१४॥

ललिता की हस के प्रति इस उक्ति मे राधिकाजी की निन्द्रावस्था की व्यञ्जना है ।

आयो विदेश ते प्रानपिया, अभिलाष समात नही तिय-गात में ;
बीत गईं रतियाँ जगि कै रस की बतियाँ न बिती बतरात मे ।
आनन-कंज पै गंध-प्रलुब्ध लगे करिबे अलि गुंज प्रभात में ;
ताहू पै कंजमुखी न जगी वह सीतल मंद सुगंधित वात में ।१५

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और मुख पर भ्रमरावली के गुञ्जन करने पर भी न जगना अनुभाव है, इससे निद्राभाव की व्यञ्जना है ।

(२२) **अपस्मार**—मानसिक सन्ताप के अत्यन्त दुःख से उत्पन्न एकव्याधि को अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं । अपस्मार एक व्याधि है, पर बीभत्स और भयानक रस मे यह सञ्चारी होता है । उदाहरण—

सुनिके आए मधुपुरी हरि जदुकुल-अवतस ,
बढ्यो स्वास भूतल परयो अति कंपित ह्वै कंस ।१६॥

यहाँ कस राजा की दशा के वर्णन मे अपस्मार की व्यञ्जना है । वियोग-शृङ्गार मे भी अपस्मार की व्यञ्जना देखी जाती है । जैसे—

"उधरि परे हैं नील पल्लव अधर तैसे ,
फैलि रहे साखा बाहु बेसक बहरि परी ,
'उजियारे' कलिका-कपोल फैन फूलि रहे ,
अलकावलि भारी भौंर भीर-सी भहरि परी ।
चारौं ओर छोर कोर-कोर ब्रजबाल ठाढ़ी ,
चित्र की-सी काढ़ी वाढी सोचति सिहरि परी ;

अधिक अधीर ताती तीर की समीर लागैं,
बनिता लता-सी छीन छिति पै छहरि परी।"९७॥

यहाँ वंशी की ध्वनि से उत्कण्ठित होकर शारदीय रासलीला के लिये आई हुई गोपीजनों को जब श्रीकृष्ण ने घर लौट जाने की आज्ञा दी, उस समय की गोपीजनों की दशा के वर्णन मे अपस्मार भाव की व्यञ्जना है। यह प्रिय-वियोग-जनित है।

(२३) सुप्त—स्वप्न ही सुप्त कहा जाता है। उदाहरण—

सुनु लछमण ! हा ! बिन जानकी के तन-दाहक भे घन ये नभ में;
पुनि धीर समीर कदंबन की अति पीर करै धँसिकै तन में।
हरि के मुख सोवत मे निकसी पिछली यह बात अचानक में;
वृषभानुसुता सुनि संकित ह्वै लगी वंक विलोकिबे ता छिन मे।९८

इसमे श्रीकृष्ण की स्वप्नावस्था की व्यञ्जना है।

साँचे हौ, बोलौ न झूठ कबौं, बस छाड़ौ हमारो पिया ! अब आँचर;
प्रेम तिहारो भली विधि सौं हम जानती, यो करती जु निरादर—
ढारत आँखन सो अँसुआ, हौं लखी वह कंजमुखी पलका पर।
तेरे विना निँदिया ! हमैं कौन करावै प्रिया सँग भेट इहाँ पर।९९

पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ के अनुसार कथन करती हुई अपनी मानवती प्रिया को स्वप्न मे देखकर किसी प्रवासी का निद्रा के प्रति कथन है। इसमे स्वप्न की व्यञ्जना है।

(२४) विबोध—निद्रा दूर होने के बाद या अविद्या के नाश होने के बाद चैतन्य-लाभ होना विबोध है। उदाहरण—

तव प्रसाद सब मोह मिटि भो स्वरूप को ज्ञान;
गत-संसय गोविंद ! तव करि हौं वचन प्रमान।१००॥

यहाँ मोह-जन्य अविद्या के नष्ट होने पर ज्ञान प्राप्त अर्जुन के इस वाक्य में विबोध की व्यञ्जना है।

"विषया पर-नारि निशा तरुनाइ सुपाइ पर्यो अनुरागहि रे,
यम के पहरू दुख, रोग, वियोग विलोकत हू न विरागहि रे।
ममता-बस ते सब भूलि गयो, भयो भोर महाभय भागहि रे,
जरठाइ-दिसा रवि-काल उयो, अजहूँ जड जीव! न जागहि रे।"१०१॥
श्रीगोसाईं जी के इस कथन में विबोध की व्यञ्जना है।

(२५) अमर्ष—निन्दा, आक्षेप और अपमान आदि से उत्पन्न चित्त का अभिनिवेश अमर्ष है। इसमें नेत्रों का रक्त होना, शिरःकम्प, भ्रू-भङ्ग, तर्जन और प्रतिकार के उपाय, आदि चेष्टाएँ होती हैं। उदाहरण—

"त्रिया-मात्र ताडका, दीन द्विजराम बिना दल,
मृग सभीत, मारीच वध सु तिहिँ कहाँ कहा बल।
सप्त ताल जड़ जोनि दुंद सो मृतक देह डगि,
बाली साखामृग वराक हति गर्व जु तिहिँ लगि।
को जयौ वीर तै जुद्ध करि, मिथ्या अहमिति बहत मन;
कोदंड-बान संधान कर, रे काकुस्थ! सँभारि रन।"१०२॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र के प्रति रावण का यह तर्जन है। इसमें अमर्ष की व्यञ्जना है।

"खुले केस रजस्वला सभा बीच दुःसासन,
लायो सो पुकार रही सारे सभाचारी को;
आदि आपौ हार्यो किधौं आदि मोकों हार्यो नृप,
करन बिगारी बात बिकरन सुधारी को।

भीम कहै ऐंच्यो चीर तेई भुज ऐंचैं जैहै,
दिखावै है जंघा सो दिखैहौं तोरि डारी को;
द्रुपददुलारी! खुली लटैं कर दैहौं सारी,
एक नृप-नारी ना अनेक नृप-नारी को।"१०३॥

दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण के समय द्रौपदी के प्रति भीमसेन के इन वाक्यों में अमर्ष की व्यञ्जना है।

क्रोध भाव (जो रौद्र रस का स्थायी भाव है) और इस अमर्ष भाव में यह भिन्नता है कि क्रोध की कोमलावस्था (पूर्वावस्था) अमर्ष है, और उसकी उत्कट अवस्था क्रोध।

(२६) अवहित्था[1]—लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाया जाना अवहित्था है। किसी बहाने से दूसरे कार्य में संलग्न हो जाना, मुख नीचा कर लेना आदि इसके अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

सुनि नारद की बात तात निकट ह्वै नमित मुख;
उमा कमल के पात कर उठाय गिनबे लगी।१०४॥

नारदजी द्वारा भगवान् शङ्कर के गुण सुनकर जो हर्ष हुआ, उसे पिता के सम्मुख लज्जा के कारण नम्रमुखी होकर पार्वतीजी द्वारा कमल के पत्रों की गणना के बहाने से छिपाए जाने में अवहित्था की व्यञ्जना है।

"कंपित ह्वै तुव नाम सुनि हिमगिरि-गुहन विपच्छ;
कहत सीत अति है तऊ स्थल यह सुंदर स्वच्छ।"१०५॥

यह किसी कवि द्वारा राजा की प्रशंसा है। राजा के भय से हिमालय

---

१ 'न-बहिस्थं चित्तं येन'। अर्थात्, जिससे चित्त बहिस्थ न हो, उसे अवहिस्थ कहते है—हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृष्ठ९०।

की गुफा मे जाकर छिपे हुए शत्रुओ द्वारा यह कहकर कि हिमाचल पर बडा शीत है, भय-जनित कम्प को छिपाया गया है।

(२७) उग्रता—अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता कही जाती है। इसमे वध, वन्ध, भर्त्सन और ताडन आदि अनुभाव होते हैं। अमर्ष और उग्रता मे यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता रूप नहीं है, पर उग्रता निर्दयता रूप है। क्रोध और उग्रता में यह भिन्नता है कि क्रोध स्थायी भाव है, और उग्रता सञ्चारी भाव अर्थात् जहॉ यह भाव स्थायी रूप से हो वहॉ क्रोध और जहॉ सञ्चारी रूप से हो वहॉ उग्रता कही जाती है[1]। उदाहरण—

"मातु-पितहि जिन सोच बस करसि महीपकिसोर,
गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।"१०६॥

यहॉ लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के वाक्य मे उग्रता भाव की व्यञ्जना है। किन्तु—

"तब सप्त रथियो ने वहॉ रत हो महा दुष्कर्म मे;
मिलकर किया आरंभ उसको बिद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दु.शासन, सुयोधन, शकुनि सुत-युत द्रोण भी;
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविध सभी।"१०७॥

अभिमन्यु पर सात महारथियो का एक साथ प्रहार करने मे यहॉ क्रोध स्थायी रूप से होने से रौद्र रस की व्यञ्जना है—न कि उग्रता सञ्चारी।

---

१ 'तस्य स्थायित्वेनास्याः संचारिणीत्वेनैव भेदात्।' रसगङ्गाधर, पृष्ठ ९०।

"भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥
जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन बिचारे॥
देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्यसिंधु तुम रघुकुल माहीं॥
सत्य सराहि कहेहु वर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ बचनपन राखा॥"१०८

यहाँ दशरथजी के प्रति कैकेयी द्वारा की हुई भर्त्सना में उग्रता की व्यञ्जना है।

(२८) मति—शास्त्रादि के विचार एवं तर्कादि से किसी बात का निर्णय कर लेना ही मति है। इसमें निश्चित वस्तु का संशयरहित स्वयं अनुष्ठान या उपदेश और सन्तोष आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"श्रीनिमि के कुल दासिन हू की निमेष कुपंथ न है समुहाती,
तापर हौं हिय मेरो सुभाव विचार यहै निहचै ठहराती।
'दासजू' भावी स्वयंवर मेरे को बीस बिसै इनके रँगराती;
नातरु साँवरी मूरति राम की मो अँखियान में क्यों गड़ि जाती।"१०९

यहाँ श्रीजनकनन्दिनीजी के वाक्यों में 'मति' की व्यञ्जना है।

"व्याल कराल महाविष पावक मत्त गयंदन के रद तोरे,
सासति संकि चली डरपैहुने किंकर ते करनी मुख मोरे।
नेक विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि के बल हो रे;
कौन की त्रास करै 'तुलसी' जोपै राखि हैं राम तो मारि है को रे।"११०

प्रह्लादजी की रक्षा विभाव है। 'जोपै राखि हैं राम, तो मारि है को रे' अनुभाव है। इनके द्वारा 'मति' की व्यञ्जना है।

"सुनती हो कहा, भजि जाहु घरैं, बिँध जाओगी काम के बानन में;
यह बंसी 'निवाज' भरी विष सों विष-सो भर देत है प्रानन में।

अब ही सुधि भूलि हौ भोरी भटू ! विरमौ जिन मीठी-सी तानन में ;
कुल-कान जो आपुनी राख्यो चहौ, अँगुरी दै रहौ दुउ कानन में।"१११
मुग्धा नायिका को सखी के इस उपदेश में 'मति' की व्यञ्जना है।

जाइबो चाहतु है जमुना तट तो सुनु बात कहौं हितकारी ,
मंजुल वंजुल कुंजन में सखि ! भूलिहू तू जइयो न वहाँ री।
जो उतहू कबौं जा निकसै रखियो यह याद कही जु हमारी ,
वा मनमोहन की मधुरी मुरली-धुनि तू सुनियो न तहाँ री।११२॥

यहाँ भी किसी गोपाङ्गना को उसकी सखी द्वारा दिए गए उपदेश में 'मति' की व्यञ्जना है।

(२६) व्याधि—रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन का सन्ताप ही व्याधि है। इसमें प्रस्वेद,कम्प,ताप आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"पलन प्रकट बरुनीन बढि नहिँ कपोल ठहराइ ,
ते अँसुवा छतियाँ परैं छनछनाइ छिप जाइ।"११३॥

वियोगिनी की इस दशा के वर्णन मे व्याधि की व्यञ्जना है।

(३०) उन्माद—काम, शोक और भय आदि से चित्त का भ्रमित होना उन्माद है। इसमे बेमौके हँसना, रोना और गाना तथा विचार-शून्य वाक्य कहना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली—
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है ,
जूही ! तू है विकच-वदना, शान्ति तू ही मुझे दे।"११४॥

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में जुही लता के प्रति राधिकाजी के इस वाक्य में उन्माद की व्यञ्जना है।

"नाहिनै नंद को मंदिर ये, वृषभानु को भौन, कहा जकती हौ ;
हौं ही अकेली तुही कवि 'देवजू' घूँघट कै किहिँ कौं सकती हौ ?
भेटती मोहि भटू किहिँ कारन, कौन-सी धौं छवि सों छकती हौ ;
काह भयो है, कहा कहौ, कैसी हौ, कान्ह कहाँ है, कहा बकती हौ ?" ११५

श्रीकृष्ण के वियोग मे वृषभानुनन्दिनी की इस दशा में 'उन्माद' की व्यञ्जना है।

(३१) मरण—मरण तो प्रसिद्ध ही है। रौद्रादि रसों मे नायक के वीरत्व के लिये शत्रु के मरण का भी वर्णन हो सकता है[1]। शृङ्गार-रस में साक्षात् मरण की व्यञ्जना अमाङ्गलिक होने के कारण मरण के प्रथम की अवस्था (अर्थात् वियोग-शृङ्गार मे शरीर-त्याग करने की चेष्टा) का ही वर्णन किया जाता है[2]। अथवा मरण का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिये, जिससे शोक उत्पन्न न हो[3]। उदाहरण—

मलयानिल ! यह सुना गया है तेरी गति रुकती न कहीं ;
प्राण-पखेरू उड़ा, साथ ले चल राधा को शीघ्र वहीं।
सब सखियों से कह देना बस सविनय यही वियोग-कथा ;
जीवतेश के धाम गई वह सह न अधिक मधु-विरह-व्यथा। ११६

यहाँ मलय-मारुत के प्रति विरहिणी राधिकाजी के इस कथन मे मरण की प्रथम अवस्था के वर्णन में मरण की व्यञ्जना है।

---

१ 'किन्तु नायकवीर्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते।'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु।

२ 'शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्'—दशरूपक ४। २१।

३ 'मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।'—नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, पृष्ठ ३०८।

"पूछत हौं पछितानै कहा फिरि पीछे ते पावक ही को पिलौगे ;
काल की हाल में बूड़ति बाल विलोकि हलाहल ही को हिलौगे।
लीजिए ज्याय सुधा-मधु प्याय कै न्याय नहीं विष-गोली गिलौगे ;
पंचनि[1] पंच मिले परपंच में वाहि मिले तुम काहि मिलौगे।"११७

यहाँ भी मरण की पूर्वावस्था के वर्णन मे मरण भाव की व्यञ्जना है।

वह भागीरथी-सरजू-जल-संगम-तीरथ में तन त्यागन सों,
झट देवन की गिनती में गिनाय समोद सिधाय विमानन सो।
तहँ पूरव रूपहु सो अधिकी रमनी सँग मंजु बिहारन सों ;
वन-नंदन में करिबे जु बिलास लग्यो नृप पुन्य प्रभावन सों।११८।

इसमे साक्षात् मरण की व्यञ्जना होने पर भी महाकवि कालिदास ने रघुवश मे महाराजा अज के स्वर्ग गमन का शृङ्गार-मिश्रित वर्णन ऐसे ढङ्ग से किया है कि जिससे शोक का आभास भी नहीं होता है।

(३२) त्रास—वज्र-निर्घात, उल्का-पात आदि उत्पातों से और अपने से प्रबल का अपराध करने पर उत्पन्न चित्त की व्यग्रता त्रास है। 'त्रास' सञ्चारी और 'भय' स्थायी मे यह भेद है[2] कि त्रास मे सहसा कम्प होता है, किन्तु भय पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है। उदाहरण—

"चहुँ ओर मरोर सौं मेह परै घनघोर-घटा बनी छाइ गई सी ;
तरराय परी बिजुरी कितहूँ दसहू दिसि मानहु ज्वाल बई सी।

---

१ पञ्चभूतों में पञ्चभूत मिल जाने के बाद अर्थात् प्राणान्त हो जाने के बाद।

२ 'गात्रोत्कम्पो मनः कम्पः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथक् भवेत्'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु।

कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की लखतैं ललना मुरझाय गई सी;
थहराइ गई, हहराइ गई, पुलकाय गई, पल न्हाय गई सी।"११९

यहाँ वज्रनिर्घात-जन्य त्रास की व्यञ्जना है।

"भागे मीरजादे, पीरजादे औ' अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै;
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं परैं,
गोलन पै गोल सूर सहमि सकाय कै।
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि, वेगि—
वलित वितुंड पै विराजि बिलखाय कै;
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि चलैं,
भागि मृग महिष वराह बिलखाय कै।"१२०॥

यहाँ मीरजादे आदि के भागने मे प्रधानतया त्रास की व्यञ्जना है।

(३२) वितर्क—सन्देह के कारण विचार उत्पन्न होना ही वितर्क है। इसमें भ्रू-भङ्ग, शिरःकम्प और उँगली उठाना आदि चेष्टाओं का वर्णन होता है। उदाहरण—

"कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई,
कैधौं पिक-चातक, महीप काहू मार डारे,
कैधौं बगपाँत उत अंत गति ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीतै विधि ने ठई;
मदन-महीप की दुहाई फिरिवे ते रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई।"१२१॥

यहाँ विरहिणी नायिका के इस कथन मे वितर्क की व्यञ्जना है।

प्रेम-निकुंज में रोके कहा ललिता सखि वंक-विलोकन डारि कै ;
कोपित कैधौं बिसाखा किए हरि कौं समुझावत मैं न विचारि कै।
सोचत यों वृषभान-लली चिर लौं मग कुंज गली को निहारि कै ;
लै कर सौं झटकी पटकी भुवि मे गल फूल की माल उतारि कै।१२२

यहाँ राधिकाजी की उत्कण्ठितावस्था मे वितर्क की व्यञ्जना होने पर भी चौथे चरण मे जो विषाद व्यञ्जित होता है वही प्रधान है।

एक मत यह भी है कि वितर्क निर्णयान्त होता है, अर्थात् अन्त में निश्चय हो जाता है[1]।

मुख्य सञ्चारी भाव तो ये ही ३३ हैं। इनके सिवा और भी चित्त-वृत्तियों—भावों—की प्रायः व्यञ्जना होती है। जैसे, मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा और माधुर्य आदि। किन्तु ये सभी भाव उक्त ३३ भावों के अन्तर्गत मान लिए गए हैं। जैसे, मात्सर्य को असूया मे, उद्वेग को त्रास मे, दम्भ को अवहित्थ मे, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कण्ठा को औत्सुक्य मे और धार्ष्ट्य को चपलता के अन्तर्गत माना गया है। इनके सिवा स्थायी भाव भी अवस्था विशेष मे अपने नियत रस से अन्यत्र सञ्चारी हो जाते हैं। यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं

---

१ 'विनिर्णयन्तएवायंतर्कइत्यूचिरे परे'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पृष्ठ २५४।

सकते, और जो विभावादि से सम्बन्ध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है, उस आनन्द के मूल-भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव नौ हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय और (९) निर्वेद या शम।

सञ्चारी भाव अपने विरोधी[1] या अनुकूल[2] भाव से घटते-बढ़ते एवं उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। किन्तु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, इसीलिये ये 'स्थायी' कहे जाते हैं। सञ्चारी भाव स्थायी भावों के अनुचर हैं। रसकी परिपक्व अवस्था में ही रति आदि स्थायी और निर्वेद आदि सञ्चारी भावों की स्थायी और सञ्चारी संज्ञा है—रस के विना ये सभी 'भाव'[3] मात्र हैं। वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं। किन्तु जहाँ स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त नहीं होता वहाँ वह भाव तो रहता ही है, पर उसकी स्थायी संज्ञा न रहकर केवल वहाँ वह भाव मात्र रह जाता है। जो उदाहरण नीचे दिये गये है, वे रति आदि की भाव अवस्था के ही हैं।

(१) रति—रति का अर्थ है प्रीति, अनुराग या प्रेम। शृङ्गार-रस का रति स्थायी भाव है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्री में पुरुष

---

१ विरोधी भाव दूसरे भाव को इस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार अग्नि को जल।

२ अनुकूल भाव दूसरे भाव को इस प्रकार छिपा या दबा देता है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्य प्रकाश को।

३ भावों की अधिक स्पष्टता भाव-प्रकरण में की जायगी।

की और पुरुष में स्त्री की रति ही शृङ्गार-रस में स्थायी मानी जाती है। गुरु, देवता और पुत्रादि में प्रेम होना भी रति है, पर वह रति शृङ्गार-रस का स्थायी नहीं, उसकी केवल भाव सज्ञा है।

रति भाव।

निकसत ही ससि उदधि जिमि धीरज कछु इक छोरि,
गंगाधर देखन लगे बिंबाधर-मुख-गौरि।१२३॥

यहाँ श्रीशङ्कर का पार्वतीजी के मुख के सम्मुख कुछ ही साभिलाष निरीक्षण हुआ है, और सञ्चारी भावों से इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः शृङ्गार-रस का परिपाक नहीं हुआ है। केवल रति-भाव है।

"सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिँगारन को,
तजन लगी है कछु बेस बसवारी की;
चखन लगी है कछु चाह 'पद्माकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी की।
सुंदर गुविंद-गुन गुनन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की,
पगन लगी है लगि लगन हिए सौं नेकु,
लगनु लगी है कछु पी की प्रानप्यारी की।"१२४॥

यहाँ नायक में विश्रब्ध नवोढा नायिका की रति, भाव मात्र है, शृङ्गार का परिपाक नहीं हुआ है।

(२) हास—वचन, अङ्ग आदि की विकृतता देखकर चित्त का विकसित होना हास है। उदाहरण—

"यह मैं तोही में लखी भगति अपूरब बाल,
लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल।"१२५॥

प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई माला के धारण करने से नायिका के रोमाञ्चित हो जाने पर नायिका के प्रति सखी के इस विनोद में 'हास'-भाव की व्यञ्जना है।

"कबहूँ नहिं कान सुने हमने यह कौतुक मंत्र विचार के हैं ;
कहि कैसे भए करि कौने दए सिखए कोउ साधु अपार के हैं।
कवि'ग्वाल'कपोल तिहारे अली ! दुहुँ ओर मे बाग बहार के हैं ;
चमकैं ये चुनी-सी चुनी इतमे, उतमें पके दाने अनार के हैं।"१२६।

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति मे हास के अङ्कुर-मात्र की व्यञ्जना है। हास का परिपाक नहीं है।

(३) शोक—इष्ट जन के एवं विभव के विनाश आदि कारणो से चित्त का व्याकुल होना शोक है। जहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक वियोग में जीवित अवस्था का ज्ञान रहते हुए चित्त की व्याकुलता होती है, वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार मे शोक स्थायी भाव नहीं रहता है, किन्तु सञ्चारी भाव हो जाता है। उदाहरण—

"राम के राज-सिँहासन बैठत आनँद की सरिता उमही है ;
त्यो 'नँदरामजू' राजसिरी सियराम के आनन राजि रही है।
भूषण हार भँडार लुटावत कौसिला कामद बानि गही है ;
कैकई के पछितावं यहै इहिँ औसर औध-भुवाल नहीं है।"१२७

यहाँ श्रीरामराज्याभिषेक के आनन्दोत्सव मे दशरथजी के न होने का कैकेई को पश्चाताप होने मे शोक उद्‌बुद्ध मात्र है।

"भौंरन को लैके दच्छिन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौं कितै रहे ;
कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल वसंत मति—
मंत मेरे कंत के सहायक जितै रहे।
लागत विरह-ज्वर जोर तैं पवन ह्वै कै,
परे घूमि भूमि पै सम्हारत नितै रहे ;

रति को बिलाप देखि करुनाअगार कछु

लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चितै रहे ।"१२८॥

कामदेव के भस्म हो जाने पर रति की विकलता देखकर श्रीशङ्कर के हृदय में करुणा उत्पन्न होने मे शोक भाव है। 'कुछ' शब्द अपूर्णता-सूचक है, अतः करुण का परिपाक नहीं हुआ है।

(४) क्रोध—गुरु और वन्धुजनों के वध करने के अपराध आदि से एव कलह, विवाद आदि से क्रोध उत्पन्न होता है। जहाँ साधारण अपराध के कारण क्रूर वाक्य कहे जाते हैं, वहाँ 'अमर्ष' सञ्चारी भाव होता है। उदाहरण—

भीषम-रन-कौसल निरखि मान न जिय कछु त्रास ;

भृगुनंदन के दृगन मे भयो अरुन आभास।१२९॥

यहाँ भीष्मजी के साथ युद्ध करते समय, परशुरामजी के नेत्रों मे अरुणता के आभास मे क्रोध भाव की व्यञ्जना है।

(५) उत्साह—कार्य करने में आवेश होने को उत्साह कहते हैं। यह धैर्य और शौर्यादि से उत्पन्न होता है। उदाहरण—

भट-हीन मही मिथिलेस कही, सो सुनी सहि क्यों निज वंस लजाऊँ,
यह जीरन चाप चढ़ाइबो का , सिसु-छत्रक ज्यो छिन माँहि तुराऊँ।
भुवि-खंड कहा ब्रहमंड अखंड , उठा कर-कंदुक लौं जु भ्रमाऊँ;
रघुराज को हौं लघु डावरो हूं , प्रभु! रावरो जो अनुसासन पाऊँ।१३०

यहाँ उत्साह भाव की व्यञ्जना है। 'रावरो जो अनुसासन पाऊँ' के कथन से वीर-रस की अभिव्यक्ति मे अपूर्णता है।

"तेरी ही निगाह को निहारते सुरेस सेस ,

गिनती कहा है और नृपति बिचारे की ;

को हो तिहुँलोकन में राजा दुरजोधन ! जो ,

करतो बिनै ना आन चर्नन तिहारे की ;

'बेनी द्विज' रन में पुकारि कहै भीषम यों,
देखतो बहार बीर बानन हमारे की;
छाँह पांडु-दल की ना दिखाती या दुनी में कहूँ,
होती ना पनाह जो पै पीत पटवारे की।"१३१॥

भीष्म के इन वाक्यों में उत्साह-भाव की व्यञ्जना है। "होती न पनाह जो पै पीत पटवारे की" कथन से वीररस का परिपाक रुक गया है।

(६) भय—सर्प, सिंह आदि हिंसक प्राणियो के देखने पर और प्रबल शत्रु आदि से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है। उदाहरण—

कालो-हृद कालो लख्यो वनमाली ढिंग आतु;
मंद-मंद गति भीत ज्यो चलन लग्यो विकलातु।१३२॥

यहाँ 'भीत ज्यों' के कथन से 'भय' भाव-मात्र की व्यञ्जना है। भयानक रस का परिपाक नहीं।

"निज चित्त मे कर सूर्य साक्षी, द्रौपदी ने यो कहा—
अतिरिक्त पतियो के कभी कोई न इस मन में रहा।
भगवान्! तुम्ह संतुष्ट हो जो जानकर इस मर्म को,
तो दुष्ट कीचक कर न पावै नष्ट मेरे धर्म को।"१३३॥

सुदेष्णा द्वारा प्रेषित कीचक के समीप जाती हुई द्रौपदी के इन वाक्यों मे 'भय'-भाव की व्यञ्जना है, भयानक रस नहीं है।

(७) जुगुप्सा—घृणित वस्तु को देखने आदि से घृणा उत्पन्न होना जुगुप्सा है। उदाहरण—

सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल,
तिय-सुभाव सिय हठि कछुक मुख फेरयो तिहिँ काल।१३४॥

यहाँ 'कछुक मुख फेरयो' के कथन से जुगुप्सा भाव की व्यञ्जना है। वीभत्सरस का परिपाक नहीं हुआ है।

(८) **विस्मय**—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से आश्चर्य उत्पन्न होना विस्मय है। उदाहरण—

सुर नर सब सचकित रहे पारथ को रन देखि ,
पै न गिन्यो जदुनाथ अति करन-पराक्रम पेखि।१३५॥

यहाँ अर्जुन के रण-कौशल के विषय मे विस्मय भाव-मात्र की व्यञ्जना है। 'पै न गिन्यो' के कथन से अद्भुत रस का परिपाक नहीं हो सका है।

(६) **शम अथवा निर्वेद**—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से विषयों मे वैराग्य उत्पन्न होना 'शम' है। उदाहरण—

सबहि सुलभ नित विषय-सुख क्यो तू करतु प्रयास ,
दुर्लभ यह नर-तन समुझि करहु न वृथा बिनास।१३६॥

वैराग्य का उपदेश होने से यहाँ निर्वेद भाव-मात्र है, शान्त रस नहीं है।

जहाँ इष्ट-वियोगादि से उत्पन्न निर्वेद होता है, वहाँ उस निर्वेद की सञ्चारी सज्ञा है। यह पहले कहा जा चुका है।

'रति' आदि भाव शृङ्गार आदि नवो रसो के स्थायी भाव हैं। जैसे, (१) शृङ्गार का रति, (२) हास्य का हास, (३) करुण का शोक, (४) रौद्र का क्रोध, (५) वीर का उत्साह, (६) भयानक का भय, (७) वीभत्स का जुगुप्सा, (८) अद्भुत का विस्मय और (६) शान्त रस का निर्वेद। इस प्रकार प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव नियत है। ये नौ भाव अपने-अपने नियत रस मे ही स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। क्योकि इनकी अपने-अपने रस मे ही अन्त तक (रसानुभव होता रहे तब तक) स्थिति रहती है। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस मे इनमे से कोई भाव उत्पन्न होता है तो वह वहाँ स्थायी न रहकर व्यभिचारी हो जाता है। उसकी स्थिति वहाँ स्थायी रूप मे अन्त तक नहीं रहती—वहाँ वह उत्पन्न और विलीन होता रहता

है। जैसे, 'रति' शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है, वह वहाँ तो स्थित रहता है, किन्तु हास्य, करुण एवं शान्त रस मे उत्पन्न और विलीन होता रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार शृङ्गार और वीर रसमे 'हास'; वीर-रस मे 'क्रोध'; शान्त और भयानक मे 'जुगुप्सा'; रौद्र रस मे 'उत्साह', शृङ्गार-रस मे 'भय', सञ्चारी हो जाता है। 'विस्मय' अद्भुत के सिवा अन्य सभी रसों मे सञ्चारी हो जाता है[1]।

जब रति आदि भावो का नियत रस मे प्रादुर्भाव होता है, तब ये विभावअनुभावादि द्वारा रस अवस्था को पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में इन स्थायी भावो एवं रसो मे कोई भिन्नता नहीं रहती। रसो के जो लक्षण आगे दिखाये जायँगे वे इन स्थायी भावो के लक्षण भी हैं। इसलिये केवल इनकी अपरिपक्व अवस्था के ही उदाहरण ऊपर दिये गये है।

इस विषय मे यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब रति आदि भाव भी अपने नियत रस के सिवा अन्य रसो मे सञ्चारी (व्यभिचारी) हो जाते हैं, फिर इन्हे ही स्थायित्व का महत्त्व क्यो? निर्वेदादि अन्य सञ्चारी भावो को क्यों नहीं? भरत मुनि कहते है—"सभी मनुष्यों के हाथ-पैर आदि समान होने पर भी कुल, विद्या और शील आदि के कारण कुछ मनुष्य राजत्व को प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार विशेष गुणशाली होने के कारण—रस अवस्था को प्राप्त करने की सामर्थ्य होने के कारण—रति आदि ही स्थायित्व की प्रतिष्ठा के योग्य हैं।"

---

१ 'रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः;
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः।'—अलङ्कार-रत्नाकर

उद्योत-सहित काव्यप्रदीप, आनन्दाश्रम-संस्करण, सन् १९११, पृष्ठ १२३-१२४ और ३८१।

स्थायी भाव अपने नियत रस से अन्यत्र—दूसरे किसी रस—में व्यभिचारी हो जाने पर भी वे अपने-अपने रस के स्थायित्व के विशेषाधिकार से च्युत नहीं होते। जैसे किसी विशेष प्रान्त के राजा के अन्यत्र जाने पर, वहाँ उसकी शासन-शक्ति न रहने पर भी वह अपने प्रान्त का राजा बना रहता है।

स्थायी भावों की रस अवस्था

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है[1]। व्यक्त का अर्थ दूसरे रूप में परिणत हो जाना है। जैसे, दूध से दही। इसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जो सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना रूप से पहले से ही स्थित रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही परिपुष्ट होकर रसरूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नवीन पात्र में यद्यपि गन्ध पहले से ही विद्यमान रहती है, तथापि प्रतीत नहीं होती, किन्तु जल के संयोग से व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय जनों के हृदय में पूर्वानुभूत (पहले अनुभव किए हुए) रति आदि मनोविकार अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं, किन्तु काव्य के श्रवण या पढ़ने से अथवा नाटक के देखने से उन रति आदि मनोविकारों में विभावादि का (शकुन्तला आदि के वर्णन या दृश्य का) संयोग होने से वे रति आदि भाव जाग्रत हो जाते हैं, और आनन्दानुभव होने लगता है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

रस की अभिव्यक्ति

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रति आदि स्थायी भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप बतलाए गए हैं, किन्तु इनको यह कारण, कार्य और सहकारी कारण नाम में पृथक्-पृथक्

---

1 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।'
—काव्यप्रकाश, ४ २८।

प्रतीति रस के उद्बोध की प्रथमावस्था में ही होती है—रस के उद्बोध के समय यह पृथक्ता प्रतीत नहीं होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा (जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी) ये तीनो समूह-रूप से रस को व्यक्त करते हैं, अतएव उस समय ये तीनो समूह-रूप से कारण रूप हो जाते हैं—अर्थात् रस के आनन्दानुभव के समय ये तीनो अपनी पृथक्ता को छोड़कर, समूह-रूप से संयोग पाकर, स्थायी भाव को, प्रपानक रस की तरह, अखण्ड रस-रूप में परिणत कर देते हैं। जैसे जल में डालने के प्रथम चीनी, मिरच, हींग, नमक और जीरे आदि का स्वाद भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु इन सबके मिलने पर उनका वह भिन्नत्व न रहकर जीरे के जल की तरह प्रपानक रस (पिये जानेवाले पदार्थ) का एक विलक्षण आस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखण्ड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि विभावादि के सम्मिलित होने पर ही उनके व्यञ्जनीय रस की व्यञ्जना हो सकती है। केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव स्वतन्त्र रूप से किसी रस की व्यञ्जना नहीं कर सकते। क्योंकि, विभाव आदि स्वतन्त्र रूप से किसी रस के नियत नहीं हैं। जैसे, सिंह आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होने से, भयानक रस में, आलम्बन विभाव होते हैं, किन्तु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलम्बन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलम्भ-शृङ्गार के अनुभाव हैं। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिन्ता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार के सञ्चारी हैं। भय और शोक में भी चिन्ता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के

भी ये सञ्चारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रहकर किसी विशेष रस के व्यञ्जक नहीं हो सकते। जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी समूह रूप मे एक साथ जिस विशेष रस के होते हैं, वे ज्यो-के-त्यो मिले हुए कसी भी दूसरे रस मे नही हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनो के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इसीसे रस विभावादि समूहालम्बनात्मक है।

यद्यपि किसी किसी वर्णन मे कहीं अनुभाव और सञ्चारी के विना केवल विभाव, कहीं विभाव और सञ्चारी के विना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के बिना केवल सञ्चारी ही दृष्टिगत होते है, और वहाँ भी रस की व्यञ्जना होती है। इस अवस्था मे यद्यपि यह प्रश्न होता है कि विभावादि तीनो के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, या अनुभाव अथवा सञ्चारी ही होते है वहाँ भी रस की व्यञ्जना तो विभावादि तीनो के समूह द्वारा ही होती है। विभावादि मे से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यञ्जनीय रस का असाधारण सम्बन्धी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यञ्जना नहीं होने देता। और उस एक भाव से अन्य दो भावो का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यञ्जनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावो का बोध करा देता है। जैसे—

केवल विभाव के वर्णन का उदाहरण—

नभ में घनघोर ये स्याम घटा अति जोर भरी घहरान लगी,
पिक, चातक, मोरन की धुनिहू चहुँओरन धूम मचान लगी;
मलयानिल सीतल मंद अली! मदनानल को धधकान लगी,
निरखै किन पीतम पायँ परे? रहि है कबलौं अब मान-पगी?१३७।

मानिनी नायिका के प्रति सखी के ये वाक्य हैं। यहाँ यद्यपि 'नायिका' आलम्बन-विभाव और 'वर्षा-काल' उद्दीपन विभाव है, अनुभाव

तथा सञ्चारी भाव नहीं हैं, पर 'मानिनी नायिका' विप्रलम्भ-शृङ्गार का असाधारण आलम्बन-विभाव है—इसके द्वारा दूसरे किसी रस की व्यञ्जना नहीं हो सकती। अतः यहाँ केवल आलम्बन और उद्दीपन विभावों के बल से अङ्गों का वैवर्ण्य होना आदि अनुभाव और चिन्ता आदि सञ्चारी भावों की आवश्यक प्रतीति हो जाती है। क्योंकि वर्षाकालिक कामोद्दीपक विभावों द्वारा वियोगावस्था में चिन्ता आदि मनोविकार और विवर्णता आदि चेष्टाओं का होना अवश्यम्भावी है। अतएव विभावादि तीनों के समूह से यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति है।

केवल अनुभावों के वर्णन का उदाहरण—

कर-मर्दित मंजु मृनालिनि ज्यों दुति अंगन की मुरझाय रही,
सखियान ही के समुझावन सों कछु काम में चित्त लगाय रही;
नव-खंडित दंतिन दंतन-सी[1] त्यों कपोलन पीतता छाय रही,
निकलंक मयंक[2]-कला-छवि की समता तनुता तन पाय रही।१३८॥

यह मालतीमाधव नाटक में मालती की विरहावस्था का वर्णन है। यहाँ अङ्गों का मुरझाना, अलसित होना, कपोल पीत हो जाना, आदि वियोगावस्था के केवल अनुभाव हैं—आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भाव नहीं है। उक्त अनुभावों के बल से 'वियोगिनी नायिका' रूप आलम्बन विभाव का और चिन्ता आदि सञ्चारी भावों का आक्षेप हो जाता है। क्योंकि अङ्गों का मुरझाना आदि चेष्टाएँ (जो कि अनुभाव हैं) वियोग-दशा में चिन्ता आदि से ही उत्पन्न होती हैं। अतएव यहाँ विभावादि तीनों के समूह से वियोग-शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल व्यभिचारी भावों के वर्णन का उदाहरण—

दूर दिखराए उतकंठ सों भराए घने,
आवत हो नेरे फेर वैसे सतराए हैं;

१ तुरत के कटे हुए हाथी के दाँत के समान। २ चन्द्रमा।

बोलैं विकसाए, अरुनाए हैं छुवातु गातु,
खैंचत दुकूल भौंह साथ कुटिलाए हैं।
विनै सो मनाए तो हू क्यों हूँ समुहाए नाहिँ,
चरन निपात भए आँसुन भराए हैं;
पीतम हताश ह्वै कै जात फिरि आवत ही,
मानिनी के दृगन अनेक भाव छाए हैं।१२६॥

मानिनी नायिका को मानमोचन के उपायों से प्रसन्न करने में निराश होकर जाता हुआ नायक जब लौटकर आया, उस समय नायिका के अनेक भाव-गर्भित नेत्रों का यह वर्णन है। मानिनी नायिका को प्रसन्न करने में हताश होकर जाते हुए नायक के दूर रहने तक नायिका के नेत्र इस शङ्का से कि 'वह यहाँ लौट आता है या चला ही जाता है' उत्सुक हुए; उसके लौटकर समीप आने पर इस लज्जा से कि 'यह मेरी उत्सुकता को जान गया' वे टेढे बन गये, जब वह सम्भाषण करने लगा, तब उसकी अपूर्व बातें सुनकर हर्ष से वे विकसित अर्थात् प्रफुल्लित दिखाई पड़ने लगे; जब वह स्पर्श करने लगा, तब इस अमर्ष से कि 'मुझे प्रसन्न किए विना ही स्पर्श करना चाहता है' क्रोध से रक्त हो गए; जब नायिका क्रुद्ध होकर जाने लगी, तब अपने वस्त्र को पकडता हुआ उसे देखकर असूया से भौंहों के साथ वे भी टेढ़े हो गए, आखिर जब नायक उसके पैरों पर गिर पडा, तब इस भाव से कि 'तुम्हारे इन आचरणों से मैं तङ्ग हो गई हूँ' नायिका के आँसू गिरने लगे। यहाँ उत्सुकता, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया और प्रसाद केवल व्यभिचारी भाव ही हैं—विभाव अनुभाव नहीं[1] हैं। इन व्यभिचारियों द्वारा ही सम्भोग-शृङ्गार के विभाव, अनु-

---

१ यद्यपि यहाँ 'नायक' आलम्बन-विभाव का वर्णन तो है, पर उसके अपराधी होने के कारण उसे सम्भोग-शृङ्गार का आलम्बन-विभाव नहीं माना जा सकता है।

भावो का आक्षेप हो जाता है, और इन सबके समूह से सम्भोग-शृङ्गार व्यक्त होता है।

इस प्रकार जहाँ स्पष्ट रूप मे, केवल विभाव या केवल अनुभाव या केवल व्यभिचारी होता है, वहाँ उपर्युक्त रीति से अन्य दो भावो का आक्षेप होकर तीनो के समूह से ही रस की व्यक्ति हुआ करती है।

रस का आस्वाद

रति आदि मनोविकार नायिक-नायकादि आलम्बन विभावो में उत्पन्न होते हैं और विभावादि के संयोग से रस रूप हो जाते हैं। अतः रस का आनन्दानुभव भी नायक-नायिकादि को ही होना चाहिये, दर्शक या पाठकों को नहीं। काव्य और नाटको मे जिन पूर्वकालीन दुष्यन्त-शकुन्तलादि के चरित्र का वर्णन या अभिनय होता है, वे सामाजिकों[1] के सामने नहीं रहते, न उनसे सामाजिको का कुछ सम्बन्ध ही है और न सामाजिकों से उनका कभी साक्षात् ही हुआ है। ऐसी अवस्था मे दुष्यन्त आदि की रति का आनन्द, अर्थात् रस का आस्वाद, सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? इस विषय का संस्कृत के साहित्याचार्यों ने बहुत ही गम्भीर विवेचन किया है। भरतमुनि कहते हैं कि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[2]।"

भरतमुनि के इस सूत्र को आधारभूत मानकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् मत का प्रतिपादन किया है।

---

१ काव्य के पाठक एवं श्रोता तथा नाटक के दर्शक ही सामाजिक कहे जाते हैं।

२ देखो नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या अभिनव भारती-गायकवाड संस्करण, पृष्ठ २७४ एवं काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास, रस प्रकरण।

भट्ट लोल्लट का आरोपवाद

भरतमुनि के इस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट का कहना है कि दुष्यन्त-शकुन्तला के अभिनय मे दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम (रति आदि मनोविकारों) का जो आनन्दानुभव सामाजिकों को होता है, वह वास्तव मे दुष्यन्त आदि मे ही उद्भूत हुआ था अर्थात् उसका वास्तविक आनन्द उन्हें ही हुआ था, न कि नाट्य पात्रो को। परन्तु नाट्य पात्रो मे दुष्यन्त आदि का सामाजिक आरोप[1] कर लेते हैं अर्थात् दुष्यन्त आदि और नाट्य पात्रों मे भिन्नता का अनुभव होते हुए भी नाट्य पात्रों को वास्तव में दुष्यन्त आदि न समझते हुए भी, नाट्य पात्रों को दुष्यन्त आदि मान लेते हैं और रसानुभव करने लगते हैं।

श्रीशङ्कुक का अनुमानवाद

भरत सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्रीशङ्कुक[2] भट्ट लोल्लट के मत को भ्रममूलक बताते हैं। उनका कहना है कि नाट्य पात्रो मे दुष्यन्त आदि का सामाजिक अनुमान करते हैं, न कि आरोप। अर्थात् नाट्य पात्रो में और दुष्यन्त आदि में अभिन्नता का अनुभव करते हुए नाट्य

---

१ किसी वस्तु में उससे भिन्न अन्य किसी वस्तु के धर्म की बुद्धि कर लेने को आरोप कहते हैं। अर्थात्, एक वस्तु को दूसरी वस्तु मानना जो वास्तव में नहीं है। जैसे, नट को दुष्यन्त न होने पर भी दुष्यन्त समझ लेना।

२ देखो नाट्यशास्त्र पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या अभिनव-भारती—गायकवाड़ संस्करण पृष्ठ २७४ एवं काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास, रस प्रकरण।

पात्रो में ही दुष्यन्त आदि का अनुमान कर लेते हैं। और यह अनुमिति-ज्ञान सामाजिको को रस का आस्वादन कराता है।

अपने इस मत के प्रतिपादन मे श्रीशङ्कुक कहते हैं—

(१) जिनमे रति आदि मनोविकार होगे, उन्हें ही रस का आस्वादन होगा। दुष्यन्त-शकुन्तला आदि मे उद्भूत रति आदि स्थायी भावो का दर्शको को कैसे आस्वाद हो सकता है ? यह कहना कि दुष्यन्त-शकुन्तला का ज्ञान ही सामाजिको को रस का आस्वादन कराता है, युक्ति-युक्त नहीं। क्योकि यदि दुष्यन्त आदि के ज्ञान-मात्र से ही रस का अनुभव होने लगे तो उनके नामोच्चारण से ही रस का आस्वाद होना चाहिए— सुख का नाम लेने से ही सुख होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता है।

(२) ससार मे चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं[1] उनके अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है। वह है उपरोक्त अनुमान। जैसे किसी वस्तु के चित्र को देखकर उस वस्तु का अनुमान करना। अर्थात् जैसे घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोडा है' यह ज्ञान होना। इसी चित्र-तुरग-न्याय[2] से उपर्युक्त 'अनुमान' होता है।

(३) शिक्षा और अभ्यास द्वारा अनुकरणीय[3] चेष्टाओं मे नट,

---

१ क—सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान। जैसे, देवदत्त को देवदत्त समझना।
ख—मिथ्या ज्ञान। जैसे, जो देवदत्त नहीं है, उसको देवदत्त समझना।
ग—संशय ज्ञान। जैसे, यह देवदत्त है या नही ?
घ—सादृश्य ज्ञान। जैसे, यह देवदत्त के समान है।

२ चित्र में लिखे घोडे को देखकर उसको 'यह घोडा है' ऐसा ही सब कहते हैं, न कि यह घोडे जैसा है।

३ शकुन्तलादि की चेष्टाओ की नक़ल करने मे।

निपुण होता है अतः अभिनय के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि 'मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ'। उस समय वह अपने को दुष्यन्तादि ही समझने लगता है। और उनकी सारी अवस्थाओं को भी वह अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास और—

"दृग चौंकत कोए चले चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू,
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू;
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू,
हम खोजत जाति ही पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।१४०।"

इत्यादि काव्य के अनुसन्धान से वह विभावादिकों को प्रकट करता है, जिससे नट की चेष्टाएँ कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होती हैं, और दुष्यन्तादि की रति आदि भावो का सामाजिक अनुमान करने लगते हैं। वे रति आदि दुष्यन्तादि के ज्ञान से ही अनुमान करते हैं, परन्तु रति आदि स्थायी भावों के चमत्कार के प्रभाव से, सामाजिकों में रति आदि स्थायी वस्तुतः न होने पर भी, उनको रस का आनन्दानुभव होने लगता है। इसी प्रकार नट भी यद्यपि दूसरो का अनुकरण ही करते हैं, परन्तु शिक्षा और अभ्यास के प्रभाव से वे भी अनुकृति के समय 'हम किसी का अनुकरण कर रहे हैं' ऐसा अनुसन्धान नहीं रखते। अतएव उनको भी रसास्वाद होने लगता है।

भट्ट नायक का भोगवाद

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक[1] श्रीशङ्कुक के मत का खडन करते हैं। उनका कहना है कि अनुमान ज्ञान की कल्पना

1 देखो, नाट्यशास्त्र पर श्री अभिनवगुप्तचार्य की व्याख्या अभिनवभारती-गायकवाड संस्करण एवं काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास संस्करण पृ० २७८ रस प्रकरण।

सर्वथा निस्सार है। एक व्यक्ति में उद्भूत रस का अन्य व्यक्ति अनुमान से आस्वादन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान से ही आस्वादन कर सकता है। रसास्वाद भी प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है। रस का न तो नाट्य पात्रों में अनुमान ही होता है, और न अनुमान से सामाजिको को अपने में स्थित हुआ रस प्रतीत होता है। वास्तव में सामाजिको को भोगात्मक रसास्वाद होता है। भट्ट नायक अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्य की क्रियाएँ रस के उद्बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावना और भोग।

'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

'भावना का व्यापार है साधारणीकरण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति मे उद्भूत रति आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर, सामान्य रूप मे प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला आदि के प्रेम से उनका (दुष्यन्त-शकुन्तला आदि का) व्यक्तिगत सम्बन्ध न रहकर सामान्य दाम्पत्य प्रेम की प्रतीति होना।

'भोग' व्यापार से, भावना के महत्त्व द्वारा, साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिको को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है—सत्त्वगुण के उद्रेक[1] से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनन्द का ज्ञान[2]—आनन्द का अनुभव। यह आनन्दानुभव वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्य है। अर्थात् अन्य

---

१ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक या प्राधान्य का अर्थ है अपने से भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण, तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का प्रभाव आनन्द का प्रकाश करना है। और उस आनन्द का अनुभव 'भोग' है।

२ 'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तिः'।

सम्बन्धी ज्ञान से रहित है, अतएव लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, और भोग-व्यापार द्वारा इसका आस्वाद होता है।

भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य-नाटको के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ मे आता है, फिर उसकी भावना अर्थात् चिन्तन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि काव्य-नाटको मे जो सुना और देखा जाता है, वह किसी दूसरे से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्त्वगुण के उद्रेक और आत्मचैतन्य से प्रकाशित[1] साधारणीकृत रति आदि स्थायी भावो का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।

---

१ 'आत्मचैतन्य से प्रकाशित' कहने का भाव यह है कि आत्मा और अन्तःकरण दो दर्पण रूप हैं। उनमें आत्मा रूप दर्पण चैतन्य-मय आनन्द-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है, और अन्तःकरण रूप दर्पण रजोगुण एवं तमोगुण के आवरण से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से, रजोगुण और तमोगुण दब जाने से, वह (अन्त.करण रूप दर्पण) भी स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अन्तःकरण रूप दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनन्द-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिम्ब या प्रकाश पड़ता है तो वह भी आनन्द-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में अभिमुख वस्तु के प्रतिबिम्ब के पडने से दर्पण का तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य का व्यक्तिवाद

अभिनव गुप्ताचार्य[1] और आचार्य मम्मट, भट्ट नायक के मत को निराधार कहते हैं। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि का व्यंग्य-व्यञ्जक (प्रकाश्य और प्रकाशक) सम्बन्ध है, अर्थात् सामाजिकों के अन्तःकरण मे जो रति आदि मनोबिकार पहले से ही वासना[2] रूप में स्थित रहते हैं, वे विभावादि के संयोग से व्यञ्जना-वृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा जाग्रत् हो जाते हैं, यही रसास्वाद है।

ये महानुभाव भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को मानते हैं, किन्तु इनका कहना है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दो द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही[3]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित होकर ही हो सकती है, अर्थात् ये

---

१ देखो नाट्यशास्त्र पर श्री अभिनव गुप्ताचार्य की व्याख्या अभिनव-भारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २७४—२८१ एवं ध्वन्यालोक, निर्णय-सागर प्रेस संस्करण, पृ० ६७—७० एवं काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, रस प्रकरण।

२ पहले किसी समय की अपनी रति (प्रेम-व्यापार) आदि के आनन्द के अनुभव का अपने अन्तःकरण में जो संस्कार हो जाता है, उसी संस्कार को वासना कहते है।

३ 'न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्'…… भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते'—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ७०।

भी अन्ततः व्यञ्जना पर ही अवलम्बित है[1]। निष्कर्ष यह कि उनके अनुसार साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं है, किन्तु व्यञ्जना का विभावन व्यापार है। साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक[2] विभावादिकों में 'ये मेरे ही हैं' या 'ये दूसरे के हैं' अथवा 'ये मेरे नहीं हैं' या 'ये दूसरे के नहीं हैं' इस प्रकार के किसी विशेष सम्बन्ध का अनुभव नहीं करते। अर्थात् अपने को और काव्य-नाटकों के दुष्यन्त-शकुन्तलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं, उनको 'मैं दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं रहता, और न यही ज्ञान रहता है कि 'मैं अपने प्रेम-व्यापार का आनन्दानुभव कर रहा हूँ' अर्थात् सामाजिक काव्य-नाटकों के विभावों के प्रेम-व्यापार का आनन्दानुभव अभिन्नता से करते हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को काव्य-नाटकों के दुष्यन्तादि विभावों में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार आदि की प्रतीति होती है तो ऐसा होने में लज्जा और पापाचरण[3] आदि दोष आते हैं, और यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को दुष्यन्तादि के प्रेम-व्यापार का ही आनन्दानुभव होता

---

१ त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत् (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ७०)

२ अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मट के मतानुसार सहृदय 'सामाजिक' काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं जो नायक-नायिका की चेष्टा आदि से उनकी पारस्परिक रति आदि का अनुभव करने में सुदक्ष होते हैं और जिनको तत्काल ही नाटकादि में प्रदर्शित और वर्णित पात्रों की रति आदि का अनुभव हो जाता हो।

३ शकुन्तला आदि सम्मान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण है।

है तो प्रथम तो साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण अन्यदीय प्रेम-व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनन्दानुभव हो ही नहीं सकता, दूसरे अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निन्द्य है और ऐसी दशा मे काव्य-नाटकों द्वारा आनन्दानुभव कहाँ ? अतएव रस के व्यक्त करने वाले जो विभावादि हैं उनमे जो रस प्रकट करने की शक्ति है वही व्यक्तिगत विशेष सम्बन्ध को हटाकर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण है। इस प्रकार साधारणीकरण का महत्व अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य को भी मान्य है। किन्तु ये उसे भावना का व्यापार न मानकर व्यञ्जना का व्यापार मानते हैं। अर्थात् जैसे मिट्टी के नवीन पात्र मे गन्ध पहले से ही रहती है पर वह अव्यक्त (अप्रकट) होती है, प्रतीत नहीं होती, किन्तु जल का संयोग होते ही वह तत्काल व्यक्त (प्रकट) हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिकों के अन्तःकरण मे रति आदि की वासना पहले से ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है और वह काव्य-नाटको के विभावादि व्यञ्जकों के संयोग से अभिव्यक्त (जाग्रत्) हो जाती है, और वासना का जाग्रत् होना ही रसास्वाद है।

रस अलौकिक है

दुष्यन्त-शकुन्तलादि आलम्बन विभाव, चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अनुभाव एवं व्रीड़ा आदि सञ्चारी यद्यपि लौकिक हैं, तथापि काव्यनाटकों के अन्तर्गत होने से उनमे विभावन आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिकों को अलौकिक कहते हैं। जब विभावादि अलौकिक है तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिये, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि उक्त अलौकिक विभावादि के द्वारा शृङ्गारादि लौकिक रस क्योंकर व्यक्त हो सकते हैं। इस शङ्का का निवारण निम्नलिखित विवेचना से हो जाता है और यह सिद्धि हो जाता है कि रस का चमत्कार वास्तव में अलौकिक ही है।

(१) शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि के हृदय में जो रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दाम्पत्य रति थी—इसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने के कारण वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य-नाटकों में दुष्यन्त-शकुन्तलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने के कारण (पररहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण) रस-स्वाद के अयोग्य हो जायगी। वास्तव में काव्य-नाटकों में दुष्यन्त-शकुन्तलादि की रति, विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा अपने पराएपन के भेद से रहित होकर—लज्जास्पद न रहकर—रस का आस्वाद कराती है, अतएव रस अलौकिक है।

(२) दुष्यन्त-शकुन्तला आदि में जो रति उत्पन्न हुई उसका आनन्द दुष्यन्त-शकुन्तलादि तक ही सीमित था। किन्तु काव्य-नाटकों में विभावादि द्वारा प्रदर्शित रति-स्थायी भाव, जो रस-रूप में व्यक्त होता है, दुष्यन्तादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टाओं के द्वारा एक ही साथ समान रूप से आस्वादित होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ या तो ज्ञाप्य[१] होते हैं या कार्य-रूप। रस

---

१ जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे ज्ञाप्य कहते हैं। जिसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे ज्ञापक कहते हैं। जैसे, अन्धेरे में दीपक से घडे आदि का ज्ञान होने में घडा ज्ञाप्य है और दीपक ज्ञापक।

जण्य नहीं है। घट-पट आदि लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक से ढके जाने पर प्रतीत नहीं हो सकते। पर रस अपनी स्थिति में कभी व्यभिचरित[1] नहीं होता। रस न कार्य रूप ही है। चन्दन के स्पर्शका ज्ञान जिस क्षण मे होता है, उस क्षण में चन्दन के स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थात् कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नही हो सकता। अतएव विभावादिकों को कारण और रस को कार्य माना जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किन्तु 'रस' और विभावादि तो समूहालम्बनात्मक[2] हैं—रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति भी होती रहती है। अतएव रस को कार्य नहीं कहा जा सकता।

यदि यह शङ्का की जाय कि 'रस' कार्य नहीं है, तो विभावादिकों को 'रस' के कारण क्यो कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि रस की चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्वणा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव मे चर्वणा की उत्पत्ति ही रस है। लोक-व्यवहार मे रस को विभावादि का

---

१ यहाँ व्यभिचरित का अर्थ 'प्रतीति न होना' है।

२ अनेक पदार्थों का समूह रूप मे एक ही साथ प्रतीत होना समूहालम्बन ज्ञान है। जैसे, घट, पट, लकुटादि बहुत से पदार्थों पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह-रूप से प्रतीत होते है। और जैसे दीपक के प्रकाश में घट-पटादि के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, जो स्थायी भाव को व्यक्त (प्रकाश) करते है, स्थायी भाव के साथ प्रकाशित होते हैं।

कार्य कहना केवल उपचार[1] मात्र है।

(४) लौकिक वस्तु की भाँति 'रस' नित्य नहीं है—नित्य वस्तु असवेदन[2]-काल मे नष्ट नहीं होती, पर रस असवेदन-काल मे नही होता। अर्थात् रस की विभावादि के ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। अतएव रस अलौकिक है।

(५) लौकिक पदार्थ भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान होते हैं। रस न तो भविष्य मे होनेवाला है, और न भूतकालीन ही। यदि ऐसा होता तो उसका साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता, क्योकि कल होनेवाली वस्तु का या जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता; और न 'रस' को वर्तमान ही कह सकते, क्योकि वर्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किन्तु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य।

(६) लौकिक वस्तु के समान 'रस' निर्विकल्पक ज्ञान[3] का विषय नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान मे नाम, रूप, जाति आदि किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध का भान नहीं होता है। किन्तु रस विशेष रूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति मे शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रस विशेष रूप से विदित होते हैं।

'रस' सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक ज्ञान के विषय, घट-पटादि सभी, शब्द द्वारा कहे जा सकते

---

१ किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष सम्बन्ध के कारण, दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार है।

२ ज्ञान के अभावकाल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता, उस समय।

३ घट-पट आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

हैं। किन्तु 'रस' शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। अर्थात्, 'रस-रस' पुकारने से आनन्दानुभव नहीं हो सकता। जब वह विभावादि द्वारा व्यक्त होता है, अर्थात् व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित होता है, तभी आस्वादनीय हो सकता है अन्यथा नहीं। यह भी अलौकिकता है।

(७) रस का ज्ञान परोक्ष नहीं। परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु रस का साक्षात्कार होता है। 'रस' अपरोक्ष भी नहीं है। अपरोक्ष पदार्थ का प्रत्यक्ष होना सम्भव है, किन्तु रस कदापि दृष्टिगत नहीं हो सकता। उसकी शब्दार्थ द्वारा केवल व्यञ्जना ही होती है।

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत, वर्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान का विषय, सविकल्पक ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं उन सभी का रस मे अभाव है। प्रश्न यह होता है कि फिर वह है क्या वस्तु? और उसके अस्तित्व का प्रमाण ही क्या है? वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिये रसास्वाद को 'ब्रह्मानन्द सहोदर[1]' कहा गया है। जैसे ब्रह्मानन्द का अनुभव विरले योगिराज ही कर सकते हैं उसी प्रकार रस का आस्वादन भी सहृदय जन ही कर

---

१ यहाँ 'ब्रह्मानन्द' से संप्रज्ञात (सविकल्पक) समाधि से तात्पर्य है। क्योंकि उसी मे आनन्द और अस्मिता आदि आलम्बन रहते है। पातञ्जल सूत्र में कहा है—"वितर्कविचारानन्दास्मितास्वरूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।"—समाधिपाद, सू० १७। इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलम्बन रहते है अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनन्द के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, न कि असम्प्रज्ञात समाधि के समान, क्योंकि वह तो निरालम्ब है।

सकते हैं[1]। और रस के अस्तित्व मे सहृदय काव्य-मर्मज्ञो की चर्वणा अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा से रस अभिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि आनन्दानुभव को ही 'रस' कहा जाता है तो करुण, बीभत्स और भयानक आदि द्वारा जब प्रत्यक्षतः दुःख, घृणा और भय आदि उत्पन्न होते हैं तब उन्हे रस क्यों माना जाता है? शोकादि कारणो से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार है— श्रीराम-वनगमनादि लोक मे ही दुःख के कारण होते हैं। जब वे काव्य-रचना मे निबद्ध हो जाते हैं, या नाटिकाभिनय मे दिखाए जाते है, तब उनमे पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभावादि द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक मे चाहे वे दुःख के ही कारण क्यो न हों। यदि करुण आदि रस दुःखोत्पादक होते तो करुणादि-प्रधान काव्य-नाटकों को कौन सुनता और देखता? पर ऐसे काव्य-नाटको को भी, शृङ्गारात्मक काव्य-नाटको के समान, सभी सहर्ष सुनते और देखते हैं। इस विषय मे सहृदय जनो का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान हरिश्चन्द्रादि के चरित्रों द्वारा सामाजिको के अश्रुपातादि अवश्य होते हैं, किन्तु वे चित्त के द्रवीभूत होने से होते हैं। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं, आनन्द भी है। अतः आनन्द-जन्य अश्रुपात भी होते हैं[2]।

—❀—

१ "पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससंततिम्"।
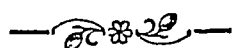
२ "आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतःशीताद्रोगाद्भवेदास्रम्"
—नाट्यशास्त्र गायकवाड अध्याय ७। १५९

चतुर्थ स्तवक का द्वितीय पुष्प

रसों के नाम, लक्षण और उदाहरण

रस नौ हैं—

(१) शृङ्गार ।	(२) हास्य ।	(३) करुण ।
(४) रौद्र ।	( ) वीर ।	(६) भयानक ।
(७) बीभत्स ।	(८) अद्भुत ।	(९) शान्त ।

कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त रस की व्यञ्जना केवल श्रव्य-काव्य में ही हो सकती है, दृश्य-काव्य—नाटकादिकों—में नहीं। किन्तु नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि ने नाटकादिकों में भी शान्त रस माना है[1]। कुछ साहित्याचार्यों ने उक्त नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य और भक्ति आदि और भी रस माने हैं[2]। पर साहित्य के प्रधानाचार्य भरत मुनि इनको स्वतन्त्र रस नहीं मानते। ध्वनिकार, अभिनव गुप्ताचार्य और श्रीमम्मट आदि आचार्यों ने भी नौ ही रस माने हैं। और प्रेयान् आदि रसों को 'भाव' के अन्तर्गत बतलाया है।

(१) शृङ्गार-रस

'शृङ्गार' शब्द में 'शृङ्ग' और 'आर' दो अंश हैं। शृङ्ग का अर्थ

---

१ "एवं नवरसा द्रष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः"—नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, अ० ६ । १०६ ।

२ रुद्रट ने प्रेयान् रस और महाराजा भोज एवं विश्वनाथ ने वात्सल्य रस माना है। काव्यप्रकाशादि के मतानुसार ये दोनों पुत्रादिविषयक रति भाव के अन्तर्गत और भक्ति-रस देव विषयक रति भाव के अन्तर्गत है। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

कामोद्रेक (काम की वृद्धि) है। 'आर' शब्द 'ऋ' धातु से बना है। ऋ का अर्थ गमन है। गति का अर्थ यहाँ प्राप्ति है। अतः 'शृङ्गार' का अर्थ है काम-वृद्धि की प्राप्ति। कामी जनों के हृदय मे रति स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त होकर काम की वृद्धि करता है, इसी से इसका नाम शृङ्गार है। शृङ्गार रस को साहित्याचार्यों ने सर्वोपरि स्थान दिया है[1]।

---

१ अग्निपुराण मे अन्य सभी रसों का शृङ्गार से ही प्रादुर्भाव माना है—

'व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगारइति गीयते,
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।'
(अग्निपुराण, अ० ३४६। ४, ५)

महाराजा भोज ने शृङ्गार को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है—

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः,
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।
वीराद्भुतादिषु च येह रतप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति,
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।'
(शृङ्गारप्रकाश ६। ७)

ध्वनिकार ने भी कहा है—

'शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात्सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः' (ध्वन्यालोकवृत्ति, २।२६ पृष्ठ १७१)

आलम्बन।

नायिका और नायक। इनके निम्नलिखित भेद हैं।
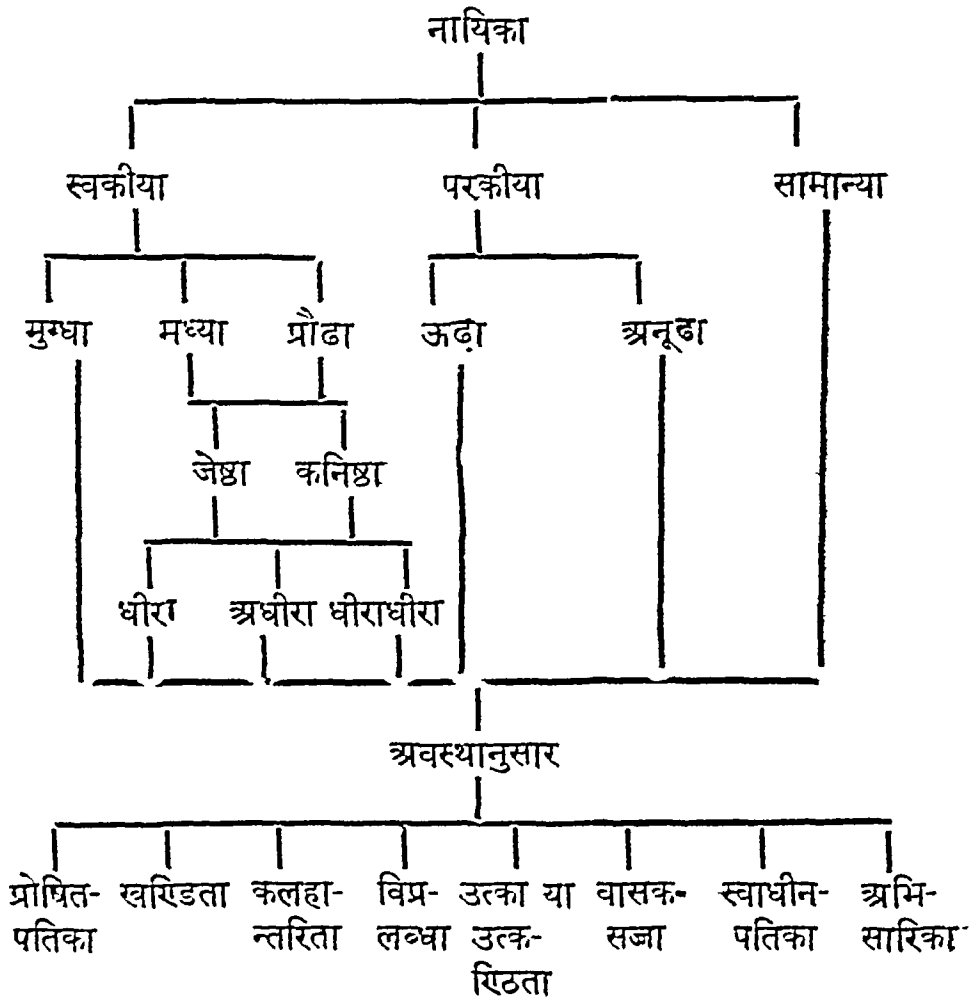
(१३) स्वकीया[1] के भेद—

१ मुग्धा[2]

६ मध्या[3]—

३ ज्येष्ठा[4]—धीरा[5], अधीरा[6] और धीराधीरा[7]।

३ कनिष्ठा[8]—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

६ प्रौढा[9]—

३ ज्येष्ठा—धीरा[10], अधीरा[11] और धीराधीरा[12]।

३ कनिष्ठा—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

(२) परकीया[13] के भेद—ऊढा[14] (या परोढा) और अनूढा[15]

(१) सामान्या[16]

ये प्रत्येक सोलह नायिकाएँ, अवस्था-भेद से, प्रोषितपतिका[17],

---

१ पतिव्रता। २ अङ्कुरितयौवना। ३ जिसमें लज्जा और काम समान हो। ४ जिस पर पति का अधिक प्रेम हो। ५ अन्यासक्त नायक पर सपरिहास वक्रोक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली। ६ अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहनेवाली। ७ अन्यासक्त नायक के सम्मुख रुदन करके कोप सूचित करनेवाली। ८ जिस पर पति का न्यून प्रेम हो। ९ केलि-कलाप-प्रगल्भा। १० अन्यासक्त नायका का बहिर्रूप से आदर, किन्तु वास्तव में उदासीन। ११ अन्यासक्त नायक का ताड़न करनेवाली। १२ अन्यासक्त नायक को वक्रोक्ति द्वारा दुखित करनेवाली। १३ प्रच्छन्न अन्यपुरुष आसक्ता। १४ अन्य पुरुष की विवाहिता। १५ अविवाहिता, पिता आदि के वशीभूत रहने से परकीया है। १६ वेश्या। १७ जिसका नायक प्रवासी हो।

खण्डिता[1], कलहान्तरिता[2], विप्रलब्धा[3], उत्का[4], वासकसज्जा[5], स्वाधीनपतिका[6] और अभिसारिका , आठ प्रकार की होती हैं[8]। अतः इस प्रकार १२८ भेद होते हैं। इन १२८ के प्रकृति के अनुसार तीन-तीन भेद—उत्तमा[9], मध्यमा[10] और अधमा[11] होते हैं। इस प्रकार नायिकाओं के ३८४ भेद हैं।

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाओं के, अर्थात् तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया और एक सामान्या के, स्वभावानुसार

---

१ परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिह्नित नायक को देख ईर्ष्या-कलुषित।

२ प्रार्थी नायक का अनादर करके पश्चात्ताप करनेवाली।

३ नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानित्ता।

४ संकेत करने पर भी नायक के कारण-वश न आने से चिन्तित।

५ नायक का आना निश्चयात्मक जान कर शृङ्गारादि से विभूषिता होनेवाली।

६ गुणों से अनुरक्त होकर नायक जिसका आज्ञानुकारी हो।

७ कामार्त होकर नायक के समीप जानेवाली या उसको बुलानेवाली।

८ दो अवस्थाएँ और हैं—प्रवत्स्यतप्रेयसि (जिसका नायक प्रवास के लिये उद्यत हो) और आगतपतिका (नायक के प्रवास से आने के समय हर्षित होनेवाली)। किन्तु ये अप्रधान हैं।

९ नायक के अन्यासक्त होने पर भी उसकी हितचिन्तका।

१० नायक के हितकारी या अनहितकारी होने पर तदनुसार।

११ सदैव हितकारी नायक के विषय में भी अहितकारिणी।

अन्यसम्भोग-दुःखिता[1], वक्रोक्तिगर्विता[2] और मानवती[3] ये तीन-तीन भेद और हैं[4]।

मुग्धा के भी चार भेद और हैं—ज्ञातयौवना[5], अज्ञातयौवना[6]; नवोढ़ा[7] और विश्रब्ध नवोढा[8]।

प्रौढ़ा के क्रियानुसार दो भेद हैं—रतिप्रिया[9] और आनन्द-सम्मोहिता[10]।

---

१ अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःखित होने वाली।

२ अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखने वाली।

३ अन्यासक्त नायक पर कुपित होने वाली।

४ नायिकाओं के ये सभी भेद भानुदत्त-कृत 'रसतरङ्गिणी' के अनुसार हैं। साहित्य-दर्पण आदि में प्रायः ये ही भेद माने गये हैं।

५ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान हो।

६ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान न हो।

७ लज्जा और भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो।

८ नायक के विषय में जिसको कुछ विश्वास हो।

९ सम्भोग में प्रीति रखने वाली।

१० रतिआनन्द से सम्मोहित होने वाली।
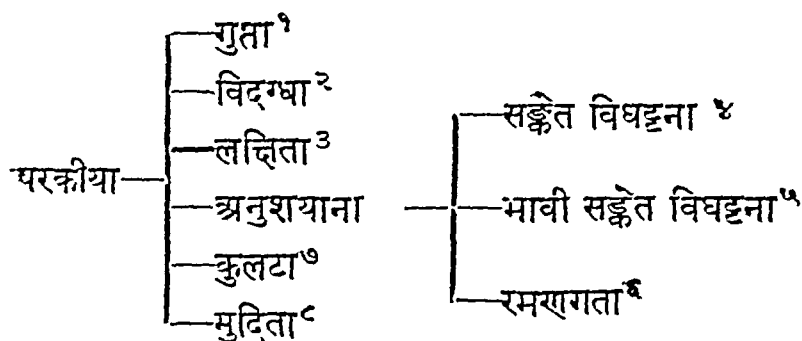
नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति[9] और वैशेषिक[10]। पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल[11], दक्षिण[12], धृष्ट[13], और शठ[14]। उपपति और वैशेषिक के कोई उपभेद नहीं होते हैं।

---

१ भूत, वर्तमान और भावी प्रेम-व्यापार को छुपानेवाली।

२ वचन और क्रिया के चातुर्य से नायक को सङ्केत करनेवाली।

३ जिसका प्रेम-व्यापार सखियों को प्रकट हो गया हो।

४ सङ्केत स्थान के नष्ट हो जाने से दुखित होने वाली।

५ भावी सङ्केत स्थान के लिये चिन्ता करनेवाली।

६ सङ्केत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकनेवाली।

७ अनेकों मे आसक्त।

८ मनोवाञ्छित बाते सुनकर हर्षित होनेवाली।

९ अन्य नायिका अनुरक्त।

१० व्यभिचारी।

११ अपनी पत्नी में सदा अनुरक्त रहनेवाला।

१२ अनेक नायिकाओं में स्वाभावतः समान अनुराग रखनेवाला।

१३ अपराध करने पर अत्यन्त तिरस्कृत होकर भी नायिका से विनय करनेवाला।

१४ अपराधी होने पर भी नायिका को ठगने में चतुर।

उद्दीपन विभाव।

नायिका की सखी—इनके मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास आदि कार्य।

नायक के सहायक सखा—इनके चार भेद हैं—पीठमर्द[1], विट[2], चेट[3] और विदूषक[4]।

दूती—इनके उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयदूतिका भेद हैं।

इनके सिवा षट्ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र, चॉदनी, पुष्प, पराग, भ्रमर और कोकिलादि पक्षियों का गुञ्जार एव निनाद, मधुर गान, वाद्य, नदी-तट, सरोवर, कमनीय केलि-कुञ्ज आदि आदि चित्ताकर्षक सुन्दर वस्तुएँ।

अनुभाव।

अनुराग-पूर्ण पारस्परिक अवलोकन, भ्रू-भङ्ग, भुजाक्षेप (हस्त-सञ्चालन), आलिङ्गन, रोमाञ्च, स्वेद और चाटुता आदि असख्य कायिक, वाचिक एव मानसिक।

स्त्रियों की यौवनावस्था के निम्न-लिखित अनुभाव रूप २८ अलङ्कार मुख्यतया माने गये हैं जिनमें ३ अङ्गज, ७ अयत्नज और १८ स्वभावज हैं।

अङ्गज अलङ्कार—शरीर से सम्बन्ध होने के कारण इनको अङ्गज कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

१ 'भाव'—निर्विकार चित्त मे प्रथम विकार उत्पन्न होना।

२ 'हाव'—भृकुटि तथा नेत्रादि की चेष्टाओं से सम्भोगअभिलाषा-सूचक मनोविकारों का कुछ प्रकट किया जाना।

---

१ कुपित नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाला।

२ कामतन्त्र की कला में निपुण।

३ नायक और नायिका के संयोजन में चतुर।

४ अङ्गादि की विकृत चेष्टाओं से हास्य उत्पन्न करनेवाला।

३ 'हेला'—उपर्युक्त मनोविकारों का अत्यन्त स्फुट होकर लक्षित होना।

अयत्नज अलङ्कार—ये कृतिसाध्य न होने के कारण अयत्नज कहे जाते हैं और ये सात प्रकार के होते हैं—

१ 'शोभा'—रूप, यौवन, लालित्यादि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता।

२ 'कान्ति'—विलास से बढ़ी हुई शोभा।

३ 'दीप्ति'—अति विस्तीर्ण कान्ति।

४ 'माधुर्य'—सब दिशाओ मे रमणीयता।

५ 'प्रगल्भता'—निर्भयता अर्थात् किसी प्रकार की शङ्का का न होना।

६ 'औदार्य'—सदा विनय भाव।

७ 'धैर्य'—आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति।

स्वभावज अलङ्कार—ये कृतिसाध्य हैं और अठारह प्रकार के होते हैं—

१ 'लीला'—प्रेमाधिक्य के कारण वेष, अलङ्कार तथा प्रेमालाप द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना।

२ 'विलास'—प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओ की विलक्षणता।

३ 'विच्छित्ति'—कान्ति को बढ़ानेवाली अल्प वेष-रचना।

४ 'विव्वोक'—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तुओ का भी अनादर करना।

५ 'किलकिञ्चित्'—अतिप्रिय वस्तु के मिलने आदि के हर्ष से मन्दहास, अकारण रोदन का आभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध और कुछ श्रमादि के विचित्र सम्मिश्रण का एक ही साथ प्रकट होना।

६ 'मोट्टायित'—प्रियतम की कथा सुनकर अनुराग उत्पन्न होना।

७ 'कुट्टमित'—केश, स्तन और अधर आदि के ग्रहण करने पर आन्तर्य हर्ष होने पर भी बाहरी घबराहट के साथ शिर और हाथों का परिचालन करना।

८ 'विभ्रम'—प्रियतम के आगमन आदि से उत्पन्न हर्ष और अनुराग आदि के कारण शीघ्रता में भूषणादि का स्थानान्तर पर धारण करना।

९ 'ललित'—अङ्गों को सुकुमारता से रखना।

१० 'मद'—सौभाग्य और यौवन आदि के गर्व से उत्पन्न मनो-विकार होना।

११ 'विहृत'—लज्जा के कारण, कहने के समय भी कुछ न कहना।

१२ 'तपन'—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं का होना।

१३ 'मौग्ध्य'—जानी हुई वस्तु को भी प्रिय के आगे अनजान की तरह पूछना।

१४ 'विक्षेप'—प्रिय के निकट भूषणों की अधूरी रचना और विना कारण इधर-उधर देखना, धीरे से कुछ रहस्यमयी बात कहना।

१५ 'कुतूहल'—रमणीय वस्तु देखने के लिये चञ्चल होना।

१६ 'हसित'—यौवन के उद्गम से अकारण हास्य।

१७ 'चकित'—प्रिय के आगे अकारण डरना या घबराना।

१८ 'केलि'—प्रिय के साथ कामिनी का विहार।

व्यभिचारी।

उग्रता, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सभी निर्वेदादि।

सम्भोग-शृङ्गार में निर्वेदादि कुछ सञ्चारी भावों का, जो प्रायः दुःख से उत्पन्न होते हैं, होना सम्भव नहीं है, परन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार से निर्वेद, ग्लानि, असूया, चिन्ता, व्याधि, उन्माद, अपस्मार और मोह आदि भावों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि शृङ्गार का स्थायी भाव जो 'रति' है उस मे करुण के निर्वेदादि भावो का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है? भरत मुनि कहते हैं कि करुण में निर्वेदादि भाव रति-निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् पुनर्मिलन की आशा का अभाव रहता है। विप्रलम्भ-शृङ्गार मे ये (निर्वेदादि भाव) रति-सापेक्ष होते हैं, अर्थात् इसमे पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। इसलिये इन भावो का शृङ्गार मे प्रादुर्भाव होता है। बस करुण और शृङ्गार मे उत्पन्न होनेवाले कुछ निर्वेदादि सञ्चारी भावों मे यही भेद रहता है।

स्थायी भाव।

रति। रति का अर्थ है—'मनोनुकूल वस्तु मे सुख प्राप्त होने का ज्ञान, अर्थात् नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम।'

शृङ्गार-रस के प्रधान दो भेद हैं—सम्भोग-शृङ्गार और विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार। जहाँ नायक-नायिका का सयोग-अवस्था में प्रेम हो वहाँ संयोग, और जहाँ वियोग अवस्था मे पारस्परिक अनुराग हो वहाँ विप्रलम्भ होता है। संयोग का अर्थ नायक-नायिका की एकत्र स्थिति-मात्र ही नहीं है। क्योंकि समीप रहने पर भी मान अवस्था में वियोग ही है। अतएव सयोग का अर्थ है सयोग-सुख की प्राप्ति और वियोग का अर्थ है संयोग-सुख की अप्राप्ति।

सम्भोग-शृङ्गार

नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, आलिङ्गन आदि सम्भोग-शृङ्गार के असख्य भेद हैं। इन सबको सम्भोग-शृङ्गार के अन्तर्गत ही

माना गया है। उपर्युक्त सभी आलम्बन और उद्दीपन विभावों का इसमें वर्णन होता है। सम्भोग-शृङ्गार कहीं नायिका द्वारा आरब्ध और कहीं नायक द्वारा आरब्ध होता है।

नायिकारब्ध सम्भोग-शृङ्गार।

लखि निर्जन भौन उठी परजंक सों बाल चली सनकै[1] ललचायकै,
छल सों दृग-मीलित पी-मुख कौं[2] बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुंबन लीन्ह, कपोल लखे पुलके, भइ नम्र-मुखी सकुचायकै;
हँसिके पिय ने वा नितंबनि को तब चुंबन की चिर लौं मनभायकै।१४१

यह नव-वधू के सम्भोग-शृङ्गार का वर्णन है। नायक आलम्बन है, क्योंकि नायक को देखकर नायिका को अनुराग उत्पन्न हुआ है। 'रति' स्थायीभाव का आश्रय नायिका है। स्थान का निर्जन (एकान्त) होना और तरुण एवं सुन्दर नायक का चित्ताकर्षक दृश्य उद्दीपन है, क्योंकि यह उस उत्पन्न रति को उद्दीपन करता है। नायक के मुख की ओर देखना, इत्यादि अनुभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही नायिका के चित्त में उत्पन्न रति का बोध होता है। "सनकै ललचायकै' में शङ्का के साथ औत्सुक्य, 'मुख को बड़ी देर लौं देखि' में केवल शङ्का और 'नम्रमुखी' में व्रीडा व्यभिचारी हैं। इनकी सहायता से शृङ्गार-रस की व्यञ्जना होती है। यहाँ नायिका ने उपक्रम किया है, अतः नायिका-रब्ध है।

अति सुंदर केलि के मंदिर मैं परजंक पै पासहु सोय रही,
नव-यौवन-रंग तरंगन सो छवि अंगन माँहि समोय रही।
हिय के अभिलाखन चाखन कों न समर्थ प्रिया जिय गोय रही;
कछु मीलित से दृग-कोरन सो पिय के मुख ओरन जोय रही।१४२

---

१ धीरे से। २ नींद के बहाने से आँखें मीचे हुए प्रियतम के मुख को।

यहाँ नायक आलम्बन है। एकान्त स्थान और नायक का मनोहारी दृश्य उद्दीपन है। अधमिची आँखों से देखना अनुभाव और व्रीड़ा, औत्सुक्य आदि सञ्चारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी की शृङ्गार-रस में व्यञ्जना होती है।

नायकारब्ध संयोग-शृङ्गार।

कंचुकी के बिन ही मृगलोचनि! सोहत तू अति ही मनभाउन;
प्रीतम यों कहिकै हँसिकै अपने करतैं लगे बंध छुटावन।
सस्मित बंक-विलोकन कै ढिँग देखि अलीन लगी सकुचावन;
लै मिस झूठी बना बतियाँ सखियाँ सनकै जु लगी उठि धावन।१४३

यहाँ नायिका आलम्बन है। उसकी अङ्ग-शोभा उद्दीपन है। कन्चुकी के खोलने की चेष्टा अनुभाव और उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी हैं। नायक ने उपक्रम किया है, अतः नायकारब्ध है।

कहीं-कहीं रति भाव की स्थिति होने पर भी शृङ्गार-रस नहीं होता है। जैसे—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा माधव सोइ;
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होइ।"१४४

"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न;
वंदौ सीता-राम-पद जिनहिँ परम प्रिय खिन्न।"१४५

इन दोहों मे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्ण का, तथा श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का परस्पर पूर्णतया प्रेममय होना व्यञ्जित होता है, अर्थात् यहाँ 'रति' की स्थिति हैं। अप्पय्य दीक्षित[1] आदि ने ऐसे वर्णनो मे शृङ्गार-रस ही माना है। पण्डितराज जगन्नाथ का इस विषय में मतभेद

१ चित्र मीमांसा, पृष्ठ २८। और हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृ० ७२।

है। उन्होने अपने मत के प्रतिपादन में बहुत मार्मिक विवेचन किया है। पण्डितराज के अनुसार राधा और श्रीकृष्ण एव सीता और श्रीराम के इस पारस्परिक प्रेम-वर्णन में, रति प्रधान नहीं है, किन्तु 'मेरी भव-बाधा हरौ' आदि द्वारा युगल मूर्ति की वन्दना करना कवि को अभीष्ट है। अतः यहाँ देव-विषयक रति भाव प्रधान है[1]। अतएव ऐसे वर्णनों में भाव ही समझना चाहिए, न कि शृङ्गार-रस। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे भावप्रकरण मे किया जायगा।

विप्रलम्भ-शृङ्गार

इसमें शङ्का, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिन्ता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। सन्ताप, निद्रा-भङ्ग, कृशता, प्रलाप आदि अनुभाव होते हैं। इसके निम्नलिखित भेद होते हैं—

1 रस गङ्गाधर पृ० ३४।
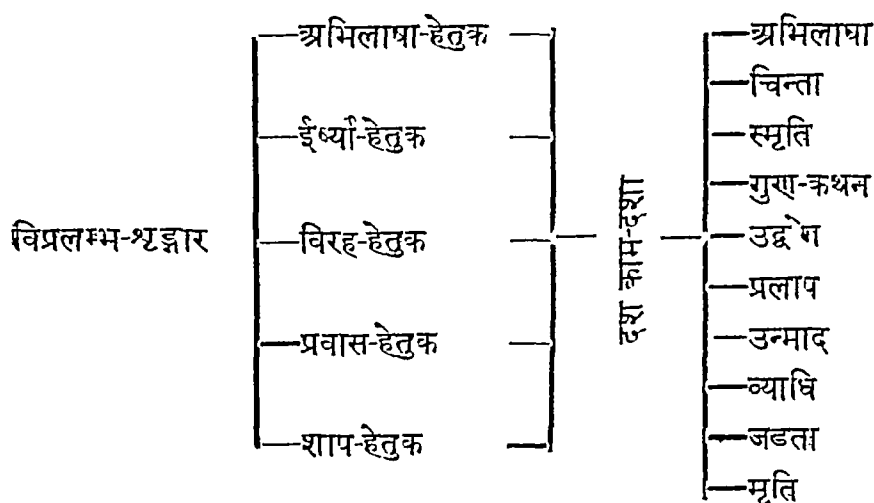
(१) अभिलाषा-हेतुक वियोग[1]।

'गुण-श्रवण-जन्य' का उदाहरण—

"जब तें कुमर कान्ह ! रावरी कला-निधान
वाके कान परी कछु सुजस कहानी-सी ;
तब ही सों 'देव' देखो देवता-सी हँसत-सी,
खीजत-सी रीझत-सी रूसत रिसानी-सी ;
छोही-सी छली-सी छीन लीनी-सी छली-सी, छीन ।
जकी सी टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी ;
बिधि-सी बिँधी सी विष-बूडत विमोहत-सी,
बैठी वह बकत विलोकत बिकानी-सी ।"१४६

यहाँ श्रीकृष्ण के गुण-श्रवण-जन्य पूर्वानुराग है। श्रीकृष्ण आलम्बन, गुण-श्रवण उद्दीपन, 'हँसत-सी', 'खीजत-सी' इत्यादि अनुभाव, उत्कण्ठा, चिन्ता और व्याधि आदि सञ्चारी हैं।

'चित्र-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"हौं ही भुलानी कै भूल्यो सबै कोई भूल को मंत्र समूल सिख्यो सो ;
भोजन-पान भुलान्यो सबै सुख स्वैवो सवाद विषाद विख्यो सो ।
चित्र भई हौं विचित्र चरित्र न चित्त चुभ्यो अवरेख रिख्यो सो ।
चित्र लिख्यो हरि-मित्र लख्यो तब ते सिगरो व्रज चित्र लिख्यो सो ।"१४७

यहाँ चित्र-दर्शन-जन्य अभिलाषा से उत्पन्न वियोग-दशा का वर्णन है।

'स्वप्न-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

---

१ सौन्दर्यादि गुणो के सुनने से, स्वप्न मे अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से, एवं चित्र दर्शन से, परस्पर मे अनुरक्त नायक और नायिका का मिलने के पहिले का अनुराग अथवा अप्राप्त समागम के कारण मिलने की उत्कट इच्छा।

"भेटत ही सपने में भटू चख चंचल चारु अरे के अरे रहे,
त्यों हँसिकै अधरानहु पै अधरानहु वे जु धरे के धरे रहें।
चौंकी नवीन चकी उझकी मुख सेद के बूँद ढरे के ढरे रहे,
हाय खुलीं पलकै पल में! हिय के अभिलाष भरे के भरे रहे।"१४८

'प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लुभान,
मुख-सरोज-मकरंद-छबि करत मधुप इव पान।"१४६

यहाँ श्रीरघुनाथजी को जानकीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न अभिलाषा है।

"आनि कढ़्यो इहिं गैल भटू महिमंडल में अलबेलो न और है,
देखत रीझि रही सिगरी मुख-माधुरी कोहू कछू नहिं छोर है।
'बेनीप्रवीन' बडे-बडे लोचन बाँकी चितौन चलाकी को जौर है;
साँची कहैं व्रज की युवती यह नंदलडैतो बड़ो चितचौर है।"१५०

"आज लौं देख्यो न कान सुन्यो कहुँ औचकै आवत गैल निहारो,
त्यों 'लछिराम' न जानि परयो हमैं आँखिन बीच बस्यो कै अखारो।
मूरति माधुरी स्याम घटा ऐन पीत-पटी छन जोति को चारो;
हास की फाँसुरी डारि गरे मन लै गयो या बन बाँसुरीवारो।"१५१

यहाँ भी प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य अभिलाषा है।

(२) ईर्ष्या-हेतुक वियोग[1]।

---

१ मान के कारण वियोग। इसके दो भेद हैं—प्रणयमान (अकारण कुपित नायक या नायिका का मान), और ईर्ष्यामान (अन्य नायिका-सक्त नायक पर कुपित नायिका के मान के कारण वियोग)। ईर्ष्यामान के भी दो भेद हैं—प्रत्यक्ष दर्शन से (नायक को अन्यासक्त प्रत्यक्ष देखने से), और अनुमान से या सुनने से।

प्रणय-मान का उदाहरण—

"बोलौ हँसौ विहँसौ न बिलोकौ, तू मौन भई यह कौन सयान है ;
चूक परी सो बताय न दीजिए, दीजिए आपुन को हमैं आन है।
प्रानप्रिया ! बिन कारन ही यह रूसिबो 'बेनी प्रबीन' अयान ;
ह्वै निरमूल विलोकिए राधिके, अंबर-बेल औ रावरो मान है।"१५२

यहाँ राधिकाजी का प्रणयमान है।

याही लता-गृह में सिय को तुम मारग नाथ ! रहे हे विलोकत ;
खेलत राज-मरालन सो सरिता-तट ताहि विलंब भयो तित।
आवत ही कछु दुर्मन से तुमकों लखिकै वह व्याकुल ह्वै चित ;
कोमल-कंजकली-सम मंजु सु अंजुलि जोरि प्रनाम कियो इत।१५३

सीताजी का त्याग करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी जब शम्बूक का वध करके दण्डकारण्य से लौट रहे थे, उस समय वनवासिनी वासन्ती की श्रीरघुनाथजी के प्रति यह उक्ति है। धनञ्जय ने अपने दस रूपक में एवं हेमचन्द्राचार्य ने अपने काव्यानुशासन मे इस पद्य में प्रणय-मान वियोग माना है, किन्तु हमारे विचार मे यहाँ प्रणयमान की अपेक्षा स्मृति की व्यञ्जना प्रधान है, अतः 'स्मृति' भाव है—न कि प्रणयमान।

ईर्ष्या-मान का उदाहरण—

"ठाढे इते कहुँ मोहन मोहिनी, आई तितै ललिता दरसानी ;
हेरि तिरीछे तिया-तन माधव, माधवै हेरि तिया मुसकानी।
यों 'नँदरामजू' भामिनी के उर आइगो मान लगालगी जानी ;
रूठि रही इमि देखिके नैन कछू कहि बैन वहू सतरानी।"१५४

इसमें प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य ईर्ष्या-मान है।

"सुरँग महावर सौति-पग निरख रही अनखाय ;
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय।"१५५

यहाँ सखि के प्रेम-व्यापार के चिह्नो के अनुमान से उत्पन्न मान है। यह 'उद्वेग-दशा' का वर्णन है।

जहाँ अनुनय के प्रथम अर्थात् मान छुटाने का अवसर आने तक मान नहीं ठहर सकता है, वहाँ ईर्ष्या-हेतुक विप्रलम्भ-शृङ्गार नहीं होता है, प्रत्युत सम्भोग-सञ्चारी भाव मात्र होता है। जैसे—

टेढ़ी करौं भृकुटीन तऊ दग ये उतकंठ भरे बनि जावतु,
मौन गहौं रु चहौं रिस पै जरि जानो अरी ! मुखहू मुसकावतु।
चित्त करौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अंगन में उठि आवतु;
कैसे बनै सजनी पिय सो अब तू ही बता फिर मान निभावतु।१५६

यह मान करने की शिक्षा देनेवाली सखी को मान करने मे सफल न होनेवाली नायिका की उक्ति मे सम्भोग-सञ्चारी भाव है।

(३) विरह-हेतुक वियोग[१]।

"कूजत कुंज में कोकिल त्यों मतवारे मलिंद घने अटके हैं;
संक सदा गुरु लोगनि की चलजूह चवाइन के फटके हैं।
ए मनभावरी में 'लछिराम' भरे रँग लालच में लटके हैं;
या कुल-कानि-जहाज चढ़े ब्रजराज विलोकिबे में खटके है।"१५७

यहाँ गुरुजन आदि की लज्जा के कारण वियोग है।

"देखैं बनै न देखिबो अनदेखैं अकुलाहिँ;
इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजोही नाहिँ।"१५८

(४) प्रवास-हेतुक वियोग[२]।

१ समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा के कारण समागम का न होना।

२ नायक या नायिका में से एक का विदेश में होना। यह तीन प्रकार का होता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान।

भविष्यत् प्रवास—

"ऐसेहु वचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान ;
तौ प्रभु-विषम-वियोग-दुख सहिहैं पामर प्रान ।"१५६॥

श्रीरघुनाथजी की भावी वन-यात्रा के समय श्रीजानकीजी की वियोग-व्यथा का वर्णन है।

"जिन जाउ पिया ! यों कहौं तुमसों तो तुम्हे बतियाँ यह दागती है ;
इहाँ चंदन में घनसार मिले सु सबैं सखियाँ तन पागती हैं।
कवि 'ग्वाल' उहाँ कहाँ कंज बिछे औ न मालती मंजुल जागती हैं ;
तजिकै तहखाने चले तो सही पै सुनी मग में लुबैं लागती हैं।"१६०

यहाँ भी भविष्यत् प्रवास है।

वर्तमान प्रवास—

कंकन ये कर सों जु चले अँसुवा अँखियान चले ढल हैं ;
धीरज हू हियरे सो चल्यो चलिवे चित ह्वै रह्यो विह्वल हैं।
पीतम भौन सो गौन करैं सब ही यह साथ परे चल हैं ;
प्रान ! तुम्हे हू तो जाइबो है फिर क्यों यह साथ तजो भल हैं।१६१

यह प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की अपने प्राणो के प्रति सोपालम्भ उक्ति है। नायक के प्रवास के लिये उद्यत होने के कारण वर्तमान प्रवास है।

"वामा भामा कामनी कहि बोलो प्रानेस ,
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस।"१६२॥

यहाँ भी प्रस्थान के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका के वाक्य में वर्तमान प्रवास है।

भूत-प्रवास—

हे भृंग ! तू भ्रमित ही रहता सदा रे !
गोविंद है प्रिय कहाँ ? यह तो बता रे।

देखे निकुंज ? अथवा कह क्यों न, प्यारे !
बसी लिए कर कहीं यमुना-किनारे ?१६३॥

यह गोपीजनों का विरहोद्‌गार है। पूर्वोक्त दश काम-दशाओं में यह प्रलाप-दशा का वर्णन है।

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद सों छ्वै गए हैं,
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गए हैं।
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनकै न अबै दिन द्वै गए हैं,
सखि, वे हम वे तुम वेई बनै पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं।"१६४

श्रीनन्दकुमार के मथुरागमन करने पर व्रज-युवतियों का यह विरह-वर्णन है।

"बरुनीन ह्वै नैन झुकैं उझकैं, मनो खंजन मीन के जाले परे;
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी, अँगुरीन के पौरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासों कहा कहिए, यह प्रीति किए के कसाले परे,
जिन लालन चाह करी इतनी, तिन्हें देखबे के अब लाले परे।"१६५

"मेरे मनभावन न आए सखो, सावन में
तावन लगी हैं लता लरजि-लरजि कै,
बूँदैं कभूँ रूदैं कभूँ धारैं हिय फारैं दैया !
बीजुरी हू वारै हारी बरजि-बरजि कै।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सों मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कै,
गरजि गए जे घन गरजि गए हैं भला,
फिर ये कसाई आए गरजि-गरजि कै।"१६६॥

ये भी प्रवासी प्रिय के वियोग में विरहिणी के विरहोद्‌गार हैं।

"ऊधौ कहौ सूधौ सो सनेस पहिलैं तौ यह,
प्यारे परदेस तें कबैं धौं पग पारि हैं।
कहै 'रतनाकर' तिहारी परि बातन में
मीडि हम कबलौं करेजौ मन मारि हैं॥
लाइ-लाइ पाती छाती कबलौं सिरै हैं हाय,
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारि हैं।
बैननि उचारि हैं उराहनो कबैं धौं सबै
स्याम कौ सलोनो रूप नैननि निहारि हैं॥"१६७॥

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग मे गोपीजनो के विरहोद्‌गार हैं।

(५) शाप-हेतुक वियोग[1]।

गेरूँ से मैं लिखकर तुझे मानिनी को शिला पे
जौ लौं चाहौं तव पद-गिरा हा! मुझे भी लिखा मैं।
रोकै दृष्टी बढ़कर महा अश्रु-धारा असह्य,
है धाता को अहह! अपना संग यों भी न सह्य।१६८॥

यहाँ कुबेर के शाप के कारण यक्ष-दम्पती का वियोग है।

वन कुंजन में अलि-पुंजन की मद-गुंजन मंजु सुनी जब ही;
बिँधि काम के बान सरक्त भए कुरुनंदन पांडु भुवाल वहीं।
वह पीर-निवारन की जु क्रिया में प्रवीन प्रिया ढिँग मैं हू रहीं;
द्विज-साप के कारन हाय! तऊ करि ओढु सकीं उपचार नहीं।१६९॥

यहाँ महाराजा पाण्डु को, महारानी कुन्ती और माद्री के समीप रहने पर भी, शाप के कारण वियोग है।

"पीतम लै जल-केलि करै हुतो नारद ने लियो आइकै दायो;
अंग खुले लखि कोप भयो, पति कौं व्रज को तरु भाखि बनायो।

[1] शाप के कारण वियोग।

यों कवि 'ग्वाल' बरी बिरहागनि आकसमात को खेद मैं पायो ;
नाथ-वियोग कराय अली ! कहौ वा मुनि के कहा हाथ में आयो ।"१७०

नारदजी के शाप से नल-कूबर के वृक्ष-रूप हो जाने पर उन दोनो मे मे से एक की पत्नी की यह उक्ति है ।

यहाँ यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि कुछ लोग शृङ्गार-रसात्मक काव्य और तत्सम्बन्धी विवेचना में अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं । यह उनका भ्रम है । अमर्यादित शृङ्गार-रस के वर्णन को तो कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा नहीं कहता है । इसे सभी प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रन्थो मे त्याज्य कहा गया है । किन्तु शृङ्गारात्मक वर्णन-मात्र को ही त्याज्य समझना काव्य के वास्तविक महत्त्व से अनभिज्ञता है । शृङ्गार-रस तो काव्य मे सर्व-प्रधान है । इसके विना काव्य का तादृश महत्त्व नहीं रहेगा । महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और श्रीमद्भागवत आदि शान्तरस, करुण रस एव वैराग्य-भक्ति प्रधान आर्ष-ग्रन्थों में भी शृङ्गार-रस का समावेश है ।

(२) हास्य-रस

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य रस उत्पन्न होता है ।

यह दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ । हास्य के विषय के देखने मात्र से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है । जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, वह परस्थ है[1] ।

स्थायी भाव—हास ।

आलम्बन—दूसरे के विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लज्जता, रहस्य-गर्भित वाक्य आदि, जिन्हें देख और सुनकर हँसी आ जाय ।

---

१ 'आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावे क्षणमात्रतः ;
हसतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसतज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ॥ —रसगङ्गाधर

उद्दीपन—हास्य-जनक चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—ओष्ठ, नासिका और कपोल का स्फुरण, नेत्रो का मिचना, मुख का विकसित होना, व्यग्य-गर्भित वाक्यों का कहना, इत्यादि।

सञ्चारी—आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

इसके छः भेद होते हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित। इन भेदों का आधार केवल हास की न्यूनाधिकता है, और कोई विलक्षणता नहीं है।

स्मित हास्य।

यह चित्रित है दस चित्र विचित्र बढ़ी इनसो छवि भौन की भारी ;
इनमे जगनायक की यह सातवीं साँवरी मूरति कौन की प्यारी।
सखि, तू है सयानी सहेलिन में, इहिँसो हम पूछत देहु बतारी ;
विकसे-से कपोलन, बाँकी चितौन सिया सखियान की ओर निहारी।१७१

महाराजा जनक के भवन मे चित्रित दशावतारों की मूर्तियों में श्रीरघुनाथजी की मूर्ति को लक्ष्य करके जानकीजी के प्रति उनकी सखियों की—पहले तीन चरणों मे—व्यग्योक्ति है। यह व्यग्योक्ति हास्य का आलम्बन है। सीताजी के कपोलों का विकसित होना, उनका वक्र दृष्टि से देखना अनुभाव और व्रीडा सञ्चारी है।

"अति धन लै अहसान कै पारो देत सराह ;
वैद-वधू निज रहसि[१] सौं रही नाह-मुख चाह।"१७२॥

यहाँ वैद्य द्वारा पारे की विकृत (अन्यथा) प्रशंसा है। वैद्य के

---

१ वैद्य बधू द्वारा अपने पति के मुख को देखने में यह रहस्य है कि यदि इस पारे मे सचमुच इतना गुण है, जितना तुम इस रोगी से कह रहे हो, तो फिर तुम्हारी यह दशा क्यों है ?

कथनानुसार पारे में यदि पुरुषत्व लाने का तादृश गुण होता, तो स्वयं वैद्य क्यों पुरुषत्व-हीन रहता। अतएव यही अन्यथा प्रशंसा यहाँ हास्य उत्पन्न करने का कारण होने से आलम्बन है। धन लेकर भी रोगी पर एहसान करना उद्दीपन है। वैद्य-वधू द्वारा अपने पति का मुख निरीक्षण करना अनुभाव और स्मृति आदि सञ्चारी है।

हसित हास्य।

रूप अनूप सजे पट भूषन जात चली मद के झकझोरनि;
औचक काँटो चुभ्यो पग में मुख सों सिसकार कढ़ी बरजोरनि।
सो सुनिकै विट बोल्यो हहा! फिरिहू इमि क्यों न करै चितचोरनि;
चंद्रमुखी मुख आँचर दै चितई तिरछी बरछी दृग-कोरनि।१७३

यहाँ विट (वेश्यानुरागी) की रहस्यमयी उक्ति आलम्बन है। नायिका का मुख पर वस्त्र लगाकर बाँके कटाक्ष से उसकी ओर देखना अनुभाव है। हर्ष, आदि सञ्चारी हैं। स्मित से कुछ अधिकता होने के कारण हसित हास्य है।

"गौने के द्योस सिँगारन कों 'मतिराम' सहेलिन को गन आयो;
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखीन हुलास बढ़ायो[1]।
'पीतम-श्रौन-समीप सदा बजैं' यों कहिकै पहलैं पहिरायो;
कामिनि कौल चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चल्यो न चलायो।"१७४

यहाँ सखी के 'पीतम-श्रौन-समीप सदा बजैं' वाक्य में और नायिका द्वारा कमल के फेंकने की चेष्टा में हास्य की व्यञ्जना है।

---

१ यहाँ मूल-पाठ 'प्यारी सखी परिहास बढ़ायो' है, पर उसमें 'परिहास' द्वारा हास्य का कथन शब्द द्वारा हो गया है, अतः इसका पाठ 'प्यारी सखीन हुलास बढ़ायो' इस प्रकार कर दिया गया है।

विकृत आकार-जन्य हास्य ।

"बाल के आनन-चंद लख्यो नख आली विलोकि अनूप प्रभा-सी ;
आजु न द्वैज है चंदमुखी ! मतिमंद कहा कहैं ए पुरबासी ।
बापुरो ज्योतिसी जानै कहा अरी ! हौं कहौं जो पढ़ि आइहौं कासी ;
चंद दुहू के दुहूँ इक ठौर है आजु है द्वैज औ' पूरनमासी ।" १७५॥

यहाँ नायिका के मुख पर नख-क्षत देखकर दूसरे चरण में सखी के वाक्य में और तीसरे एवं चौथे चरण मे नायिका के वाक्य मे हास्य की व्यञ्जना है ।

विकृत वेश-जन्य हास्य ।

काम कलोलन की बतियान में बीति गई रतियाँ उठि प्रात में ;
आपने चीर के धोखे भटू झट पीतम को पहिरयो पट गात में ।
ले वनमाल को किंकिनी ठौर नितंबन बाँधि लई अरसात में ;
देख सखीं बिकसीं तब बालहु बोलि सकी न कछू सकुचात में ।१७६॥

यहाँ नायिका का विपरीत वेश हास्य का विभाव है ।

"केसरि के नीर भरि राख्यो हौद कंचन को,
वसन बिछाए तापै जोन्ह की तरंग में ;
'सोमनाथ' मोहन किनारे तें उसरि आपु,
आन्यो है हुलास उर होरी की उमंग में ।
आई मनभावनो अनूप कमला-सी बनि
परयो तहाँ चरन सहेलिन के संग में ;
रँगी सब रंग में निहारि अंग-अंग प्यारो
विकसे कपोल कै रँग्यो है प्रेम-रंग में ।"१७७॥

यहाँ केसर-रङ्ग में वस्त्रादि का रँग जाना हास्य का विभाव है ।

"गोपी गुपाल कौं बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गईं ;
'उजियारे' बिलोकि-बिलोकि तहाँ हरि, राधिका पास लिवाइ गईं।
उठि हेली मिलौ या सहेली सों यों कहि कंठ सों कंठ लगाइ गईं ;
भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें, वे मयंक-मुखी मुसकाइ गईं।"१७८

यद्यपि यहाँ 'मुसकाइ गईं' से हास्य का शब्द द्वारा कथन है, पर यह सखियों का मुस्काना है। ऐसी परिस्थिति में सखी जनों को हँसती देखकर राधिकाजी और श्रीकृष्ण को भी हास्य उत्पन्न होना अनिवार्य था। श्रीराधाकृष्ण का हास्य शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, वह व्यंग्य है, और उसी में प्रधानतया चमत्कार है। अतः यहाँ पर-निष्ट हास्य है।

"सुनिकै विहंग सोर भोर उठी नंदरानी,
अंग-अंग आलस के जोर जमुहानी वह ;
धारी जरतारी सो न सूधी की सँभार रही,
कान्ह कों बिरावत खिलावत सिहानी वह।
'ग्वाल' लखि पूत की सु हीरा धुकधुकी माँहि,
छबि सब आपुनी अजायब दिखानी वह ;
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसू आइ गए पै न खिलन रुकानी वह।"१७९

यहाँ यशोदाजी ने अपने विकृत वेश का प्रतिविम्ब श्रीकृष्ण के हार की धुकधुकी में देखकर उनके आँसू आ जाने पर भी खिल-खिलाहट न रुकने में अति हसित की व्यञ्जना है।

तुहिनाचल ने अपने कर सौं हर गौरी के लै जब हाथ जुटाए;
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भए अति ही सकुचाए।
'गिरि के कर में बड़ो सीत अहो' कहि यों वह सात्विक भाव छिपाए;
वह संकर[1] संकर[2] ह्वै गिरि के रनवास सों जो स-रहस्य लखाए।१८०

१ श्रीमहादेवजी। २ शंकर अर्थात् कल्याणकारक।

जब हिमाचल ने श्रीशङ्कर को पार्वतीजी का पाणिग्रहण कराया, उस समय पार्वतीजी के स्पर्श से श्रीशङ्कर के रोमाञ्चादि हो गए। इन रोमाञ्चादि को छिपाने के लिये श्रीशङ्कर ने कहा कि "हिमाचल के हाथ बड़े शीतल हैं", जिसका अभिप्राय यह था कि उनके रोमाञ्चादि का कारण हिमाचल के हाथो की शीतलता थी। पर वास्तविक रहस्य को अन्तःपुर की स्त्रियाँ समझ गईं, और उनके रहस्य-युक्त देखने में यहाँ हास्य की व्यञ्जना अवश्य है, पर चौथे चरण में जो भक्ति-भाव है, उसका उक्त हास्य अङ्ग हो गया है, अतः यहाँ देव-विषयक रति-भाव ही है, न कि हास्य।

"सोहै सलोनी सुहाग-भरी सुकुमारि सखीनि समाज मढ़ी-सी ;
'देवजू' सोवत ते गए लाल महा सुखमा सुखमा उमडी-सी।
पीक की लीक कपोल में पीके बिलोकि सखीनि हँसी उमड़ी-सी ;
सोचन सोहैं न लोचन होत, सकोचन सुंदरि जात गड़ी-सी।"१८१॥

भवानीविलास में इसे हास्य का उदाहरण दिखाया गया है, पर इसमें प्रधानतया व्रीडा-भाव की व्यञ्जना है, हास-भाव उसका पोषक-मात्र है। इसके सिवा यहाँ 'हँसी' शब्द से 'हास' वाच्य भी हो गया है। परन्तु—

"विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत-धारी महा बिनु नारी दुखारे ;
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-वृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद-मंजुल कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कौं पग धारे।"१८२॥

यहाँ श्रीराम-विषयक भक्ति-भाव की व्यञ्जना होने पर भी वह प्रधान नहीं है। अतः यहाँ हास्य-रस ही है।

३ करुण-रस

बन्धु-विनाश, बन्धु-वियोग, धर्म के अपघात, द्रव्य-नाश आदि अनिष्ट से करुण-रस उत्पन्न होता है।

स्थायीभाव—शोक।

आलम्बन—विनष्ट बन्धु, पराभव, आदि।

उद्दीपन—प्रिय बन्धु जनों का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-भूषणादि का दृश्य तथा उनके कार्यों का श्रवण एवं स्मरण आदि।

अनुभाव—दैव-निन्दा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, कम्प, मुख-सूखना, स्तम्भ और प्रलाप, आदि।

सञ्चारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, दैन्य, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि।

बन्धु-विनष्ट-जन्य करुण।

नव पल्लव भी बिछे हुए मृदु तेरे तन को असह्य थे,
वह हाय! चिता धरा हुआ, अब होगा यह सह्य क्यों प्रिये! १८३॥

महारानी इन्दुमति के वियोग मे महाराज अज का यह विलाप है। इन्दुमति का मृत शरीर आलम्बन और उसकी चिता उद्दीपन है। कारुणिक क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, चिन्ता, दैन्य आदि सञ्चारी हैं।

"जो भूरि भाग्य भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी;
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी;
है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी।"१८४॥

यह उत्तरा का विलाप है। अभिमन्यु का मृत देह आलम्बन है। उसके वीरत्व आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन है। उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य आदि सञ्चारी हैं।

"काव्य-मनि बारिधि-बिपत्ति में बूड़े सब,
बिन अवलंब गुन-गौरव गह्यो नहीं;
पवन प्रलय की दीप दीपित दह्यो जो देह,
चित्त हू लह्यो जो दुःख कबहूँ चह्यो नहीं।
रत्नपुर-राज बलवंत के त्रिदिव जात,
सुमन सुसीलन पै जावत सह्यो नहीं;
आज अवनी पै अभिरूपन के आलय मैं,
मालव-मिहिर बिन मालव रह्यो नहीं।"१८५॥

महाराज बलवन्तसिंह के परलोक-गमन पर कवि की यह श्रद्धाञ्जलि है। परलोक-गमन आलम्बन है, उनके औदार्यादि गुण की स्मृति उद्दीपन है। स्मृति, विषाद आदि सञ्चारी और कवि के ये वाक्य अनुभाव हैं।

"कुंती कृष्ण राज देन कह्यो पै न लह्यो कर्न,
कह्यो जुद्ध-भार सीस काके धर जाऔं मैं;
ताको बल चीन्ह सुत बलिन बलीन होव[1],
दीनन सौं दीन भयो जी न लरजाऔं मैं;
सब जन चेरो होव कौन हितू मेरो घन—
दुःखन को घेरो घूमि कौन घर जाऔं मैं;
कैसे टर जाऔं ज्वलदग्नि जरि जाऔं कैधौं,
कूप परि जाऔं विष खाय मर जाऔं मैं।"१८६॥

वन्धु-वियोग-जन्य करुण।

वनवास-धृता जटा कहाँ? सुत! तेरी रमणीयता कहाँ?
स्मृति भी यह दे रही व्यथा, विधि की है यह हा! विडंबना।१८७

---

१ कर्ण के बल पर मेरा पुत्र दुर्योधन सब बलवानों से बलवान् था, पर अब दीनों से भी दीन हो गया। यहाँ 'होव' का अर्थ है—'जो था वह अब।'

श्रीराम-वनवास के समय महाराज दशरथ का यह शोकोद्गार है। श्रीरघुनाथजी आलम्बन है। वनवास के गमन का प्रस्ताव उद्दीपन है। दैव-निन्दा अनुभाव है। विषाद आदि सञ्चारी हैं।

"नव दारुन या अपमान सों तू निहचै दग-नीरहि ढारत होइगी ;
सिसु होन समै पै सिया वन में कहुँ बेहद पीर सों आरत होइगी।
धिरि हाय ! अचानक सिंहनि सों किमि बेबस धीरज धारत होइगी ;
करिकै सुधि मेरी हिये में चहूँ तब तातहि तात पुकारत होइगी।"१८८॥

सीताजी के त्याग के पश्चात् भगवान रामचन्द्र का उनके वियोग में यह शोकोद्गार हैं। सीताजी आलम्बन हैं। उनके वनवास-दुःख का स्मरण उद्दीपन है। यह वाक्य अनुभाव है। स्मृति, चिन्ता आदि सञ्चारी भावों से यहाँ करुण की व्यञ्जना हैं। इस पद्य में विप्रलम्भ-शृङ्गार नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा रहती है, यहाँ निर्वासित सीताजी के विषय में पुनर्मिलन की आशा नहीं है।

धन-वैभव-विनाश-जन्य करुण।

"सहस अठ्यासी स्वर्ण-पात्र में जिमातो ऋषि,
युधिष्ठिर और के अधीन अन्न पावै है ;
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष बनिता के,
नाटक-सदन बीच बनिता नचावै है।
राजा तू बकासुर हिडंब को करैया बध,
पाचक विराट को ह्वै रसोई पकावै है ;
माद्री के सुजसधारी दोनौं ही सुरूपमनि,
एक अश्व-बीच, एक गोधन चरावै है।"१८९॥

कीचक की कुचेष्टाओं से दुखित द्रौपदी का भीमसेन के समक्ष यह कारुणिक क्रन्दन है। राज-भ्रष्ट युधिष्ठिरादि आलम्बन हैं। कीचक की

नीचता उद्दीपन है। द्रौपदी के ये वाक्य अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता और दैन्य आदि सञ्चारी हैं। इनके संयोग से यहाँ करुण की व्यञ्जना है।

"भीषमकौं प्रेरौं कर्न हूँ कौ मुख हेरौं हाय,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरौं मैं ;
कहै 'रतनाकर' त्यौं अन्ध हूँ के आगैं रोइ,
खोइ दीठि चाहति अनीठहिं निबेरौं मैं ;
हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहिं दरेरौं मैं ;
देखि रजपूती की सफल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरौं मैं ॥"११०॥

यहाँ द्रुपद सुता की उक्ति में करुण-रस की व्यञ्जना है।

कहीं कहीं शोकस्थायी की स्थिति होने पर भी करुण-रस नहीं होता है, जैसे—

"अंदर ते निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पाँय जाती हैं ;
हवा हू न लागती, ते हवा तें बिहाल भईं,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हाय दारी चीर फारी मन झुँझलाती है,
ऐसी परी नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं, ते बनासपाती खाती हैं।"१११॥

यहाँ मुगल-सम्राटों की रमणियों की दीन-दशा के वर्णन में करुण की व्यञ्जना होते पर भी करुण-रस नहीं। क्योंकि प्रधानतः शिवराज के

वीरत्व की ही प्रशंसा है। अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है, और यवन-रमणियो की कारुणिक दशा का वर्णन उसका अङ्ग हो जाने से सञ्चारी रूप में गौण हैं।

४ रौद्र रस

शत्रु की चेष्टा, मान-भङ्ग, अपकार, गुरु जनों की निन्दा, आदि से रौद्र रस प्रकट होता है।

स्थायीभाव—क्रोध।

आलम्बन—शत्रु एव उसके पक्षवाले।

उद्दीपन—शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप, कठोर वाक्यो का प्रयोग, आदि।

अनुभाव—नेत्रो की रक्तता, भ्रू-भङ्ग, दाँत और होठों का चबाना, कठोर भाषण, अपने कार्यों की प्रशसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप, आवेग, गर्जन, ताड़न, रोमाञ्च, कम्प, प्रस्वेद, आदि।

सञ्चारी—मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, आदि चित्त-वृत्तियाँ।

यद्यपि 'रौद्र' ओर 'वीर' मे आलम्बन विभाव समान ही होते हैं, किन्तु इनके स्थायी भाव भिन्न-भिन्न होते हैं। रौद्र मे 'क्रोध' स्थायी होता है, और वीर मे 'उत्साह'। इसके सिवा नेत्र एव मुख का रक्त होना, कठोर वाक्य कहना, शस्त्र-प्रहार करना, इत्यादि अनुभाव 'रौद्र' में ही होते हैं[1], 'वीर' मे नहीं।

पुरारि को प्रचंड यह खंडि कोदंड फेर,
भौंहन मरोरि अब गर्व दिखरावै तू;

---

[1] रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। (साहित्यदर्पण, ३।२३१)

आतु की न बातु मन लातु है निसंक भयो,
कौसिक की कान हूँ न मान बतरावै तू।
देख! ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जानि इतरावै तू;
छत्रिन पतत्रिन[1] ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्योंरे छत्रिबाल, भूलि काल हँकरावै तू॥११२॥

धनुष-भङ्ग के प्रसङ्ग में लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के ये वाक्य हैं। श्रीराम-लक्ष्मण आलम्बन हैं। धनुष-भङ्ग और लक्ष्मणजी द्वारा निश्शङ्क उत्तर दिया जाना उद्दीपन है। परशुरामजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा यहाँ क्रोध स्थायी भाव की रौद्र रस मे व्यञ्जना होती है।

भीम कहै प्यारी! सारी कौरवन नारिन कौं,
रिक्त बेस-भूसा मुक्त-केसा करि डारौंगो।
चंड भुज-दंडन में प्रचंड या गदाकौं लै,
मंडल अमाय सिंहनाद कै प्रचारौंगो।
बंधन के संग ही घमंड करि भंग जंग,
दुष्ट दुरजोधन कों वेगि ही पछारौंगो;
रक्त सौं रँगे ही उन रक्त भए हाथन सौं,
खुले केस बाँधि तेरी बेनी को सम्हारौंगो।११३॥

द्रौपदी के प्रति (जिसने अपने केशाकर्षण के कारण, जब तक दुर्योधन का विनाश न हो, अपने केशों की वेणी न बाँधने की प्रतिज्ञा की थी) भीमसेन के ये वाक्य हैं। द्रौपदी का शोकाकुल होना आलम्बन, दुर्योधनादि द्वारा अपमान किए जाने का स्मरण उद्दीपन, भीम के ये

१ पक्षियों के समान।

वाक्य अनुभाव और गर्व, स्मृति, उग्रता आदि सञ्चारी भावों द्वारा यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना है।

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ[1] से जलने लगे;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े';
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठकर खड़े।
उस काल मारे क्षोभ[1] के तनु काँपने उनका लगा;
मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा।"११४॥

यहाँ अभिमन्यु के वध पर कौरवों का हर्ष प्रकट करना आलम्बन है। श्रीकृष्ण के वाक्य (जिनके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है) उद्दीपन है। अर्जुन के वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, उग्रता और गर्व आदि सञ्चारी हैं। इनके द्वारा रौद्र रस की व्यञ्जना है।

"नहिंन ताडका नारि, मैं न हर-धनुष दारुमय;
नहिंन राम द्विज दीन, मृग न मारीच कनकमय।
बालि हौं न बनचर वराक, जड़ ताड़ न जानहुँ;
खर दूषन त्रिसिरा सुबाहु पौरुष न प्रमानहुँ।
पाथोधि हौंन बाँध्यो उपल, सबल सुरासुर-सालकौ;
रन कुंभकर्न काकुस्थ रे! महाकाल हौं काल कौ।"११५॥

यहाँ श्रीरघुनाथजी आलम्बन, राक्षसों का विनाश उद्दीपन, कुम्भकर्ण के तर्जन-युक्त ये वाक्य अनुभाव, उग्रता, अमर्ष और गर्व आदि सञ्चारी भावों से रौद्र रस ध्वनित होता है।

"धनु हाथ लिए नृप मान-धनी अवलोकत हो पै कछू न कियो;
कुरु-जीवन कर्न के आगे 'मुरार' वकार के आपनो बैर लियो।

---

१ मूल पाठ 'क्रोध' है। क्रोध का रौद्र के उदाहरण में यहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाना ठीक न था इसलिये पाठान्तर कर दिया है।

कच-द्रौपदी ऐंचनहार दुसासन को नख तैं जु विदार हियो;
कत जात कह्यो अति आनँद आज मैं जीवित को रत-उष्ण पियो।"११६॥

यहाँ मृत दुःशासन आलम्बन, दुर्योधन और कर्ण का समक्ष होना उद्दीपन तथा स्मृति, उग्रता, गर्व और हर्ष आदि सञ्चारी और भीमसेन द्वारा रक्त-पान किया जाना अनुभाव हैं। किन्तु—

"लंका ते निकसि आए जुत्थन के जुत्थ लखि,
कूद्यो वज्रअंग किटकिटी दै झपट्टिकै;
सुनि-सुनि गर्वित वचन दुष्ट पुष्टन के,
मुष्ट बाँधि उच्छलत सामने सपट्टिकै।
'ग्वाल' कवि कहै महा मत्त रत्त अक्ष करि,
धावै जित्त तित्त परै वज्र सो लपट्टिकैं;
चव्वत अधर फेंकैं पव्वत उतंग तुंग,
दव्वत दनुज्ज के दलन है दपट्टिकै।"११७॥

यहाँ रावण की सेना आलम्बन है। उसके गर्व-पूर्ण वाक्य उद्दीपन हैं। दाँत चबाना, पर्वतों को फेकना आदि अनुभाव और उग्रता, अमर्ष आदि सञ्चारी हैं, पर रौद्र रस नहीं। यहाँ कवि द्वारा हनुमानजी के वीरत्व का वर्णन है अतः देव-विषयक रति-भाव है। और—

सत्रुन के कुल-काल सुनी, धनु-भंग-धुनी उठि वेगि सिधाए;
याद कियो पितु के बध कों, फरकैं अधरा दृग रक्त बनाए।
आगे परे धनु-खंड विलोकि, प्रचंड भए भ्रुकुटीन चढाए;
देखत श्रीरघुनायक कौं भृगुनायक वंदत हौं सिर नाए।११८॥

इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी रौद्र रस के नहीं हो सकते हैं। यद्यपि यहाँ क्रोध के आलम्बन श्रीरघुनाथजी हैं, धनुष का भङ्ग होना

उद्दीपन है, होठों का फरकना आदि अनुभाव और पितृ-बध की स्मृति, गर्व, उग्रतादि व्यभिचारी भाव, इत्यादि रौद्र की सभी 'सामग्री' विद्यमान है, पर ये सब मुनि-विषयक रति भाव के अङ्ग हो गए हैं—प्रधान नहीं है। यहाँ कवि का अभीष्ट परशुरामजी के प्रभाव के वर्णन द्वारा उनकी वन्दना करने का है, अत. वही प्रधान है। स्थायी भाव 'क्रोध' रति भाव का अङ्ग होकर गौण हो गया है।

५ वीर-रस

वीर-रस का अत्यन्त उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।

वीर-रस के चार भेद हैं—(१) दान-वीर, (२) धर्म-वीर, (३) युद्ध-वीर, और (४) दया-वीर। इन सब भेदों का स्थायी भाव तो उत्साह ही है, पर आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी, पृथक्-पृथक् होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'वीर' पद का प्रयोग युद्ध-वीर रस में ही होना समुचित है। किन्तु साहित्यदर्पण और रसगङ्गाधर आदि में चारो भेद माने गये हैं।

दान-वीर।

आलम्बन—तीर्थ, याचक, पर्व और दान योग्य उत्कृष्ट पदार्थ आदि।

उद्दीपन—अन्य दाताओं के दान, दान-पात्र द्वारा की गई प्रशंसा, आदि।

अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार, अपनी दानव्य शक्ति की प्रशंसा, आदि।

सञ्चारी—हर्ष, गर्व, मति आदि।

मुझ कर्ण का करतव्य दृढ़ है माँगने आए जिसे ;
निज हाथ से झट काट अपना शीश भी देना उसे ।
बस, क्या हुआ फिर अधिक, घर पर आ गया अतिथी विसे;
हूँ दे रहा कुण्डल तथा तन-त्राण ही अपने इसे ।१९९॥

ब्राह्मण के वेष में आए हुए इन्द्र को अपने कुण्डल और कवच देते हुए कर्ण की अपने निकटस्थ सभ्य जनो के प्रति (जो इस कार्य से विस्मित हो रहे थे) यह उक्ति है । यहाँ इन्द्र आलम्बन, उसके द्वारा की हुई कर्ण के दान की प्रशंसा उद्दीपन, कवच और कुण्डल का दान और उनमें तुच्छ बुद्धि का होना अनुभाव और स्मृति आदि सञ्चारी भावों से दानवीरता व्यक्त होती है ।

तृन के परजंक सिला सुचि आसन जाहि परे न बिछावनो है ;
जल निर्झर सीतल पीइबे कौं फल-मूलन को मधु खावनो है ।
बिन माँगे मिलैं ये विभौ वन में, पर एक बड़ो दुख पावनो है ;
पर के उपकार बिना रहिबो वहाँ जीवन व्यर्थ गुमावनो है ।२००॥

नागानन्द नाटक मे जीमूतवाहन की यह उक्ति है । चौथे चरण में दान-वीर की व्यञ्जना है ।

"देवरु दानव दानी भए तिन जाचक की मनसा प्रतिपाली ;
सोई सुजस्स जिहाँन सुहावतु गावतु है 'जनराज' रसाली ।
मैं जगदेव पमार प्रसिद्ध सराहति जाहि ससी अँसुमाली ;
सीस की मेरे कहा गिनती जिय राजी रहै कलि में जो कँकाली[1] ।२०१

कङ्काली नाम की एक भाट की स्त्री के प्रति इतिहास-प्रसिद्ध जगदेव

---

१ कङ्काली-नामक भाटिनी ने जगदेव से भिक्षा में उसका सिर माँगा था । उस भाटिनी के प्रति जगदेव के ये वाक्य हैं ।

पमार की यह उक्ति है। यहाँ भी दान के उत्साह की व्यञ्जना है। किन्तु—

पद एकहि सातौं समुद्र सदीप कुलाचल नापि धरा में समायो ;
पद दूसरे सों दिवि-लोक सबैं, पद तीसरे कों न कछू जब पायो।
हरि की स्मित मंद विलोकन पेखि तबै बलि ने हिय मोद बढ़ायो ;
तन रोम उठे प्रन राखिबे को जब नापिबे को निज सीस झुकायो।२०२

यहाँ दान-वीर नहीं, क्योंकि भगवान वामन आलम्बन, उनका सस्मित देखना उद्दीपन, रोमाञ्चादि अनुभाव एवं हर्षादि सञ्चारी भावों से स्थायी भाव उत्साह की दान-वीर के रूप में व्यञ्जना होने पर भी यहाँ वक्ता को बलि राजा की प्रशंसा करना अभीष्ट है, और उस प्रशसा का यह उत्साहात्मक वर्णन पोषक है। अतः राज-विषयक रति भाव ही यहाँ प्रधान है—उत्साह उसका अङ्ग-मात्र है। यद्यपि पूर्वोक्त सख्या १६६ के उदाहरण मे भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है, पर वहाँ कर्ण के वाक्य कवि द्वारा केवल दोहराए गये हैं—कवि द्वारा प्रशसा नहीं, अतः वहाँ दान-वीर ही है।

"बकसि बितुंड दए झुंडन-के-झुंड रिपु-
मुंडन की मालिका त्यों दई त्रिपुरारी कौं ;
कहै 'पदमाकर' करोरन के कोष दए,
षोडसहू दीन्हें महादान अधिकारी कौं;
ग्राम दए, धाम दए, अमित अराम दए ,
अन्न-जल दीन्हें जगती के जीवधारी कौं ;
दाता जयसिंह दोय बात नहीं दीन्ही कहूँ,
बैरिन को पीठि और दीठि परनारी कौं।"२०३।४

"संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि
तुरत लुटावत विलंब उर धारैं ना ;
कहै 'पदमाकर' सु हेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितर बिचारैं ना।
दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथराव,
याहि गज धोखै कहूँ काहू देय डारैं ना ;
याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,
गिरि ते गरैं ते निज गोद तें उतारैं ना।"२०४॥

इन दोनो कवित्तो मे दान-वीर की उत्कट व्यञ्जना है, किन्तु दान का उत्साह, पहले मे जयपुराधीश जयसिंह की, और दूसरे मे राजा रघुनाथराव की, प्रशंसा का पोषक है। अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और उत्साह उसका अङ्ग है—दान-वीर नहीं।

धर्म-वीर।

महाभारत, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थ आलम्बन; उनमे वर्णित धार्मिक इतिहास और फलस्तुति उद्दीपन; धर्माचरण, धर्म के लिये कष्ट सहन करना, आदि अनुभाव, और धृति, मति आदि सञ्चारी होते हैं।

"और ते टेक धरी मन माँहि न छाँड़ि हौं कोऊ करौ बहुतेरौ ;
धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरौ।
मातु सहोदर औ' सुत नारि जु सत्य बिना तिहिँ होय न बेरौ।
हाथी तुरँगम औ' वसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरौ।"२०५

यहाँ महाराज युधिष्ठिर का धर्म-विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी है। गर्व, हर्ष, धृति और मति आदि सञ्चारी एवं ये वाक्य अनुभाव हैं।

"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं !
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी ;
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी।"२०६॥

यहाँ अर्जुन की इस उक्ति में धर्मवीर की व्यञ्जना है।

"श्रीदसरत्थ महीप के बैन को मानि सही मुनि वेष लयो है ;
पै कछु खेद न कीन्हों हिये 'लछिराम' सु बेद-पुरान बयो है।
सातहु दीपन के अवनीप प्रजा प्रतिपाल को रंग रयो है,
राम गरीब-निवाज को भूतल धर्म ही को अवतार भयो है।"२०७॥

यद्यपि यहाँ पूर्वार्द्ध मे धर्म-वीर की व्यञ्जना है, पर उत्तरार्द्ध में भगवान् श्रीरामचन्द्र की धर्म-वीरता की जो प्रशसा है, वही प्रधान है। अतः देव-विषयक रति-भाव का धर्मवीरत्व अङ्ग हो गया है। 'महेश्वर-विलास' में लछिरामजी ने इसे धर्म-वीर के उदाहरण मे लिखा है, पर वास्तव में 'धर्म-वीर' नहीं है।

युद्ध-वीर।

आलम्बन—शत्रु।

उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम आदि।

अनुभाव—गर्व-सूचक वाक्य, रोमाञ्च, आदि।

सञ्चारी—धृति, स्मृति, गर्व तर्क, आदि।

भाखैं रघुनाथ खोल आँखैं सुन लंकाधिप !
देहु वयदेही स्वयं याचत है राम यह ;
मतिभ्रम तेरे कहा, हेरैं क्यों न धर्मनीति,
बीतिगो कछू न बने सारे धन-धाम यह।

ना तो मम बान चढ़ि जायगो कमान तबै,
होयगो प्रतच्छ जैसो निसित निकाम यह ;
चूसि-चूसि रक्त खरदूषन को तृप्त ह्वै न,
ह्वै रह्यो अलक्त अजौं आर्द्र मुख स्याम यह । २०८॥

यह रावण के समीप अङ्गद द्वारा भेजा हुआ श्रीरघुनाथजी का सन्देश है । रावण आलम्बन है । जानकी-हरण उद्दीपन है । ये वाक्य अनुभाव हैं । स्मृति, गर्व, आदि सञ्चारी हैं ।

"पारथ विचारो पुरुषारथ करैगो कहा,
स्वारथ-सहित परमारथ नसैहौं मैं ।
कहैं 'रतनाकर' प्रचार्यो रन भीषम यों,
आज दुरजोधन को दुःख दूरि दैहौं मैं ।
पंचनि के देखत प्रपंच करि दूर सबै,
पंचन को स्वत्व पंचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं ;
हरि-प्रन-हारी जस धारिकै धरौं हौं सांत,
सांतनु को सुभट सुपूत कहिवैहौं मैं ।"२०९॥

"गंगा राजरानी को सुभट अभिमानी भट,
भारत के बंस मैं न भीषम कहाऊँ मैं ;
जो पै सररेट औ' दपेट रथ पारथ को,
लोकालोक परबत के पौर न बहाऊँ मैं ।
'मिश्रजू' सुकवि रनधीर वीर झूमैं खरे,
कीन्ही यह पैज ताहि सबको सुनाऊँ मैं ;
कहो हौं पुकारि ललकारि महाभारत में,
आज हरि-हाथ जो न सस्त्र को गहाऊँ मैं ।"२१०॥

इन दोनो कवित्तों मे भीष्मजी की उक्ति है । श्रीकृष्णार्जुन आलम्बन हैं । श्रीकृष्ण की शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन है । भीष्मजी के ये वाक्य अनुभाव हैं । गर्व, स्मृति, धृति आदि सञ्चारी हैं ।

"बल के उमंड भुज-दंड मेरे फरकत ,
कठिन कोदंड खैंच मेल्यो चहैं कान तैं।
चाउ अति चित्त में चढ़यो ही रहै जुद्ध-हित ,
जूटै कब रावन जु बीसहू भुजान तैं।
'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्थन को सीघ्रपनो ,
देखेंगे दनुज्ज जुत्थ गुत्थित दिसान तैं ;
दसमत्थ कहा, होय जो पै सो सहस्र लच्छ ,
कोटि-कोटि मत्थन कौं काटौं एक बान तैं।"२११॥

यह श्रीलक्ष्मणजी की उक्ति है। यहाँ रावण आलम्बन, जानकी-हरण उद्दीपन, ये वाक्य अनुभाव और गर्व, अमर्ष, औत्सुक्यादि सञ्चारी हैं।

"एहो अवधेस ! अब दीजिए निदेस मोहि,
चंद्र माँहि चूरिकै निचोरि सुधा लाऊँ मैं ,
जायकै पताल ताल मारि जीति सेसजू कौं,
अष्टकुली नागन कौं गनिकै नसाऊँ मैं ;
'रामद्विज' मडि जस मारतंड-मंडल को,
प्रबल प्रचंड तेज सीतल बनाऊँ मैं ;
खंडि जम-दंड जो न चंड भुजदंडन सौं,
वीर बलबड पौन-पूत न कहाऊँ मैं।"२१२॥

यहाँ लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर सुषेण वैद्य द्वारा सञ्जीवनी लाने के लिये कहा जाना आलम्बन है। इस कार्य के लिये विचार किया जाना उद्दीपन और हनुमानजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष, आदि सञ्चारी हैं। इनके सयोग से यहाँ वीर-रस की व्यञ्जना है।

"मैं सत्य कहता हूँ सखे ! सुकुमार मत जानो मुझे ;
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानो मुझे।

है और की तो बात हो क्या गर्व मैं करता नहीं ;
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं।"२१३॥

ये अपने सारथी के प्रति अभिमन्यु के वाक्य हैं। कौरव आलम्बन हैं। उनकी अभेद्य चक्र-व्यूह-रचना उद्दीपन है। अभिमन्यु के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इनके सयोग से वीर-रस की व्यञ्जना है। किन्तु—

"जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह ,
ता दिन दिगंत लौं दुवन दाटियतु है ;
प्रलै कैसे धाराधर धमकैं नगारा भूरि ,
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ ,
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है ;
काच-से कचढि जात सेस के असेस फन ,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु है।"२१४॥

यहाँ उत्साह की व्यञ्जना होने पर भी महाराजा शिवराज की प्रशंसा प्रधान है। उत्साह उस प्रशसा का पोषक होकर यहाँ गौण हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

"दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौं हीं ,
तंत्र बिन आई मन-जंत्र बिजुरीनि पै।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कान्ह की कृपा की कानि ,
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पै॥
अंग परौ थहरि लहरि दृग रंग परयौ ,
तंग परयौ बसन सुरंग पसुरीन पै।
पंच जन्य चूमन हुमसि होंठ बक्र लाग्यौ ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमंगि अंगुरीनि पै॥"२१५॥

यहाँ द्रौपदी की पुकार सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय में उत्साह की उत्कट व्यञ्जना होने पर भी वह (उत्साह) यहाँ भक्तिभाव की व्यञ्जना का अङ्ग मात्र है, अतः वीर रस नहीं।

दया-वीर।

इसमें दयनीय व्यक्ति (दया का पात्र) आलम्बन, उसकी दीन दशा उद्दीपन, दया-पात्र से सात्वना के वाक्य कहना अनुभाव, और धृति, हर्ष, आदि व्यभिचारी होते हैं।

स्रवत रुधिर धमनीन सों माँसहु मो तन माँहि,
तृपत लखाय न गरुड तुहु भखत न क्यों अब याहि।२१६॥

सर्पों की बध्य शिला पर शङ्खचूड के बदले में बैठे हुए दयार्द्र जीमूत-वाहन के अङ्गों को नोंच-नोंचकर खाने पर भी उसको (जीमूत-वाहन को) प्रफुल्ल-चित्त देखकर चकित गरुड के प्रति जीमूत-वाहन की यह उक्ति है। यहाँ शङ्खचूड आलम्बन है। उसको खाने के लिये गरुड के उद्यत होने पर उसकी दयनीय दशा उद्दीपन है। धृति आदि सञ्चारी और जीमूत-वाहन के वाक्य अनुभाव हैं।

"देखत मेरे को जीव हने सुनि के धुनि कोस हजार तें धाऊँ;
और को दु:ख न देखि सकौं जिहिँ भाँति छुटै तिहि भाँति छुटाऊँ।
दीनदयाल है छत्रि को धर्म तहूँ सिवि हौं जग-व्याधि नसाऊँ;
तू जनि सोचै कपोत के पोतक आपनी देह दै तोहि बचाऊँ।"२१७॥

बाज-रूप इन्द्र से डरे हुए शरणागत कबूतर के प्रति ये शिवि राजा के वाक्य हैं। कबूतर आलम्बन है, कबूतर की दयनीय दशा उद्दीपन है। राजा के वाक्य अनुभाव हैं। धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं।

"हे कपिकंत! विभीषन कों यहाँ मंत्रिन साथहि वेगि बुलाय लै;
हौं सरनागत कों न तजौं प्रन मेरो यही उर में अपनाय लै।

लीन्हों सुकंठ ने बोलि तबै लखि ताहि कह्यो प्रभु ने उर लाय लै ;
लंक-महीप ! असंकित ह्वै दुख-दंद विहाय अनंद बढ़ाय लै।"२१८॥

यहाँ रावण द्वारा अपमानित विभीषण आलम्बन है। सुग्रीव द्वारा कहलाए हुए विभीषण के दीन वाक्य उद्दीपन हैं। धृति, स्मृति, आदि सञ्चारी हैं। श्रीरघुनाथजी के वाक्य अनुभाव हैं।

"हेरि हहराय हाय-हाय कै कहत हरा[1],
ससुरा न सास कौन मेटै दुख-माला कों ;
थान है मसान ता विकान कों धरै कों आन,
लैहै कौन लाला सिंहछाला गजछाला कों।
वृश्चिक भुजंग गोधिकात्मज[2] से भव्य-भव्य,
भूषन भरे है कैसें काटि हौं कसाला कों,
वाको दुख चीन्हों नाहिँ, चीन्हौं दुख देवन को,
लीन्हौं ह्वाँ अमोल जस पीनौ हर[3] हाला[4] कों।"२१९॥

यहाँ श्रीपार्वती के वाक्यो से अपने घर की दशा पर ध्यान न देकर देवतों की दीनता पर दया करके विष-पान करने मे दया के उत्साह की व्यञ्जना अवश्य है, किन्तु इसमे 'दया-वीर' नहीं है। कवि का अभीष्ट श्रीशङ्कर की स्तुति करना है। अतः ऐसे वर्णनो मे देव-विषयक रति (भक्ति) भाव ही प्रधान रहता है, और दया का उत्साह उसका पोषक होने से भक्ति का अङ्ग हो जाता है।

६ भयानक रस

किसी बलवान् के अपराध करने पर, या भयङ्कर वस्तु के देखने से यह उत्पन्न होता है।

---

१ श्रीपार्वतीजी। २ गोहिरा। ३ श्रीशङ्कर। ४ ज़हर।

स्थायी भाव—भय।

आलम्बन—व्याघ्र आदि हिंसक जीव, शून्य स्थान, वन, शत्रु आदि

उद्दीपन—निस्सहाय होना, शत्रु आदि की भयङ्कर चेष्टा, आदि।

अनुभाव—स्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, रोमाञ्च और गद्‌गद होना, आदि।

सञ्चारी—जुगुप्सा, त्रास, मोह, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, चिन्ता और आवेग आदि।

कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है;
कुरुराज[1] चिंता-ग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए।"२२०॥

अर्जुन की प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन के प्रति जयद्रथ के ये वाक्य हैं। अभिमन्यु के वध का अपराध और अर्जुन की प्रतिज्ञा आलम्बन और उद्दीपन है। त्रास आदि व्यभिचारी और जयद्रथ का किंकर्तव्य-विमूढ होना और गात्र का जलना, अनुभाव हैं। इनके द्वारा यहाँ भयानक रस की व्यञ्जना होती है।

"पवन-वेगमय वाहनवाली गर्जन करती हुई बड़ी;
उसी जगह से घन-माला-सम कौरव-सेना दीख पडी।
सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे;
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे।
बोला तब होकर[2] कातर वह शक्ति भूल अपनी सारी,
देखो-देखो बृहन्नले! यह सेना है कैसी भारी।"२२१

---

१ मूल पाठ 'भय और' है। भयानक रस के उदाहरण में भय का स्पष्ट कथन होना उपयुक्त न होने के कारण 'कुरुराज' पाठान्तर कर दिया गया है।

२ यहाँ 'भय से' के स्थान पर 'होकर' पाठान्तर कर दिया गया है।

मैं किस भाँति लड़ूँगा इससे, लौटाओ रथ-अश्व अभी ;
सैन्य-सहित जब पिता आयेंगे, होगा बस अब युद्ध तभी।"२२२॥

बृहन्नला के रूप में अपने सारथी अर्जुन के प्रति विराटराज के पुत्र उत्तरकुमार की यह उक्ति है। कौरव-सेना आलम्बन है। उसका भयङ्कर दृश्य उद्दीपन है। वैवर्ण्य और गद्गद होना अनुभाव हैं। त्रास, दैन्य, आवेग आदि सञ्चारी हैं। पहला उदाहरण अपराध-जनित भय का है, और यह भयङ्कर दृश्य-जनित भय का।

कहीं कहीं भय स्थायी की स्थिति होने पर भी भयानक रस नहीं होता है—

"सकट व्यूह भेद करि धायो है पार्थ जबै,
युद्ध करि द्रौन ही ते याद करि वाका की ;
कुपित महान भयो रुद्र-सम रूप छयो,
लाग्यो है करन घोष गांडिव पिनाका की।
भनै कवि 'कृष्ण' भूमि-मुंडन सों छात भई,
नदी-सी उमडि चली स्रोनित धराका की ;
कौरव के वीरन की छाती धहरान लागी,
देख फहरान भारी बानर-पताका की।"२२३॥

अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। अर्जुन आलम्बन है। उसके युद्ध का भयङ्कर दृश्य उद्दीपन है। स्मृति, त्रास, आदि सञ्चारी हैं। कौरव-सेना का हृदय धहराना अनुभाव है। यहाँ भय स्थायी की व्यञ्जना है पर वक्ता का अभीष्ट यहाँ अर्जुन के वीरत्व की प्रशंसा करना है। अतः भय यहाँ राज-विषयक रति का अङ्ग हो गया है। और—

"सूबनि साजि पठावतु है निज फौज लखे मरहट्टन केरी ;
औरँग आपुनि दुग्ग जमाति विलोकत तेरिए फौज दरेरी।

साहितनै सिवसाहि भई भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी ;
रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सैन कि सूरति सूरति घेरी।"२२४॥

ऐसे उदाहरणों में भयानक रस नहीं समझना चाहिये। यद्यपि यहाँ शिवराज आलम्बन है, उसके पराक्रम का स्मरण उद्दीपन, औरगशाह की अपनी ही फौज मे शिवाजी की फौज का भ्रम होना अनुभाव, और त्रास, चिन्ता, आदि व्यभिचारी भावों से भय की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु कविराज भूषण का अभीष्ट यहाँ शिवाजी की प्रशसा करने का है, अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। औरगजेब का भयभीत होना उसकी पुष्टि करता है, अतः वह अङ्गभूत है।

"छूटे धाम धवल कँवल सुखवार छूटे,
छूटी पति-प्रीति गति छूटी जो करीन मे ,
भनत 'प्रवीन बेनी' छूटे सुखपाल रथ,
छूटी सुखसेज सुख साहिबी नरीन में।
गाज़ुद्दी उजीर वीर रावरी अतंकु पाइ,
आजु दिन ह्वै गई जु दीन जे परीन में ;
कारी-कारी जामिनी में बैरिन की भामिनी ते ,
दामिनी-सी दौरैं दुरी गिरि की दरीन में।"२२५॥

यहाँ भी भयानक रस की सामग्री है किन्तु इसके द्वारा कवि कृत गाज़ुद्दीन की प्रशसा की पुष्टि होती है, अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है। 'नवरसतरग' मे इसे भयानक रस के उदाहरण में लिखा है, पर वास्तव मे भयानक रस नहीं है।

७ बीभत्स रस

रुधिर, आँत आदि घृणित वस्तु देखने पर जो ग्लानि होती है, उसी से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—जुगुप्सा (ग्लानि) ।

आलम्बन—दुर्गन्धित मास, रुधिर, चर्बी, वमन, आदि ।

उद्दीपन—मासादि मे कीड़े पड जाने, आदि का दृश्य ।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मूँद लेना, आदि ।

व्यभिचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण, आदि ।

"अति ताप तें अस्थि पसीजन सों कढ़ै मेद की बूँदन जो टपकावैं;
तिन धूम धुमारिनु लोथिनि कौं ये पिसाच चितानु सौं खैंचि कै खावैं।
ढिलियाइ खस्यो तचि मांस सबै जिहिँसों जुग संधिहु भिन्न लखावैं ;
अस जंघनली-गत मज्जा मिली, सद पो चरबी परवी-सी मनावैं ।"२२६

अर्द्ध-दग्ध मृतकों का दृश्य आलम्बन और उद्दीपन है । इस दृश्य का देखा जाना अनुभाव और मोह आदि सञ्चारी हैं ।

"सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत ;
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत ।
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदिकै मांस उपारत ;
स्वान आँगुरिन काटि-काटिकै खात विदारत ।
बहु चील नौंचि लै जात तुच मोद भर्‌यो सबको हियो ,
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो ।"२२७

यहाँ श्मशान का दृश्य आलम्बन, और मृतको के अङ्गों का काकादि द्वारा खाया जाना उद्दीपन, इत्यादि से बीभत्स रस की व्यञ्जना है ।

"इतहि प्रचंड रघुनंदन उदंड भुज ,
उतै दसकंठ बढ़ि आयो डरु डारिकै ;
'सोमनाथ' कहै रन मंड्यो फा मंडल में ,
नाच्यो रुद्र स्रोनित सौं अंगन पखारिकै ।

मेद गूद चरबी की कीच मची मेदनी में,
बीच-बीच डोलैं भूत भैरौं मद धारिकै ;
चायनि सौं चंडिका चबाति चंड-मुंडन कौं,
दंतनि सौं अंतनि निचोरैं किलकारिकै।"२२८॥

किन्तु—

दृढ़ कावरि है अघ-ओघन को सब दोषन को यह गागरि है ;
अस तुच्छ कलेवर को स्रक-चन्दन भूषन साजि कहा करि है।
मल-मूतन कीच गलीच जहाँ कृमि आकुल पीब अँतावरि है ;
दिन वे किन याद करे ? घिन कै जब सूकर कूकर हू फिरि है।२२९

यहाँ वीभत्स की व्यञ्जना होने पर भी मनुष्य-शरीर की घृणास्पद अन्तिम अवस्था के वर्णन से वैराग्य की पुष्टि की गई है, अतः शान्त रस प्रधान है—वीभत्स उसका अङ्ग मात्र है।

"आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा वह,
मादा-मल-मूत औ' मज्जा की सलीती है,
कहै 'पदमाकर' जराती जागि भीजी तब,
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भींती है।
सीतापति राम में सनेह यदि पूरो कियो,
तौ तौ दिव्य देह जम-जातना सों जीती है,
रीती राम-नाम तें रही जो बिना काम वह,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।"२३०॥

इसमें मनुष्य-शरीर की वीभत्सता का वर्णन होने पर भी वीभत्स रस नहीं है। यहाँ जुगुप्सा स्थायी न रह कर सञ्चारी हो गया है, क्योंकि शरीर की वीभत्सता बताकर राम-भक्ति को प्रधानता दी गई है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही है।

"भूप शिवराज कोप करि रन मंडल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकत्ता के दरबारे में;
काटे भट विकट गजनहू के सुंड काटे,
पाटै डारि भूमि काटे दुवन सितारे मे।
'भूषन' भनत चैन उपजै सिवा के चित्त,
चौसट नचाई जबैं रेवा के किनारे में;
आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।"२३१॥

यहाँ भी जुगुप्सा की व्यञ्जना है। किन्तु वह सञ्चारी भाव होकर महाराज शिवाजी के प्रताप के वर्णन का अङ्गभूत हो गया है, अतः राज-विषयक रति भाव है—न कि बीभत्स रस।

"चटकत बाँस कहूँ जरत दिखात चिता,
मज्जा-मेद-बास मिल्यो गंधवाह[1] गहिए।
काहू थल आँत-पाँत दग्ध देह की दिखात,
नील-पीत ज्वाल-पुंज भांति बहु लहिए।
केतिक कराल गीध चील माल जाल रूप
मांसहारी जीवन जमात लखि घिनिए,
ऐसे समसान माँहि शांत हेतु शब्द यही
राम-नाम सत्य है, श्रीराम-नाम कहिए।"२३२॥

यद्यपि यहाँ चौथे चरण में शान्त के विभावो का वर्णन है, पर शान्त रस के अनुभाव और व्यभिचारियो द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की गई है। अतः ऐसे वर्णनों मे वीभत्स को ही प्रधान समझना उचित है।

---

१ पवन।

८ अद्भुत रस

आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओं के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।

स्थायी भाव—विस्मय।

आलम्बन—अलौकिक, अदृश्य पूर्व, आश्चर्य-जनक वस्तु।

उद्दीपन—उसकी विवेचना।

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च और गद्गद होना, अनिमिष देखना, सम्भ्रम, आदि।

सञ्चारी—वितर्क, आवेग, भ्रान्ति, हर्ष, आदि।

जदुनाथ सों माँगि बिदा बगदे मग माँहि अनेक विचार फुरे चित;
निज भौन हतो तहँ मंदिर चारु पुरंदर हू अभिलाषित जो नित।
मनि-थंभ रु विद्रुम देहरी त्यों गज-मोतिन वंदनवार परे जित;
लखि चौंकि के विप्र कह्यो यह है सपनो अथवा लखि साँचौ परै इत।२३३

यहाँ द्वारिका से लौटकर आने पर सुदामाजी को अपने घर का न दीखना आलम्बन, अलौकिक विभव-सम्पन्न भवन का वहाँ होना उद्दीपन, वितर्क आदि सञ्चारी हैं। इनसे विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में व्यक्त होता है।

गोपों से अपमान जान अपना क्रोधांध होके तभी,
की वर्षा व्रज इंद्र ने सलिल से चाहा डुबाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहो?२३४॥

यहाँ गोवर्धनधारी श्रीनन्दनन्दन आलम्बन है। उनका अविकल स्थिर रहना उद्दीपन है। व्रजवासियों के ये वाक्य अनुभाव हैं। वितर्क, हर्ष, आदि सञ्चारी हैं। इनके सयोग से यहाँ अद्भुत रस की व्यञ्जना है।

"रिस करि लेजैं लै के पूतै बांधवे को लगी,
आवत न पूरी बोली कैसो यह छौना है।
देखि-देखि देखै फिर खोल कै लपेटा एक,
बाँधन लगी तो वहू क्योहू कै बँधौ ना है।
'ग्वाल कवि' जसुधा चकित यों उचाटि रही,
आली यह भेद कछु परै समुझौ ना है।
यही देवता है किधौं याके संग देवता हैं,
या किहूँ सखा ने करि दिन्हौं कछु टौना है।"२३५॥

यहाँ ऊखल से भगवान् श्रीकृष्ण को बाँधने के समय सभी रस्सियों का छोटा रहना आलम्बन है। श्रीकृष्ण का बन्धन में न आना उद्दीपन है। वितर्क आदि सञ्चारी है। इनके द्वारा विस्मय स्थायी अद्भुत रस में व्यक्त होता है।

"व्रज बछरा निज धाम करि फिरि व्रज-लखि फिरि धाम;
फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि विरंचि तिहि ठाम।"२३६॥

वत्स-हरण के समय ब्रह्मा द्वारा गोपकुमार और बछडो को ब्रह्म-धाम में छोड आने पर भी श्रीकृष्ण के पास वही गोप और बछडे देखकर ब्रह्मा को विस्मय होने मे अद्भुत रस की व्यञ्जना है।

"जाही पै संधान बान गांडीव ते अर्जुन को,
ताही पै अच्छर चख चंचल चलात हैं।
रूप रंग भूषन जे वसन निहारत ही,
छिन ही में और ही से और दिखरात हैं।
मेरो ही बर्यो है कैधों और को बर्यो है ऐसो,
अस्त्र बिन सस्त्र ही में दृश्य लखि पात है।
याही ख्याल बीच हैं विहाल सुर-बाल डारैं;
त फूल माल लाल-लाल भई जात हैं।"२३७॥

यहाँ अर्जुन के बाणों से स्वर्गगामी होने वाले वीरों के दृश्य में, सुराङ्गनाओं के हृदय मे अद्भुत रस की व्यञ्जना है।

"दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबंधु !
दीन ह्वै कै द्रुपद-कुमारी यों पुकारी है,
छाँड़े पुरुषारथ कों ठाढ़े पिय पारथ से
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है,
अंबर तो अंबर अमर कियो 'बसीधर'
भीषम करन द्रोन सोभा यों निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि
सारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है।"२३८॥

यहाँ द्रौपदी के चीर-हरण के समय वस्त्र-वृद्धि को देखकर भीष्मादि के चित्त में अद्भुत रस की व्यञ्जना है। किन्तु—

जाते ऊपर को अहो उत्तर के नीचे जहाँ से कृती,
हैं पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।
देखो भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किए,
स्वर्गारोहण-मार्ग जो कि इनके क्या ही अनोखे नए।२३९॥

ऐसे उदाहरणों में अद्भुत रस नहीं होता है, क्योंकि यहाँ श्रीगङ्गाजी की महिमा का वर्णन किया जाने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, विस्मय व्यभिचारी अवस्था मे उसका अङ्ग है।

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं,
जाहि अनादि अखंड अनंत अभेद अछेद सु वेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं,
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरी छाछ पै नाच नचावैं।"२४०॥

यहाँ भी चतुर्थ चरण में विस्मय की अभिव्यक्ति होने पर भी वह प्रधान नहीं है। भगवान् की भक्त-वत्सलता का वर्णन होने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और विस्मय-भाव उसी का पोषक होने से अङ्गभूत है।

९ शान्त रस

तत्त्व-ज्ञान और वैराग्य से शान्त रस उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

आलम्बन—अनित्य रूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्म-चिन्तन।

उद्दीपन—ऋषि जनों के आश्रम, गंगा आदि पवित्र तीर्थ, एकान्त वन, सत्सङ्ग, आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, संसार-भीरुता, अध्यात्म-शास्त्र का चिन्तन, आदि।

सञ्चारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, आदि।

काव्यप्रकाश में 'शान्त' रस का स्थायी निर्वेद माना गया है। मम्मटाचार्य का मत है कि जो तत्त्व-ज्ञान से निर्वेद होता है, वह स्थायी भाव है, और जो इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण निर्वेद होता है, वह सञ्चारी है[1]। नाट्य-शास्त्र में शान्त रस का स्थायी भाव 'शम माना गया है।

साहित्यदर्पण में शान्त रस की स्पष्टता करते हुए कहा है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।'

---

1 "स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद्भवेद्यदि ;
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ"—
काव्यप्रकाश, वामनाचार्य टीका, पृष्ठ १३८।

अर्थात् जिसमे न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं। यहाँ शङ्का हो सकती है कि यदि शान्त रस का यह स्वरूप मान लिया जायगा, तो शान्त रस की स्थिति मोक्ष-दशा मे ही हो, और उस अवस्था मे विभावादि का ज्ञान होना असम्भव है। फिर विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदि के द्वारा शान्त रस की सिद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है? इसका समाधान यह किया गया है कि युक्त[1] वियुक्त[2] और युक्त-वियुक्त[3] दशा मे जो 'शम' रहता है, वही स्थायी होकर शान्त रस में परिणत हो जाता है, और उस अवस्था मे विभावादि का ज्ञान भी सम्भव है। यहाँ मोक्ष दशा या निर्विकल्पक समाधि का शम अभीष्ट नहीं है।

शान्त रस मे जो सुख का अभाव कहा गया है, वह विषय-जन्य सुख का अभाव है, न कि सभी प्रकार के सुखो का अभाव। क्योंकि—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्,
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।"

---

१ रूप, रस आदि विषयों से मन को हटाकर ध्यान-मग्न योगी को 'युक्त' कहते हैं।

२ जिसे योग-बल से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, और समाधि-भावना करते ही सब वाञ्छित वस्तुओ का ज्ञान अन्तःकरण में भान होने लगता है, उस योगी को 'वियुक्त' कहते है।

३ जिसकी नेत्र आदि सब इन्द्रियाँ महत्त्व और अद्भुत रूप आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात् कर सकती हैं, उस योगी को 'युक्त-वियुक्त' कहते है।

अर्थात् ससार में जो विषय-जन्य सुख हैं, तथैव स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलकर भी तृष्णा-क्षय (शान्ति) से उत्पन्न होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते हैं। अतएव 'शम' अवस्था में सुख अवश्य होता है, और वह अनिर्वचनीय होता है। शान्त रस का उदाहरण—

"जानि परयो मोकों जग असत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है,
याते परिवार व्यवहार जीत-हारादिक
त्याग करि, सबही विकसि रह्यो मन है।
'ग्वाल' कवि कहै मोह काहू मैं रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन-धन है।
कीन्हों मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अलख अपारु चारु चिदानंदघन है।"२४१॥

यहा जगत् की अनित्यता आलम्बन है। किसी में मोह न रहना अनुभाव है। मति आदि सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा शान्त रस ध्वनित होता है।

व्याल सौं न भीति प्रीति मोतिन की माल सौं न
जैसो रत्न ढेर तैसो लोहहू प्रमानौं मैं,
फूलन बिछान त्यो पखान हू समान मेरे
मित्र और सत्रु में न भेद कछु जानौं मैं।
तृन कों न तुच्छ, नहिँ लच्छ करौं तरुनी कौं
राग और द्वेष को न लेस चित्त आनौं मैं।
कोऊ सुन्यारन्य माँहि मेरे यह द्यौस बीतौ
चीतौं ना और एक सिव-सिव बखानौं मैं।२४२॥

यहाँ प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष आदि मे समदृष्टि होने के कारण शान्त रस की व्यञ्जना है। जिस संस्कृत-पद्य का यह अनुवाद है, उसे काव्य-प्रकाश मे शान्त रस के उदाहरण में लिखा है। नागोजी भट्ट[1] और क्षेमेन्द्र[2] कहते हैं—'समदृष्टि के लिये सभी स्थल शिवमय हैं, फिर पुण्यारण्य की ही इच्छा उस अवस्था के (समदृष्टि के) प्रतिकूल होने से यहाँ अनौचित्य है'। हमारे विचार में इसके द्वारा निर्वेद या वैराग्य की व्यञ्जना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, प्रत्युत पुण्यारण्य का सेवन और शिव-शिव की रटन तो विरक्तावस्था के अनुकूल ही है। केवल विषय-सुख और दुःख के विषय में ही समदृष्टि की आवश्यकता है। अतएव यहाँ अनौचित्य नहीं है।

"हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाम बिलैहैं;
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहैहैं।
'केसव' काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐहैं,
चेत रे चेत अजौं चित अंतर अंतक लोक इकेलो ही जैहैं।"२४३॥

यहाँ भी विभावादिकों से शान्त रस ध्वनित होता है।

कहीं-कहीं निर्वेद के विभावादि की स्थिति होने पर भी शान्त रस नही होता है। जैसे—

सुरसरि-तट दृग मूँदि सब विषयन विष-सम जान,
कब निमग्न ह्वै हौं मधुर नील जलज-छवि ध्यान।२४४॥

यहाँ विषयों के तिरस्कार आदि के द्वारा पूर्वार्द्ध मे निर्वेद की व्यञ्जना है, किन्तु कवि का अभीष्ट भगवान् कृष्ण में प्रेम-सूचन

१ देखिये, शान्त रस के इस उदाहरण की काव्यप्रकाश की उद्योत टीका।

२ औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला, प्रथम गुच्छक, पृष्ठ १३१।

करना ही है। अतः शान्त रस नहीं, देव-विषयक रति (भक्ति) भाव प्रधान है, और 'निर्वेद' सञ्चारी अवस्था मे उसका पोषक है।

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं;
आठहु सिद्धि नवो निधि को, सुख नंद की गाय चराय बिगारौं।
'रसखान' कबौं इन लोचन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं;
कोटि करौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।"२४५

ऐसे वर्णनो मे भी देव-विषयक रति भाव (भक्ति) ही प्रधान है, न कि शान्त रस।

"बैठि सदा सतसंगहि में विष मानि बिषै-रस कीर्ति सदाहीं,
त्यों 'पद्माकर' झूठि जितौ जग जानि सुज्ञानहिँ को अवगाहीं।
नाक की नोंक मे दीठि दिए नित चाहै न चीज कहूँ चित चाही;
संतत संत सिरोमनि है धन है धन वे जन वेपरवाही।"२४६

जगद्विनोद मे कवि ने इसे शान्त रस के उदाहरण मे लिखा है। यहाँ तीन चरणो मे जो वैराग्य की व्यञ्जना है, वह चौथे चरण मे सन्त जनो की महिमा का अङ्ग हो जाने से मुनि-विषयक रति भाव है, न कि शान्त रस।

शान्त रस और दया-वीर रस मे यह भेद है कि दया-वीर मे देहादि का अभिमान रहता है, किन्तु शान्त मे अहङ्कार का आभास भी नहीं होता है। यदि दया-वीर, धर्म-वीर और देव-विषयक रति भाव, सब प्रकार के अहङ्कारों से शून्य हो जायँ, तो वे शान्त रस के अन्तर्गत आ सकते हैं।

हास्य और बीभत्स रस के आश्रय

रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी भावों के आलम्बन और आश्रय दोनों की ही प्रतीति होती है। जैसे

शृङ्गार-रस में शकुन्तला-विषयक दुष्यन्त की रति मे शकुन्तला आलम्बन और दुष्यन्त रति का आश्रय है, और दोनो को ही प्रतीति होती है। परन्तु हास्य और जुगुप्सा में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है—आश्रय की नहीं। अर्थात् जिसे देखकर हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसी का वर्णन होता है—जिस व्यक्ति के हृदय में हास और घृणा उत्पन्न होती है, उस (आश्रय) का प्रायः वर्णन नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ का[1] इस विषय में यह कहना है कि हास और जुगुप्सा मे आश्रय के लिये काव्य के पाठक और श्रोता या नाटक के दर्शक किसी व्यक्ति का आक्षेप कर लेते हैं। यदि किसी व्यक्ति का आक्षेप न भी किया जाय तो पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों को ही रस का आश्रय मान लेना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि पाठक, श्रोता या दर्शक तो अलौकिक रस के आस्वाद के आनन्द का अनुभव करनेवाले हैं (अर्थात् आस्वाद के आधार हैं), और इसलिये लौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय वे कैसे हो सकते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार श्रोता आदि को अपनी स्त्री-सम्बन्धी वर्णनात्मक काव्य से रसास्वाद होता है (अर्थात्, लौकिक रस का जो आश्रय होता है, वही अलौकिक रस का आस्वाद करनेवाला भी होता है) उसी प्रकार हास और जुगुप्सा में भी आश्रय और रसानुभवी एक ही मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

---

१ रसगङ्गाधर, पृ० ४९।
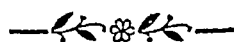
चतुर्थ स्तवक का तृतीय पुष्प

भाव

(१) देव आदि विषयक रति, (२) सामग्री के अभाव में उद्बुद्ध-मात्र अर्थात् रस रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव, और (३) प्रधानता से व्यञ्जित निर्वेदादि सञ्चारी, इनकी भाव संज्ञा है।

(१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ 'रति' के आलम्बन होते हैं, अर्थात् जहाँ इनके विषय मे भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्यभाव, प्रशंसा, वात्सल्य और स्नेह ध्वनित होता है, चाहे वे सामग्री से पुष्ट हों अथवा अपुष्ट, वे रति भाव (भक्ति आदि) 'भाव' कहे जाते हैं।

(२) जहाँ रति आदि नवों स्थायी भाव उद्बुद्ध-मात्र हो अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारियो से परिपुष्ट न हो, वहाँ इन स्थायी भावों को भाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नायक-नायिका आलम्बन होने पर भी 'रति' तभी शृङ्गार-रस मे परिणत हो सकती है जब वह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट की जाती है। अन्यथा उस (रति) की केवल 'भाव' संज्ञा रहती है। इसी प्रकार हास आदि अन्य स्थायी भाव जब विभावादि से परिपुष्ट होते हैं तभी रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं—अपुष्ट अवस्था में वे भी भाव-मात्र रहते हैं।

काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर के भाव-प्रकरण मे स्थायी भाव का

स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु साहित्यदर्पण[1] में अपुष्ट स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख है। काव्य-प्रदीप का भी यही मत है[2]।

(३) निर्वेदादि सञ्चारी भाव जहाँ प्रधानता से व्यञ्जित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ उनकी भी भाव संज्ञा रहती है।

जहाँ व्यभिचारी भाव होता है वहाँ रस होता है और रस की ही प्रधानता रहती है। अतः प्रश्न होता है कि प्रधानता से व्यञ्जित व्यभिचारी की भाव संज्ञा किस प्रकार मानी जा सकती है? इसका उत्तर यह है— जैसे मंत्री के विवाह मे मंत्री-दूल्हा आगे चलता है, और राजा स्वामी (प्रधान) होने पर भी, दूल्हा के पीछे चलता है, इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष अवस्था मे 'व्यभिचारी' प्रधानता से प्रतीत होता है, वहाँ अपने रस की अपेक्षा अधिक प्रधान होकर उसकी (व्यभिचारी भाव की) 'भाव' संज्ञा ही रहती है।

इस विषय में यह भी प्रश्न हो सकता है कि जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव सम्मिलित होकर ही, प्रपानक रस के समान, रस का आस्वाद कराते हैं, तब व्यभिचारी का पृथक् आस्वाद और वह भी प्रधानता से किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रपानक रस मे जब इलायची आदि किसी पदार्थ विशेष का आधिक्य होता है तो उस पदार्थ विशेष का आस्वाद प्रधानता से होता

---

१ "संचारिणः प्रधानानि देवादिविषयारतिः,
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।"

२ "रतिरिति स्थायीभावोपलक्षणम्। 'कान्तादि विषयाऽप्य-पूर्णरतिहासादयश्चाप्राप्तरसावस्था. प्राधान्येन व्यञ्जितो व्यभिचारी च भाव [illegible]।"—काव्यप्रदीप, आनन्दाश्रम-संस्करण, पृष्ठ १२६।

है, उसी प्रकार व्यभिचारी भी किसी विशिष्ट अवस्था में प्रधानता से प्रतीत होने लगता है।

देव-विषयक रति भाव।

हौं भवसागर मे भ्रमि बूड़त हा ! न मिल्यो कोउ पार उतारन ;
नाथ ! सुनौ करुना करिकै सरनागत की यह दीन पुकारन।
चाहौं सदा गुन-गावन कै मनभावन वे उर माँहि निहारन ;
कालिंदी-कूल-निकुंजन की भव-भंजन-केलि अहो गिरिधारन।२४७

यहाँ श्रीनन्दनन्दन आलम्बन हैं। यमुना-तट का विहार उद्दीपन है। विनीत प्रार्थना अनुभाव है। चिन्ता, विषाद और औत्सुक्य आदि सञ्चारी भाव हैं। भगवान् के विषय मे जो अनुराग ध्वनित होता है, वह देव-विषयक रति-भाव है। देव-विषयक रति, भक्ति का पर्याय है।

दिवि में भुवि में निवास हो या,
नरकों मे नरकांत ! हो न क्यों या ;
रमणीय पदारविंद तेरे,
मरते भी स्मरणीय होयँ मेरे।२४८॥

यहाँ भी भगवान् के विषय में देव-विषयक रति भाव है।

"भजु मन चरन संकट हरन।
सनक संकर ध्यान लावत निगम असरन सरन।
सेस सारद कहैं नारद संत चिंतत चरन।
पद पराग प्रताप दुरलभ रमा को हितकरन।
परसि गंगा भई पावन तिहूँ पुर उद्धरन।
चित्त चेतन करत अंतःकरन तारनतरन।
गए तरि लै नाम केते। [illegible]ाथ-प्रकरण में स्थायी भाव का

जासु पदरज परसि गौतम-नारि गति उद्धरन।
जासु महिमा प्रगट कहत न धोइ पग सिर धरन।
कृष्ण-पद-मकरन्द पावन और नहिँ सिर परन।
'सूर' प्रभु चरनारविंद तें मिटैं जनम रु मरन ॥२४९॥

महात्मा सूरदासजी के इस पद में भी देव-विषयक रति भाव है।

"पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलासिबो;
प्रभु के उतीरन की गूदरी करौं चीरन की,
भाल भुजकंठ कर छापन को लसिबो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम-भरि,
वृंदावन सीमा ते न बाहिर निकसिवो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरै गुंजन की कुंजनि में बसिवो।"२५०॥

यहाँ श्रीवृन्दावन-विहारी मे कवि का जो प्रेम ध्वनित होता है, वह देव-विषयक रति भाव है।

देव-विषयक रति अर्थात् भक्ति-रस को साहित्याचार्यों ने 'भाव' सज्ञा दी है। यह ठीक है कि भक्ति-रस को शृङ्गार-रस नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शृङ्गार की व्यञ्जना तो कामी जनों के हृदय मे ही उद्भूत हो सकती है। यह बात शृङ्गार शब्द के यौगिक अर्थ से भी स्पष्ट है। किन्तु 'भक्ति' को एक स्वतन्त्र रस न मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव मे अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री इसमें भी होती है। जैसे, भक्ति-रस के आलम्बन भगवान् श्रीरामकृष्ण आदि हैं, श्रीमद्भागवत आदि का श्रवण उद्दीपन है; और वह रोमाञ्च, अश्रुपात आदि द्वारा अनुभव गम्य एव हर्ष, औत्सुक्य [illegible] भावों द्वारा परिपुष्ट होता है।

श्रुतियो के अनुसार[1] जिस ब्रह्मानन्द पर रस का रसत्व अवलम्बित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस ब्रह्मानन्द से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनन्द तदीय भक्त जनों को होता है, उस भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना और क्रोध, शोक, भय और जुगुप्सा आदि की व्यञ्जना को रस-संज्ञा देना वस्तुतः युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है[2] ।

यदि यह कहा जाय कि भक्ति-जन्य आनन्द होने मे क्या प्रमाण है, तो इसका उत्तर यही है कि जब अन्य रसों के आनन्दानुभव के प्रमाण के लिए सहृदयो के हृदय के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है तो भक्ति-रस के आनन्दानुभव के लिए भी भक्त जनो का हृदय ही साक्षी है ।

गुरु-विषयक रति-भाव[3] ।

> वामन पद-क्षालन-सलिल भवसागर-प्रिय जोय ;
> वंदौ भवसागर-दमन गुरु-पद-क्षालन तोय[4] ।२५१॥

---

१ 'रसौ वै सः ।'
'रसह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।'
'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।'
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रथयन्त्यभिसंविशंति ।'

२ इस विषय का अधिक विवेचन हमारे संस्कृत साहित्य के इतिहास के द्वितीय भाग में किया गया है ।

३ प्रेम, श्रद्धा अथवा पूज्य भाव ।

४ वामन भगवान् के चरणों को प्रक्षालन करनेवाले जल को अर्थात् श्रीगङ्गाजी को, भवसागर श्लेषार्थ—भव (श्रीशङ्कर) और सागर (समुद्र) से प्रेम है, क्योंकि शिवजी की जटा में वह विराजमान हैं, और समुद्र में जाकर मिलती हैं। किन्तु मैं भवसागर (संसार) से घबरा रहा हूँ, अतः भवसागर (संसार) के दुःखों को दूर करने वाले श्रीगुरु-चरणों को प्रक्षालन करनेवाले जल को प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ गुरु के पाद-प्रक्षालन के जल की वन्दना में गुरु-विषयक रति-भाव है।

पुत्र-विषयक 'रति-भाव'[1]।

वात्सल्य वह प्रेम है जो माता, पिता आदि गुरुजनों के हृदय में पुत्रादि के विषय में होता है। इसी कारण 'वात्सल्य' को स्वतन्त्र रस न मानकर पुत्र-विषयक रति-भाव माना है।

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे छबि भूरि अनंग की दूर करैं।
कबहूँ ससि माँगति आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं;
कबहूँ कर-ताल बजाय कै नाचत मातु तबै मन मोद भरैं।"२५२॥

यहाँ कौसल्याजी का श्रीराम-विषयक जो वात्सल्य है, वह पुत्र-विषयक रति-भाव है।

"दैहौं दधि मधुर धरनि धरयो छोरि खैहैं,
धाम तें निकसि धौरी धेनु धाइ खोलि हैं;
धौरि लोटि ऐहैं लपटैहैं लटकत ऐहैं,
सुखद सुनैहैं बैन बतियाँ अमोलि है।
'आलम' सुकवि मेरे ललन चलन सीखैं,
वलन की बाँह व्रज-गलिन में डोलि है;
सुदिन सुदिन दिन ता दिन गिनौंगी माई,
जा दिन कन्हैया मोसों मैया कहि बोलि हैं।"२५३॥

यहाँ यशोदाजी का भगवान् श्रीकृष्ण-विषयक वात्सल्य है। किन्तु—

"वर दंतकि पंगति कुंद-कली अधराधर पल्लव खोलन की;
चपला चमकै घन-बीच जगै छवि मोतिन-माल अमोलन की।

---

१ वात्सल्य अथवा स्नेह।

घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ;
निवछावर प्रान करै 'तुलसो' बलिजाउँ लला इन बोलन की ।"२५४॥

और—

"पग नूपुर औ' पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नव नील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिए।
अरविंद सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए।
मन में न बस्यो अस बालक तो 'तुलसी' जग में फल कौन जिए।"२५५॥

ऐसे वर्णनो मे पुत्र-विषयक रति भाव (वात्सल्य) नहीं है। गोस्वामीजी का अपने इष्टदेव बाल-रूप भगवान् रघुनाथजी के प्रति जो प्रेम है, वह भक्ति प्रधान है, अतः देव-विप्रयक 'रति-भाव' है।

राज-विषयक 'रति-भाव'।

न मृगया[1] रति नित्य नवीन भी,
न मधुरा मधु[2] ही रस-लीन की।
नव-वया तरुणी रमणीय भी,
न उसकी मति कर्षित की कभी।२५६॥
न करुणा सुरराज समीप थी,
न वितथा परिहासमयी कभी।
वह कठोर न थी रिपु साथ भी,
दशरथीय गिरा इस भाँति थी।२५७॥

यहाँ महाराज दशरथ के विषय में कवि का प्रेम व्यञ्जित होता है। अतः राज-विषयक रति-भाव है।

"साहितनै सरजा तव द्वार प्रतच्छन दान कि दुंदुभि बाजै ;
'भूषन' भिच्छुक भीरन कौं अति भोजहु ते बढि मौजनि साजै।

---

१ शिकार। २ मदिरा। ३ मिथ्या।

राजन को गन राजन ! को गनै साहिन मैं न इती छवि छाजै ;
आजु गरीब-निवाज मही पर तोसो तुहीं सिवराज विराजै ।"२५८॥

यहाँ महाराज शिवाजी पर भूषन कविराज का प्रेम ध्वनित होता है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

उद्बुद्ध-मात्र स्थायी भाव।

इनके उदाहरण स्थायी भावों के विवेचन पृष्ठ १५२–१५७ में देखिये।

प्रधानता से व्यञ्जित व्यभिचारी।

तन छूवत ही कर सों हटक्यो मुख सौं न कह्यो न किए दृग सौंही ;
आज लखी सपने में प्रिया अँखियान भरे अँसुवान रिसौंही।
कै बिनती परि पायँ मनाय, चह्यो भरि अंक में लेइबे ज्यों ही ;
हा ! विधि की सठता का कहौं झट नींद छुटाय दई तबलौं ही।२५९

किसी वियोगी की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है—'आज अपनी रूठी हुई प्रिया को मैंने सपने में देखा, किन्तु जब तक मैं उसे प्रसन्न करके अङ्क में लूँ, इसके पहले ही शठ विधाता ने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी।' यहा विधाता के प्रति जो असूया है, वही प्रधानता से ध्वनित हो रही है। अतः यहाँ रति भाव है। यद्यपि विप्रलम्भ-शृङ्गार के उदाहरण—'गैरूँ से मैं लिखकर तुझे' (पृष्ठ १६८) में—भी विधाता की क्रूरता के विषय में असूया है, किन्तु वहाँ 'रोके दृष्टी' पद द्वारा वियोग-शृङ्गार ही प्रधानता से व्यञ्जित हो रहा है। अतएव वहाँ असूया विप्रलम्भ-शृङ्गार का अङ्ग हो जाने से प्रधान नहीं रही है, इसी से वहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार रस है।

"दहैं निगोडे नैन ये गहैं न चेत अचेत ;
हौं कसिकै रिसकै करौं, ये निरखैं हँसि देत।"२६०॥

यहाँ सम्भोग सञ्चारी प्रधानता से व्यञ्जित हो रहा है।

री सखी कैसी विचित्रता है चपला थिर या उर माँहि सुहावहि;
दीनदयालु है आली! सुनौ बनमाली अहो जब बेनु बजावहिं।
दूरहि सों सुनिकै हित सों चित मोहित ह्वै मृग-वृंद लखावहि;
दाँतन गास लिए धरि श्रौन रु मौन भे चित्र लिखे से जनावहि।२६१।

यहाँ 'जड़ता' भाव की प्रधानता से व्यञ्जना है।

रसाभास

जब रस अनौचित्य रूप में होता है, तब उसे रसा-भास कहते हैं।

सहृदय जनो को अनुचित प्रतीत होना ही अनौचित्य है। यद्यपि रस का अनौचित्य रूप मे होना रस दोष है, किन्तु आपात रमणीय होने के कारण इसके द्वारा भी क्षण-भर के लिये रस का आभास हो जाता है। जल मे सूर्य के प्रतिबिम्ब आदि की तरह अवास्तव स्वरूप को 'आभास' कहते हैं[1]। रसाभास मे, सीप मे चाँदी की झलक की तरह, रस की झलक-मात्र रहती है[2], और इसलिये रसाभास को भी ध्वनि का एक भेद माना है।

शृङ्गार-रसाभास—उपनायक (अन्य पुरुष) मे अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि निरिन्द्रियों मे सम्भोग का आरोप करना, पशु-पक्षियो के प्रेम का वर्णन करना, गुरु-पत्नी आदि में

१ 'प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्'—शब्द-कल्पद्रुम।
२ 'शुक्तौरजताभासवत्'—ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ६६।

अनुराग, नायक-नायिका में अनुभयनिष्ठ रति[1] और नीच व्यक्ति में प्रेम होना, इत्यादि।

हास्य-रसाभास—गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों का हास का आलम्बन होना।

करुण-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।

रौद्र रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।

वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना, आदि।

भयानक रसाभास—उत्तम व्यक्ति में भय का होना, आदि।

बीभत्स-रसाभास—यज्ञ के पशु में ग्लानि होना, आदि।

अद्भुत रसाभास—ऐंद्रजालिक कार्यों में विस्मय होना, आदि।

शान्त रसाभास—नीच व्यक्ति में शम की स्थिति होना, आदि।

उपनायकनिष्ठ रति-शृङ्गार-आभास।

"फिर फिर चित उतहीं रहत टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग-छवि-झौंर में भयो भौंर की नाव[2]।"२६२॥

यह अन्तरङ्ग सखी की नायक के प्रति उक्ति है। 'टुटी लाज की लाव' इस कथन से नायिका की उपनायक में रति का सूचन है, अतः रसाभास है।

---

१ उभयनिष्ठ प्रेम न होना। अर्थात् स्त्री का प्रेम पुरुष मे हो, किन्तु पुरुष का स्त्री में न हो, या पुरुष का प्रेम स्त्री में हो, पर स्त्री का प्रेम पुरुष में न हो।

२ उसका चित्त तुम्हारे अङ्गों के लावण्य रूप झौंर के भौंर में फँस गया है। उसकी गति जल के भँवर मे फँसी हुई नाव की तरह हो रही है, अर्थात् वहाँ से निकलना असम्भव-सा हो रहा है।

बहुनायक-निष्ठ रति-शृङ्गार-आभास ।

"यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिँगारन कै चलै कै चलै ;
त्यों 'पदमाकर' एकन के उर में रस बीजनि बै चलै बै चलै ।
एकन सौं बतराय कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै ;
एकन सौं तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखनि दै चलै दै चलै ।"२६३॥

यहा नायिका की अनेक पुरुषो में रति व्यक्त होने से शृङ्गार-रसाभास है ।

अधम पात्र में रति-शृङ्गार-रसाभास ।

"गेह तैं निकसि बैठि बेचत सुमन-हार,
देह-दुति देखि दीह दामिनि जला करै ;
मदन - उमंग नव - जोबन तरंग उठै,
वसन सुरंग अंग भूषन सजा करै ।
'दत्त' कवि कहै प्रेम पालत प्रवीनन सों,
बोलत अमोल बैन बीन-सी बजा करै ;
गजब गुजारती बजार में नचाय नैन,
मंजुल मजेज-भरी मालिन मजा करै ।"२६४॥

यहाँ मालिन मे अनुराग सूचन होता है, अतः अधम पात्रनिष्ठ रति होने से रसाभास है ।

अनुभय-निष्ठ रति-शृङ्गार-रसाभास ।

"गात पै पातन के कपरा गर गुंजन की दुलरी मन मोहै ;
लाल कनेर के काननि फूल सदा बन को बसिबो चित टोहै ।
आजु अचानक ही बन में ब्रजराज कुमार चरावतु गो है ;
देखि पुलिंद-वधू बस-काम सखान सों पूछत ही यह को है ।"२६५

यहाँ श्रीनन्दनन्दन को देखकर पुलिन्द-रमणियो के रति (प्रेम) उत्पन्न होने में अनुभय-निष्ठ रति है, क्योकि श्रीकृष्ण की उनमे रति नहीं है। अतः रसाभास है।

निरिन्द्रियों में रति के आरोप में शृङ्गार-रसाभास।

देखी जाती सलिल-कृश हो एक वेणी-स्वरूप,
जो वृक्षो के गिर दल पके हो रही पांडु रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य, क्योकि—
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य जोकि॥२६६॥

यहाँ नदी मे विप्रलम्भ-शृङ्गार का आरोप किया जाने से रसाभास है।

पशु-पक्षियो में रति के आरोप में शृङ्गार-रसाभास।

"सब राति वियोग के जोग जगे न वियोग-सराप सराहत हैं;
पुनि प्रात सँयोग भए पै नए तऊ प्रेम उछाह उछावत है।
चकवाइ रहे चकई चकवा सु छकै चकि भै चकि चाहत है;
बिछुरे न मरे इहि लाज मनो सु खरे खरे नेह निबाहत है।"२६७

यहाँ चकवा-चकवी पक्षियों मे विप्रलम्भ शृङ्गार का आरोप है।

रौद्र रसाभास।

"पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं,
वे हैं प्रतिज्ञा-घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी बेला विकट संताप की॥"२६८॥

यहाँ महाभारत युद्ध मे द्रोणाचार्य को कहे हुए दुर्योधन के इन वाक्यों मे पूज्य व्यक्ति गुरु पर क्रोध की व्यञ्जना मे रौद्र रस का आभास है।

बीभत्स रसाभास ।

"दुबरो कानों हीन स्रवन बिन पूछ नवाएँ ।
बूढो बिकल सरीर लार मुख ते टपकाएँ ।
झरत सीस तें राधि रुधिर कृमि डारत डोलत ।
छुधा छीन अति दीन गरे घट-कंठ कलोलत ।
यह दसा स्वान पाई तऊ कुतियन सँग उरझत गिरत ।
देखो अनीत या मदन की मृतकन हूँ मारत फिरत ।"२६९॥

यहाँ कुत्ते के इतने बीभत्स विशेषणों द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि की गई है । कुत्ते की यह घृणित अवस्था स्वाभाविक है, इनके द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि नहीं हो सकती है, इसलिये यहाँ बीभत्स रस का आभास-मात्र है । यदि ऐसा वर्णन मनुष्य-विषयक किया जाता तो वीभत्स रस हो सकता था ।

अद्भुत रसाभास ।

अति अचरजमय जलधि पुनि तिहिँ बढि मुनि किय पान ;
तासों बढ़ि लघु घट-जनम का जग अचरज मान ? ।२७०॥

महामहिम अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र-पान का यह वर्णन है । प्रथम तो समुद्र ही सारे आश्चर्यों का खजाना है । फिर ऐसे समुद्र का एक चुल्लू में पी जाना और भी आश्चर्य है । इससे भी बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि जिन अगस्त्यजी ने इसे पिया, उनका जन्म एक छोटे-से घडे से है । यहाँ तक क्रमशः आश्चर्य की पुष्टि होती रहती है, किन्तु चौथे पाद में अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार द्वारा यह कहने से कि 'इस जगत् के आश्चर्य का क्या प्रमाण है' उपर्युक्त सारा आश्चर्य छिप गया है । अतः चौथे पाद का वर्णन अनौचित्य होने से केवल रसाभास ही रह गया है ।

भावाभास

भाव का जब अनौचित्य रूप से वर्णन होता है, या

जो भाव रसाभास का अङ्ग हो जाता है, उसे भावा-भास कहते हैं।

व्यभिचारी भाव जब तक किसी रस के पोषक रहते हैं, तब तक वे व्यभिचारी भाव हैं, जब वे प्रधानता से प्रतीत होते हुए भाव-अवस्था को प्राप्त होकर दूसरे किसी रसाभास के अङ्ग हो जाते हैं, तब वे भावाभास कहे जाते हैं।

"नृत्यत कैसे हरख ये लै गति परम विचित्र ;
कैसें कढ़त मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र।"२७१॥

यहाँ मृदग की ध्वनि के विषय मे चिन्ता करना अनुचित है, अतः चिन्ता व्यभिचारी भाव का आभास मात्र है अतः भावाभास है।

विस्मृति-पथ भे विषय सब रह्यो न शास्त्र-विवेक।
केवल वह मृगलोचिनी टरत न हिय छिन एक ॥२७२॥

किसी अन्य नायिका का स्मरण करते हुए किसी प्रवासी पुरुष की यह उक्ति है। स्रक्-चन्दनादि आनन्द-दायक विषयों मे विराग, परिश्रम से पढ़े हुए शास्त्रों में कृतघ्नता, और उस नायिका का स्मरण कदापि दूर न होना, ये 'स्मृति' सञ्चारी भाव की पुष्टि करते हैं। अतः स्मृति-भाव प्रधान है, और वह स्मृति-भाव यहाँ अन्य नायिका-निष्ठ होने से शृङ्गार रसाभास का अङ्ग हो गया है, अतः भावाभास है।

भाव-शान्ति

जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरुद्ध भाव की व्यञ्जना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है,उसे भाव-शान्ति कहते हैं।

कंज-मुखी ! कहु क्यों अनखी ? पग तेरे परौं करु कोप निवारन ;
मानिनि एतो न मान करौ तैं गह्यो अब जेतो अहो ! बिन कारन।
यों मनभावन की सुनि बात सकी न कछू मुख सों जु उचारन ;
मीलित से तिरछे दृग-कोरन जोरन सों अँसुवा लगी ढारन ॥२७३॥

यहाँ मानवती नायिका के आँसू गिरने से ईर्ष्या-भाव की शान्ति है।

लक्षी किया यदपि एक कुरङ्ग को था,
प्रेमानुरक्त हरिणी-निकटस्थ वो था।
आकृष्ट भी शर, किया न प्रहार जो कि—
कामी कृपार्द्र नृप देख दशा उन्हो की[1] ।२७४॥

यह महाराज दशरथ के शिकार का वर्णन है। मृग को वध करने के लिए बाण के सन्धान करने मे जो उत्साह-भाव है, उसकी स्मृति-भाव से शान्ति है—मृग को कामासक्त देखकर अपनी कामासक्त दशा का स्मरण हो आने मे स्मृति-भाव की व्यञ्जना है।

"अतीव उत्कण्ठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुंद को।"२७५॥

उद्धवजी के व्रज मे आने के समय ग्वालबालो की श्रीकृष्ण के

---

१ महाराज दशरथ ने एक मृग को लक्ष्य (निशाना) बनाकर, उस पर बाण सन्धान कर लिया था, पर उसे हरिणी के पास प्रेमानुरक्त देखकर उस पर बाण नहीं छोडा, क्योकि वह स्वयं विलासी थे, अतएव उनकी तादृश दशा देखकर अपनी तादृश अवस्था का उन्हें स्मरण हो आने से उस पर दया आ गई थी।

दर्शनो के लिये अभिलाषा में जो हर्ष-भाव है उसकी, रथ में श्रीकृष्ण को न देखकर, विषाद-भाव से शान्ति है।

"वह चौहटे की चपरेट में आज भली भइ आय दुहू घिरगे ;
कवि 'बेनी' दुहूँन के लालची लोचन छोर सँकोचन सों भिरगे।
समुहाने हिए भर भेटिबे को सु चवाइन की चरचा चिरगे ,
फिरगे कर से कर हेरत ही करते मनु मानिक से गिरगे।"२७६

यहाँ भी हर्ष-भाव की विषाद-भाव से शान्ति है।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की भी भाव-शान्ति होती है। जैसे—

"बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र-लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिँ खरे ,
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर-चाप सजि कोसल धनी ;
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मरकट अनी।"२७७॥

यहाँ भय, जडता, विस्मय आदि भावो की उत्साह-भाव से शान्ति है।

अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रही सो—
वो देख रूप शिव का पुलकाङ्गिनी हो ,
मार्गावरुद्ध गिरि से सरिता-गती ज्यों ,
यों पार्वती चल सकीं, न सकीं खडी हो[1]।२७८॥

---

१ ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण करके आए हुए श्रीमहादेव, पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा लेने के लिये, अपनी निन्दा के वाक्य कहते हुए न रुके तब, अधिक सहन न करके पार्वतीजी ने वहाँ से उठकर जाने के लिये बडे आवेग से एक चरण उठाकर आगे रक्खा ही था कि इतने में उस कपट-वेष को दूर करके शङ्कर ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। उस रूप को देखकर पार्वतीजी न तो आगे

यह पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा करने के लिये छल-वेष में गए हुए श्रीशङ्कर द्वारा उस कपट-वेष के दूर कर देने पर श्रीगिरिजा की तात्कालिक अवस्था का वर्णन है। यहाँ आवेग सञ्चारी भाव की हर्ष-भाव से और हर्ष-भाव की जड़ता से शान्ति है।

भावोदय

जहाँ किसी भाव की शान्ति के अनन्तर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' होता है।

मैं हों हठी तुम हो कपटी अस की उछटी बतियाँ जब प्यारी ;
पाँय परे की न मान कियो अपमान निरास भए गिरिधारी।
रूसि चले पिय कों लखिकै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी ;
त्यो अँसुवान भरी अखियाँन की दीठ प्रिया सखियान पै डारी ॥२७१

यहाँ नायक के लौट जाने पर कलहान्तरिता नायिका में 'विषाद सञ्चारी भाव' का उदय है, और उसी में चमत्कार है। 'भाव-शान्ति' में दूसरे भाव का उदय होता है, और भावोदय में पहले भाव की शान्ति। अतएव भाव-शान्ति और भावोदय में कोई विशेष भेद नहीं है। किन्तु रसगङ्गाधरकार का मत है कि दोनो को समान मानने में चमत्कार नहीं रहेगा, इसीलिये पृथक्-पृथक् दो भेद माने गए हैं। एक मत यह भी

को जाने के लिये दूसरा चरण उठा सकीं, और न पीछे ही हट सकीं। उनकी दशा ऐसी हो गई, जैसे मार्ग में पर्वत के आ जाने से नदी का प्रवाह—न तो आगे ही जा सकता है, और न वेग के कारण पीछे ही हट सकता है।

है कि जहाँ पहले भाव की शान्ति में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भाव-शान्ति और जहाँ पिछले भाव के उदय में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भावोदय समझना चाहिए।

भाव-सन्धि

जब समान चमत्कारवाले दो भावों की उपस्थिति एक ही साथ हो, वहाँ भाव-सन्धि होती है।

मुख घूँघट को पट है न तऊ जुग नैनन कों तरसाय रही,
अति दुर्लभ जानत हौं मिलिबो मन कौं जु तऊ ललचाय रही।
मद-जोबन सौं मतवारी भई तन की छवि कौं दरसाय रही;
हँसि हेरत में मुख फेरत मे हिय कौं हुलसाय जराय रही।२८०

यहाँ हर्ष और विषाद भावों की सन्धि है।

"प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल,
खेलत मनसिज-मीन युग जनु विधुमंडल डोल।"२८१

यहाँ औत्सुक्य और व्रीडा भावों की सन्धि है।

"देख्यो चहै पिय को मुख पै अँखियाँ न करै जिय की अभिलाषी,
चाहति 'संभु' कहै मन में बतियाँ मुख मे पुनि जाति न भाषी।
भेटिबे कों फरकैं भुज पै नहिँ जीभ ते जाइ नहीं नहिँ भाखी;
काम सँकोच दुहूँन बहू बलि आजु दुराज-प्रजा करि राखी।"२८२

यहाँ भी औत्सुक्य और व्रीडा की सन्धि है।

भाव-शवलता

एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा, इस

प्रकार बहुत-से भावों का एक ही स्थान पर सम्मेलन होने को भाव-शवलता कहते हैं।

या विधि की त्रिपरीत कथा हा ! विदेह-सुता कित है अरु मैं कित ;
ता मृगनैनी बिना बन मे अब होइ मो प्रान अधारहु को इत।
मोहि कहेंगे कहा सब लोग ? रु कैसे लखौंगो उन्हें समुहै चित ;
राज रसातल जाहु अबै है धरातल जीवन हू में कहा हित।२८३

यह जानकीजी के वियोग मे श्रीरघुनाथजी की कातरोक्ति है। यहाँ 'विधि की विपरीत कथा' मे 'असूया' है। 'हाय विदेह-सुता कित' मे 'विषाद' है। 'ता मृगनैनी' मे 'स्मृति' है। 'मेरा प्राण-आधार कौन होगा' ? यह वितर्क है। 'लोग मुझे क्या कहेगे' यह 'शङ्का' है। 'मै उन लोगों के सम्मुख कैसे देखूँगा' यह 'व्रीडा' है। और 'राज रसातल जाहु' इत्यादि मे निर्वेद है। इन बहुत-से भावो की प्रतीति होने से यहाँ 'भाव-शवलता' है।

एक मत यह है कि तिल-तन्दुलन्याय[1] से पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव-शवलता है। दूसरा मत यह है कि यदि ऐसा माना जायगा तो इस लक्षण की 'भाव-सन्धि' मे अतिव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् भाव-शवलता और भाव-सन्धि मे कुछ भेद न रहेगा। अतः एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का (जो निवृत्त हो गया है) फिर न होना शवलता है। तीसरा मत यह है कि युद्ध मे जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दीख पड़ता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और

---

१ चावल और तिलों के मिल जाने पर भी पृथक्-पृथक् दिखाई देते रहना तिल-तन्दुल-न्याय है।

कोई उपमर्दन करता हुआ माना जाना चाहिए और ऐसा करने में तिल-तन्दुल-न्याय के अनुसार 'भाव-सन्धि' में अतिव्याप्ति भी नहीं होती है।

'भाव-शान्ति' आदि चार अवस्थाओं की भाँति 'भाव-स्थिति' भी एक अवस्था है। किन्तु भाव-शान्ति आदि चारो अवस्थाओं के सिवा भाव का होना ही भाव-स्थिति है, अतएव व्यञ्जित, सञ्चारी और अपुष्ट रति आदि के उदाहरण जो पहले दिखाए गए हैं, वे भाव-स्थिति के ही उदाहरण हैं।
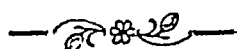
चतुर्थ स्तवक का चतुर्थ पुष्प

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम संलक्ष्य होता है, अर्थात् भले प्रकार से प्रतीत होता है उसे संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि कहते हैं।

जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर व्यग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे घडावल के बजने पर पहले जोर का टङ्कार होता है तदनन्तर अनुरणन अर्थात् झङ्कार होती है, उसी प्रकार टङ्कार के समान वाच्यार्थ का बोध होने पर झङ्कार की भाँति इस ध्वनि मे व्यंग्य अर्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे टङ्कार की अपेक्षा झङ्कार मधुर होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ मधुर होता है और जैसे टङ्कार का झङ्कार के साथ पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट जाना जाता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होनेवाले व्यग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम इस ध्वनि

में स्पष्ट प्रतीत होता है। इस ध्वनि में रस, भाव आदि की तरह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम असलक्ष्य नहीं रहता है।

असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-ध्वनि मे जहाँ विभावादिको से व्यक्त होनेवाले स्थायी भावो के उद्रेकातिशय से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'रस-ध्वनि' होती है। जहाँ अपने अनुभावो से व्यक्त होनेवाले व्यभिचारी आदि[1] के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'भाव-ध्वनि' होती है। और संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य-ध्वनि मे, व्यग्यीभूत व्यभिचारियों की अपेक्षा न करके केवल विभाव-अनुभावों के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, अर्थात् रस, भाव आदि के बिना वस्तु या अलङ्कार की ध्वनि होती है।

सलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहीं शब्द-शक्ति द्वारा, कहीं अर्थ-शक्ति द्वारा और कहीं शब्द-अर्थ उभय शक्ति द्वारा प्रतीत होता है। अतः इस ध्वनि के तीन भेद हैं—(१) शब्द-शक्ति उद्भव अनुरणन-ध्वनि, (२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि, और (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि।

(१) शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उसी शब्द से, न कि उसके पर्याय-वाचक शब्द से, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि होती है।

यह दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु-ध्वनि और (२) अलङ्कार-ध्वनि। वस्तु उस अर्थ को कहते हैं जिसमें कोई अलङ्कार नहीं होता है।

---

१ यहाँ 'आदि' पद से अपुष्ट 'रति' आदि नवों स्थायी भाव भी समझना चाहिए।

अतः जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो जिसमें कोई अलङ्कार न हो, वहाँ वस्तु-ध्वनि कही जाती है। जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो जिसमें कोई अलङ्कार हो, वहाँ अलङ्कार-ध्वनि कही जाती है।

अलङ्कार और अलङ्कार्य।

अलङ्कार-ध्वनि के विषय मे एक बात यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है, कि अलङ्कार और अलङ्कार्य दो पदार्थ हैं। अलङ्कार उसे कहते हैं जो दूसरे को शोभायमान करता है, जैसे, हार, कुण्डल, आदि शरीर को शोभित करते हैं। अलङ्कार्य उसे कहते हैं जो दूसरे से शोभित होता है; जैसे, मनुष्य का शरीर अलङ्कारो से शोभित होता है। इसी प्रकार जब उपमा आदि अलङ्कार शब्दार्थ (वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ) को शोभित करते हैं तब उन्हे अलङ्कार कहते हैं। जब वे स्वय व्यग्यार्थ मे प्रधानता से प्रतीत होते हैं तब अलङ्कार्य हो जाते हैं। अतः उन्हें 'अलङ्कार-ध्वनि' कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जो अलङ्कार्य (व्यग्यार्थ) है, वह अलङ्कार (वाच्यार्थ) किस प्रकार कहा जा सकता है? अर्थात् अलङ्कार-ध्वनि मे जो उपमा आदि अलङ्कार ध्वनित होते हैं उनको यदि प्रधान माना जायगा तो उनमे अलङ्कारता कहाँ रह सकेगी। दूसरे को शोभायमान करना जो अलङ्कार का धर्म है वह उनमें नहीं रहेगा, क्योंकि दूसरे को शोभित करनेवाला तो अप्रधान होता है। यदि उनको (ध्वनित होनेवाले उपमा आदि अलङ्कारों को) अप्रधान माना जायगा तो उनमें ध्वनित्व नहीं रह सकेगा, क्योंकि जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है वह तो प्रधान अर्थ ही होता है। निष्कर्ष यह है कि एक ही पदार्थ को अलङ्कार और अलङ्कार्य (ध्वनि) अर्थात् अप्रधान और प्रधान किस प्रकार कहा जा सकता है?

इसका समाधान ब्राह्मण-क्षपणक-न्याय[1] द्वारा हो जाता है।

शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि।

पत्थर-थल[2] है पथिक! इत सत्थर[3] कहुँ न लखायँ।
उठे पयोधर देखि जो रह्यो चहतु रहि जायँ।२८४॥

यह पथिक के प्रति स्वयं दूतिका नायिका की उक्ति है। यहाँ पहले तो यह वाच्यार्थ बोध होता है कि 'यहाँ बिछौने आदि नहीं हैं, पहाडी गाँव है। यदि उठे हुए पयोधरो को—बद्दलो को—देखकर रात्रि के समय, मार्ग में वर्षा की पीडा समझकर, रहने की इच्छा हो तो यहाँ रुक जाइए'। इस वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दो की शक्ति से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि 'परस्त्री-गमन का निषेध करनेवाले शास्त्रो को यहाँ कोई नहीं पूछता है। यदि मेरे उठे हुए (उन्नत) पयोधरो को (स्तनो को) देखकर इच्छा होती है तो रुक जाइए'। यहाँ यदि 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दो के स्थान पर इनके

---

१ जैसे कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण और फिर क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) हो गया, उस अवस्था में उसमें ब्राह्मणत्व न रहने पर भी—शिखा-सूत्र का अभाव रहने पर भी—उसे ब्राह्मण-क्षपणक कहते हैं। इसी का नाम ब्राह्मण-क्षपणकन्याय है। इसी प्रकार अलङ्कारों के अलङ्कार्य अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उनमें यद्यपि वस्तुतः अलङ्कारता (अप्रधानता) नहीं रहती है, तथापि इनको अलङ्कार-ध्वनि इसलिये कहा जाता है कि उनकी पहले अलङ्कार संज्ञा थी।

२ पत्थर फैला हुआ स्थल अर्थात् पहाड़ी ग्राम।

३ यह शब्द प्राकृत भाषा का है। इसके अर्थ शास्त्र और बिस्तर (बिछौने) दोनो हैं।

पर्यायवाची शब्द बदल दिए जायेंगे तो उपर्युक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकेगा। शब्द के आश्रय से ही यहाँ व्यंग्य है, अतएव यह शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

यह वस्तु-ध्वनि इसलिये है कि इस व्यंग्यार्थ मे कोई अलङ्कार प्रतीत नहीं होता है। अनुरणन-ध्वनि इसलिये है कि यहाँ वाच्यार्थ का बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ की क्रमशः ध्वनि निकलती है।

शब्द-शक्ति-उद्भव अलङ्कार-ध्वनि।

> **उपादान-संभार[1] बिनु जगत-चित्र बिन भीत[2];**
> **कलाकार हर[3] ने रच्यो वंदौं उन्हैं विनीत।२८५॥**

यहाँ भगवान् शङ्कर का चित्र-कला-सम्बन्धी लोकोत्तर उत्कर्ष व्यग्य द्वारा प्रतीत होता है। प्रवीण चित्रकार रङ्ग और लेखिनी (बुरुस) आदि सामग्रियों से और दीवार आदि किसी प्रकार के आधार पर ही चित्र बना सकता है, पर भगवान् शङ्कर ने विना ही किसी सामग्री और आधार के—शून्य स्थान पर—जगत् का विचित्र चित्र बनाया है। इस प्रकार साधारण चित्रकार से श्रीशङ्कर का आधिक्य सूचित होता है। अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार की ध्वनि है। यदि 'चित्र' और 'कला'-शब्द बदल दिए जायँ तो यह व्यग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता, इसलिये शब्द-शक्ति-उद्भव अलङ्कार-ध्वनि है।

> **मेघकाल करवाल की जल-धारान प्रपातु;**
> **अरिन प्रतापानल बढ्यो देव! तुम्हीं बिनसातु॥२८६॥**

---

१ रचना करने की सारी सामग्रियों के अभाव में।

२ दीवार।

३ प्रशंसनीय चन्द्रमा की कला धारण करनेवाले अथवा चित्रकला में प्रवीण श्रीशिव।

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है—'हे राजन् ! मेघ-जैसी करवाल (तलवार) की जलधारा से, अर्थात् कान्ति-युक्त तलवार की धार से, शत्रुओं के प्रताप-रूपी बढ़ी हुई अग्नि को तुम्हीं विनाश करते हो'। इस मुख्य अर्थ को बोध कराके अभिधा-शक्ति रुक जाती है, तदनन्तर व्यंग्य से इन्द्र का अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् 'हे देव ! आप कालकर (काली कान्तिवाले) बाल (नवीन) मेघो की जल-धाराओं के प्रपात से (डालने से) जल के शत्रु-तेज आदि का ताप विनाश करते हो'। वाच्यार्थ प्राकरणिक राजा है और व्यंग्यार्थ है अप्राकरणिक इन्द्र। राजा को इन्द्र की उपमा व्यंग्यार्थ से प्रतीत होती है, अतएव उपमा-अलङ्कार की ध्वनि है।

जहाँ शब्द-उद्भव-शक्ति द्वारा व्यंग्य से अलङ्कार ध्वनित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यग्यार्थ अलङ्कार-रूप होता है, वहीं शब्द-शक्ति-उद्भव अलङ्कार-ध्वनि होती है। जहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ रूप न होकर वाच्यार्थ होते हैं, वहाँ ध्वनि नहीं, किन्तु श्लेषालङ्कार होता है। जैसे—

हैं पूतना-मारण में सुदक्ष,
जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु,
शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ॥२८७॥

यहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक साथ ही श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र दोनो का वर्णन है। दोनो अर्थ वाच्यार्थ हैं और न इनमे उपमेय और उपमान-भाव ही व्यंग्य है, अतः उपमालङ्कार की ध्वनि नहीं है, केवल शब्द-श्लेष अलङ्कार-मात्र[1] है।

—०—

[1] श्लेष अलङ्कार का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में किया गया है।

(२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ शब्द-परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती रहे, वहाँ अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

शब्द-शक्ति-उद्भवद ध्वनि में शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं होता, किन्तु इस (अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि) में शब्द-परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ सूचित होता है। अतः यह शब्द पर निर्भर न होने के कारण अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि है। व्यञ्जक अर्थ (जिससे व्यंग्यार्थ सूचित होता हैं) तीन प्रकार का होता है—(१) 'स्वतः सम्भवी', (२) 'कवि-प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध' और (३) 'कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध'।

इन तीनो भेदो मे कही तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनो ही वस्तु-रूप या अलङ्कार-रूप होते हैं, और कहीं दोनो में (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे) एक वस्तु-रूप और दूसरा अलङ्कार-रूप होता है, अतएव इन तीनो के चार-चार भेद होते हैं।

स्वतः सम्भवी

जो 'अर्थ' (वर्णन) कवि की कल्पना-मात्र ही न हो, किन्तु सम्भव भी हो, अर्थात् लोक-व्यवहार में असम्भव प्रतीत न हो, वह स्वतः सम्भवी है। इसके निम्नलिखित चार भेद हैं—

(क) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी वस्तु-रूप और व्यग्यार्थ भी वस्तु-रूप।

(ख) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यग्यार्थ अलङ्कार-रूप।

(ग) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ अलङ्कार-रूप और व्यंग्यार्थ वस्तु-रूप।

(घ) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी अलङ्कार और व्यंग्यार्थ भी अलङ्कार।

(क) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

सर सम्मुख धावंहिँ फिरहिँ, फिर आवहिँ फिर जाहिँ,
मधुप-पुंज अति मधुर ये गुंजत अधिक सुहाहिँ।२८८॥

यहाँ मधुर गुञ्जित भौंरो का सरोवर के पास बार-बार लौटकर आना, जो वाच्यार्थ है, वह वस्तु-रूप है। इसमें कोई अलङ्कार नहीं है। इसके द्वारा यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि कमलों का शीघ्र ही विकास होनेवाला है, तथा शरद्-ऋतु भी आ रही है। और यह व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप है— इसमे भी कोई अलङ्कार-नहीं है। भ्रमरो का मधुर गुञ्जार जो वाच्यार्थ है, वह और शरद् का होनेवाला प्रादुर्भाव दोनो ही स्वतः सम्भवी हैं, क्योंकि इन बातों का होना सम्भव है, अतः यहाँ स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

मृदु पद रख धीरे कण्टका भू-स्थली है;
सिर पट ढकिए री! घाम कैसी घनी है।
पथि पथिक-वधू यों मैथिली को सिखातीं;
दृग-सलिल बहातीं, प्रेम को थीं दिखाती।२८९॥

श्रीरघुनाथजी के वन-गमन की कथा कहते हुए सुमन्त्र की राजा दशरथ के प्रति जो यह उक्ति है, वह वस्तु-रूप वाच्यार्थ हैं। यहाँ 'जानकीजी' के अङ्गों की सुकुमारता, उनका पातिव्रत्य और इस दुस्सह अवस्था मे भी पति का साथ देना, इत्यादि जो भाव पथिकाङ्गनाओं के हृदय मे उठे हुए प्रतीत होते हैं, वह व्यंग्यार्थ हैं, और वह भी वस्तु-रूप है।

(ख) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य ।

रवि-प्रताप हू घटत है दच्छिन दिसि जब जाय ;
रघु-प्रताप नहिँ सहि सक्यो नृपन तिहीं दिसि माँय । २१० ॥

यह रघु राजा के दिग्विजय का वर्णन है । 'दक्षिण दिशा में जाकर (दक्षिणायन होकर) सूर्य का भी प्रताप (ताप) घट जाता है, पर उस दिशा में भी महाराज रघु का प्रताप नहीं घटा—उसके प्रताप को दक्षिण दिशा में पाण्ड्य देश के राजा नहीं सह सके ।' यह स्वतः सम्भवी वस्तु-रूप वाच्यार्थ है—कवि-कल्पित नहीं है । और इस वाच्यार्थ के द्वारा सूर्य के तेज से रघु के तेज का उत्कर्ष सूचित होता है । इस व्यग्यार्थ मे 'व्यतिरेक' अलङ्कार की ध्वनि निकलती है । अतः वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य है ।

"गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी ,
मेघ सहे सिर सीत सहे तन धूप-समैं जु पँचागनि जारी ।
भूख सही रहे रूख तरैं यह 'सुंदरदास' सहे दुख भारी ;
डासनि छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्यो पै आस न मारी ।"२११॥

यहाँ गेह आदि सब वस्तुओं के त्यागने पर भी आशा का बना रहना कहा गया है । इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'आशा के त्यागे बिना घर आदि का त्याग वृथा है' । इस व्यग्यार्थ में विनोक्ति-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है ।

(ग) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य ।

"ऐसे रन रावन बुलाए बीर बान इत,
जानत जे रीति सब सजुग समाज की ;
चली चतुरंग चमू चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग राति-चर-राज की ।
'तुलसी' विलोकि कपि भालु किलकित्त-लल—
कत्त लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की ,

राम-रुख निरखि हरख्यो हिय हनूमान,
मानो खेलबार खोली सीस-ताज बाज की।"२१२॥

रावण की सेना को देखकर श्रीरघुनाथजी ने, युद्ध करने के लिये, हनुमानजी को सङ्केत किया। उस सङ्केत से हनुमानजी को जो हर्ष हुआ, उस हर्ष में शिकारी द्वारा नेत्रों का ढकन हटाये हुए बाज पक्षी की उत्प्रेक्षा की गई है। इस उत्प्रेक्षा-अलङ्कार से यह वस्तु-रूप व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि रावण से युद्ध करने के लिये हनुमानजी की जो चिरकाल से उत्कट उत्कण्ठा थी, वह पूर्ण हो गई।

जीरन बसन विहाय जिमि पहरत अपर नवीन,
तिमि पावत नव-देह नर तजि जीरन तन-छीन ॥२१३॥

गीताजी मे भगवान् की इस उक्ति में उपमा अलङ्कार स्वतः सम्भवी वाच्यार्थ है। इसमें वस्तु रूप ध्वनि यह है कि धर्मयुद्ध मे मरने पर स्वर्ग में दिव्य देह मिलता है अतः भीष्मादिक पूज्य व्यक्तियों को वध करने का शोक करना व्यर्थ है।

(घ) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य।

रिपु-तिय-रद-छद अधर को दुख सब दियो मिटाय;
नृप! तुम रन में कुपित ह्वै अपने अधर चबाय।२१४॥

कवि राजा से कहता है कि 'संग्राम मे कुपित होकर अपने ओठों को चबाकर तुमने अपने शत्रुओं की स्त्रियों के अधरो का दुःख (जो उनके पतियों द्वारा किए गए दन्त-क्षतों से होता) दूर कर दिया'। यह वाच्यार्थ है। इसमे 'अपने अधरों को चबाकर दूसरों के अधरों का दुःख दूर करना' यह विरोधाभास-अलङ्कार है। इस अलङ्कार द्वारा 'अधरों का चबाना' और 'शत्रुओ का मारना' दो क्रिया एक काल मे होने मे समुच्चय अलङ्कार की ध्वनि है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जो अर्थ केवल कवि की कल्पना मात्र ही हो अर्थात् जिसका होना असम्भव हो उसे कवि की प्रौढोक्ति कहते हैं। जैसे काली वस्तु को सफेद करनेवाली चन्द्रमा की चाँदनी केवल कवियों की कल्पना मात्र है। क्योंकि ऐसी चाँदनी देखी नहीं जाती। इस प्रकार के कवि-कल्पित वर्णन को कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध कहते हैं। इसके भी निम्न लिखित चार भेद होते हैं—

(क) कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(ख) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य।
(ग) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य।
(घ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य।

(क) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यंग्य।

कुसुम-बान सहकार के मधु केवल न सजातु,
करि सम्मुख तरुनीन के स्मर-कर में पकरातु।२१५॥

यह वसन्त-वर्णन है। वसन्त को बाण बनानेवाला, कामदेव को योद्धा, स्त्री-जनों को लक्ष्य, और आम्र को बाण कहा गया है। काम योद्धा या उसके चलते हुए बाण नहीं देखे जाते हैं यह केवल कवि की कल्पना-मात्र है। अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। यहाँ 'यह कामोद्दीपक काल है' यह वस्तु-रूप व्यंग्य है।

(ख) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य.

निसि ही में ससि करतु है केवल भुवन प्रकास।
तेरो जस निसि-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।२१६॥

राजा के यश से त्रिभुवन में प्रकाश होना कवि-कल्पना-मात्र है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। 'चन्द्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाश करता है,

और तेरा यश दिन-रात', इस-वस्तु-रूप वाच्यार्थ से राजा के यश में चन्द्रमा से अधिकता व्यंग्य से सूचित होती है, अतः व्यतिरेक-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

"हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया,
नव-रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी लै फिर विधि ने यह फरफंद किया;
चंपक-दल सोनजुही नरगिश चामीकर चपला मंद किया।"२१७

यहाँ अङ्गों के रूप-लावण्य की रचना करके बची हुई सामग्री से चम्पक-दल आदि की रचना के कथन मे कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इसमे व्यतिरेक-अलङ्कार की व्यञ्जना है, क्योंकि चम्पक आदि से अङ्गों की कान्ति की अधिकता सूचित होती है।

(ग) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य।

रावन सिर के मुकुट सों तिहिँ छिन भुवि-तल आय।
मनि-मिस निसिचर-लच्छि के अँसुवा गिरे ढराय ॥२१८॥

'श्रीरघुनाथजी के जन्म-समय रावण के मुकुट से मणियों के गिरने का तो बहाना-मात्र था, वास्तव मे राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू पृथ्वी पर गिरे थे'। 'राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू' कवि-कल्पित हैं—कवि प्रौढ़ोक्ति-मात्र है। 'मणियों के बहाने से आँसू गिरे' इस कथन में 'अपह्नुति'-अलङ्कार वाच्यार्थ है। इसमे 'आगे को होनेवाला राक्षसों का विनाश'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

(घ) कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य।

"कोप के कटाच्छ तें निहारत ही शत्रु-ओर;
काम के कटाच्छ बाम तिनकी बितात हैं।
मूर्वी-गांडीव ताकौ सपरस करत अरी—
नारिन के कज्जल को परस मिटात है।

डसत है होठ आप पीर को सहत बीर
सत्रु-वधू होठनि की पीर सो बिलात है।
बान के सँधानत ही अर्जुन के सत्रुन की—
स्त्रियन की चूरिन को चूरन दिखात है।"२९९॥

अर्जुन के युद्ध के वर्णन में यहाँ कवि की प्रौढोक्ति है। 'शत्रुओं पर अर्जुन के कुपित कटाक्षों का गिरना' यह कारण और उन शत्रुओ की स्त्रियो के काम-कटाक्ष का अन्त हो जाना' यह कार्य भिन्न-भिन्न स्थान पर होने में असङ्गति-अलङ्कार है इस अलङ्कार द्वारा 'कार्य कारण का एक साथ होना' यह अतिशयोक्ति-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

"नाहिँन ये पावक प्रवल लुवै चलैं चहुँ पास।
मानहु विरह-वसंत के ग्रीसम लेत उसास॥"३००॥

यहाँ 'वसन्त के विरह में लूओं के रूप मे ग्रीष्म-ऋतु का तप्त श्वास लेना' इस वाच्यार्थ में सापह्नव उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस उत्प्रेक्षा द्वारा "जब स्वय ग्रीष्म-ऋतु ही तप्त श्वास ले रही है, तब जीवधारी मनुष्यादिकों के सन्ताप की बात ही क्या है" यह 'अर्थापत्ति' अलङ्कार व्यंग्यार्थ से ध्वनित होता है।

सुनत बिहारी के ललित दोहन-मोहन-मंत्र;
सहृदय हृदय न सुधि रहत लगत न जंत्र न तंत्र।३०१॥

विहारी कवि के दोहों को मोहन-मन्त्र कहने में 'रूपक' अलङ्कार वाच्यार्थ है। इसके द्वारा 'अन्य मन्त्रो की मोहन-शक्ति पर जंत्र-तंत्रों का प्रभाव हो सकता है, और इन मोहन-मन्त्रों पर कोई जंत्र-मंत्र नही चल सकता' यह उत्कर्ष सूचित होता है। अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार व्यंग्य है। यह कवि-कल्पित वर्णन है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र है।

कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

जहाँ कवि की स्वयं उक्ति न होकर कवि द्वारा कल्पित पात्र की अर्थात् नायक-नायिका आदि अन्य व्यक्ति की उक्ति द्वारा लोकातिरिक्त केवल कल्पनात्मक वर्णन होता है, वहाँ कवि निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध कहा जाता है। 'कवि-प्रौढ़ोक्ति में' कवि स्वय वक्ता होता है, और इसमे कवि-कल्पित पात्र इन दोनो में केवल यही भेद है। इसके भी निम्न लिखित चार भेद होते हैं—

(क) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(ख) कवि निबद्ध पात्र-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य।
(ग) कवि-निबद्ध पात्र-प्रोढ़ोक्ति अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य।
(घ) कवि-निबद्ध पात्र-प्रौ० अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य।

(क) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

"करी विरह[1] ऐसी तऊ गैल न छाँड़त नीच।
दीन्हेऊ चसमा चखनि चाहत लखै न मीच।"२०२॥

यहाँ मृत्यु के नेत्र में चश्मे का होना कवि-कल्पित वस्तु रूप है। वक्ता विरह-निवेदना दूती है। अतः कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति है। 'नायिका की अत्यन्त कृशता का सूचित होना' यह वस्तु-व्यंग्य है।

(ख) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य

मदन-बान की पंचता कीन्ही हाय अनत,
बिरहिन कों अब पंचता दीन्ही आय वसंत।२०३॥

---

[1] विरह ने उसे इतनी दुबली कर दी है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती, फिर भी नीच विरह उसका पिंड नहीं छोड़ता।

यहाँ कवि-निबद्ध नायिका की उक्ति है—हे सखि, कामदेव के पुष्प वाणों की जो पञ्चता (पाच की संख्या) थी वह वसन्त ऋतु ने अनन्त (असंख्य) कर दी अर्थात् वाणों की पञ्चता तो छुटा दी और वियोगियों को पञ्चता (मृत्यु) दे दी। यह वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसके द्वारा—वसन्त ने कामदेव के बाणो की पञ्चता लेकर मानो विरही जनों को वह (पञ्चता) दे दी। यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यंग्य से प्रतीत होता है। यहाँ (पञ्चता शब्द) ध्वर्थक है।

(ग) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य।

मानिनि! मालति-कुसुम पै गूँजत भ्रमर सुहाहिँ,
मानो मदन-प्रयान के सु-समय संख बजाहिँ।२०४॥

मानिनी के प्रति कवि-निबद्ध सखी की यह प्रौढ़ोक्ति है। भ्रमर के गुञ्जार मे कामदेव के शंख की उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ है। इस उत्प्रेक्षा-अलङ्कार द्वारा "कामोद्दीपक समय आ गया, फिर भी तू मान नहीं छोड़ती" यह वस्तु-ध्वनि निकलती है।

"मरबे को साहस कियौ बढ़ी विरह की पीर;
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि-समीर।"२०५॥

यह कवि-निबद्ध दूति की प्रौढोक्ति है। मरने के लिये चन्द्रमा और कमलों के सम्मुख दौड़ना इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न है। अतः विचित्र अलङ्कार है। इसमें 'नायिका का अत्यन्त विरह-सन्ताप होना' यह वस्तु-ध्वनि है॥

(घ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रोढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य।

हिय तेरो बहु तिय भरयो मिलत न ताको ठौर;
छाँड़ि सबहि वह करत नित कृस तन अब कृस और।२०६॥

यहाँ कवि-निबद्ध दूती की दक्षिण-नायक के प्रति प्रौढ़ोक्ति है। 'बहुत-सी युवतियों के प्रेम से भरे हुए तुम्हारे हृदय में स्थान न मिलने के कारण वह बेचारी अब सब काम छोड़ कर प्रतिदिन अपने कृश देह को और भी कृश कर रही है; यह इसलिये कि अत्यन्त क्षीण होने से सम्भव है हृदय में कुछ स्थान मिल जाय'। यह 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार वाच्यार्थ है। इसमें विरह में 'कृश देह होने पर भी तुम्हारे हृदय मे स्थान नहीं मिलता' यह 'विशेषोक्ति' अलङ्कार व्यंग्य से प्रतीत होता है।
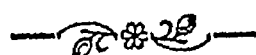
शब्द और अर्थ उभय शक्ति उद्भव-अनुरणन ध्वनि

जहाँ कुछ पदों का परिवर्त्तन न होने पर और कुछ पदों का परिवर्त्तन होने पर भी 'व्यंग्य' सूचित हो, वहाँ शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक अनुरणन 'ध्वनि' होती है।

यह भेद केवल वाक्यगत ही होता है—पदगत नहीं। क्योंकि एक ही पद में दो विरुद्ध धर्म (अर्थात् शब्द-परिवर्तन सहन करना और सहन न करना) नहीं रह सकते। इसमें वस्तु के द्वारा अलङ्कार-व्यंग्य होता है, न कि वस्तु-रूप व्यंग्य। क्योंकि 'वस्तु' शब्दार्थ-उभय-मूलक नहीं होती, वस्तु के गोपन मे—छिपाने मे—केवल शब्द-शक्ति ही समर्थ है, अर्थ-शक्ति नहीं।

सोहत चंद्राभरन-जुत मनमथ प्रबल बढ़ातु;
तरल तारका कलित यह श्यामा ललित सुहातु।२०७॥

इसके दो अर्थ हैं, एक अर्थ यह है—चन्द्रमा जिसका आभरण है, जो कामदेव को बढ़ाती है, और तरल-तारका है, अर्थात् कहीं-कहीं कुछ तारागणों से युक्त है, ऐसी यह श्यामा (रात्रि) शोभित हो रही है। और दूसरा अर्थ यह है—जो, चन्द्र अर्थात् कपूर के भूषणों से अथवा चन्द्राभरण से (ललाट के भूषण से) युक्त है, कामदेव को बढ़ानेवाली है, और तरल-तारका[1] है, अर्थात् चञ्चल नेत्रवाली है (अथवा तारों के समान कान्तिवाले छोटे-छोटे हीरों की लटकन वाला हार धारण किए है) ऐसी यह श्यामा-कामिनी शोभायमान है' ये दोनो वाच्यार्थ हैं और वस्तु-रूप हैं। इनमें स्त्री के समान रात्रि शोभित है, अथवा चाँदनी रात्रि जैसी कामिनी शोभित है, यह उपमा अलङ्कार व्यग्य से ध्वनित होता है। 'चन्द्र', 'तरल' और 'श्यामा' शब्दों के स्थान पर इन्हीं अर्थों के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर, दो अर्थ नहीं हो सकते, यह शब्द-शक्ति-मूलकता है, और 'आभरण' तथा 'बढात' शब्दों के स्थान पर इसी अर्थ वाले दूसरे शब्द बदल देने पर भी दो अर्थ हो सकते हैं, यह अर्थ-शक्ति-मूलकता है। अतः यहाँ शब्द और अर्थ दोनो ही की शक्ति से व्यंग्यार्थ सूचित होने से यह शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक 'ध्वनि' है।

यहाँ तक ध्वनि के १८ भेदों का निरूपण किया गया है—

२ लक्षणा-मूला अविवक्षितवाच्य ध्वनि के—१ अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि और २ अत्यन्त तिरस्कृत वाचय ध्वनि।

१६ अभिधामूला-विवक्षितवाच्य ध्वनि के—

१ असंलक्ष्यक्रमव्यंग ध्वनि के रस, भाव आदि को एक ही भेद माना जाता है।

---

१ तरल = चञ्चल, तारका = आँखों के बीच का काला मण्डल।

१५ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के—

२ शब्द-शक्तिमूलक (१) वस्तु-व्यंग्य और अलङ्कार-व्यंग्य।

१२ अर्थ शक्ति मूलक—

४ स्वत सम्भवी

४ कवि-प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध

४ कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध

१ शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक

इन १८ भेदों के यथासंभव, अर्थात् पृष्ठ १०६ की तालिका के अनुसार, पदगत[1], वाक्यगत[2], प्रबन्धगत[3], पदांशगत[4], वर्णगत[5], और

---

१ सुबन्त और तिङन्त को 'पद' कहते हैं।

२ पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। अतएव पदों के समूहात्मक वाक्य में और पदों के समास में जो ध्वनि होती है वह भी वाक्यगत ध्वनि है।

३ महावाक्य को अर्थात् अनेक वाक्यों के समूह को 'प्रबन्ध' कहते हैं। प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं—ग्रंथ-रूप और ग्रंथ के अवान्तर प्रकरण-रूप।

४ पद के एक अङ्ग या अंश को 'पदांश' कहते हैं। जैसे धातु, नाम (प्रातिपदिक) तिङ् विभक्ति, सुप् विभक्ति, क्त आदि प्रत्यय, सम्बन्ध-वाचक षष्ठी विभक्ति, लङ् आदि लकार, वचन (एक वचन आदि), प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष, समास पूर्वनिपात विभक्ति विशेष, 'क' आदि तद्धित, 'प्र' आदि उपसर्ग, 'च' आदि निपात, सर्वनाम और समास आदि।

५ 'क' आदि वर्ण।

रचनागत[1], ५१ भेद होते हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं—

पदगत ध्वनि।

पदगत ध्वनि में प्रधानता से एक ही पद व्यञ्जक होता है, अन्य पद केवल उस पद के उपकारक होते हैं। जैसे नासिका आदि किसी एक अङ्ग में धारण किए गए भूषण से कामिनी के सारे शरीर की शोभा हो जाती है, उसी प्रकार एक पद के व्यंग्यार्थ से कवि-कृत सारे पद्य की रचना शोभा को प्राप्त हो जाती है[2]।

जाके सुहृद जु सुहृद हो रिपुहू रिपु ही होइ;
जनम सफल तिहिँ पुरुष को जीवित हू जग सोइ।२०८॥

यहाँ 'सुहृद्' और 'रिपु' पद में अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद्'-शब्द के वाच्यार्थ में 'विश्वास के योग्य' और 'रिपु' शब्द के वाच्यार्थ में 'परास्त के योग्य' व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इस ध्वनि की व्यञ्जना में यहाँ दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद' और 'रिपु' पद ही प्रधान हैं, इसी से यहाँ लक्षणामूला अर्थान्तरसंक्रमित पदगत ध्वनि है। पदगत 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ध्वनि का उदाहरण 'लगि मुख के निःस्वास' (पृष्ठ ११२) मे है।

---

१ गूँथने का नाम रचना है। इसके वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी और गौडी चार भेद हैं। वैदर्भी रचना समास-रहित होती है, पाञ्चाली दो-तीन या चार पदों के समासवाली, 'लाटी' पाँच तथा सात पदों के समासवाली होती है, और गौडी में यथाशक्ति पदों का समास हो सकता है।

२ 'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी;
पदद्योतेन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।'
—ध्वन्यालोक।

"सखी सिखावत मान-विधि सैननि बरजति बाल ;
हरुये कहु मो हिय बसत सदा विहारीलाल ॥"२०१॥

यह मान का उपदेश देनेवाली सखी के प्रति नायिका की उक्ति है। 'हे सखि ! तू मान करने की बातें बहुत धीरे-धीरे कह, क्योंकि मेरे हृदय में प्राणनाथ रहते हैं, वे कहीं सुन न लें'। यहाँ 'हरुये कहु' पद प्रधानता से पति में अनुराग सूचन करता है। अतः इस एक पद से सम्भोग-शृङ्गार ध्वनित होने से पद में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि है। इसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के शब्द-शक्ति-मूल तथा अर्थ-शक्ति-मूल वस्तु या अलङ्कार-ध्वनि के पदगत उदाहरण होते हैं।

वाक्यगत ध्वनि

'सुवरन फूलन की धरा' (पृष्ठ १११) में कई पदों से बने हुए सारे वाक्य में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के उदाहरण रस प्रकरण में प्रायः वाक्यगत ही दिए गए हैं। जैसे संख्या १४१ आदि में वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण है।

प्रबन्धगत ध्वनि

यह ध्वनि एक वाक्य या एक पद्य में नहीं होती, किन्तु ग्रन्थ-प्रबन्ध के कई पद्यों में हुआ करती है। महाभारत के शान्तिपर्व के आपद्धर्म की १५३ वीं अध्याय के गृध्र-गोमायु-सम्वाद आदि में यह बहुत मिलती है। जैसे—

गीध स्यार कंकाल जुत है यह घोर-मसान ;
अतिहि भयंकर या समय रहिबो इत अज्ञान।
प्रानि-मात्र की गति यही प्रिय वा अप्रिय होइ ;
या जग में मरिके कबौं जीवित है नहिँ कोइ ॥२१०॥

सन्ध्या के समय श्मशान मे किसी मृतक बालक को उसके बन्धुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग यदि दिन रहते चले जायँ तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने उसे देख कर यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये लोग यहीं रह जॉय तो फिर रात मे गीध तो इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा'। इसी प्रसङ्ग में रात्रि में अन्धे हो जाने वाले मास-भक्षक गीध की मृतक के बान्धवों के प्रति यह उक्ति है। 'ऐसे भयङ्कर श्मशान में इस सन्ध्या-काल में तुम लोगों का यहॉ रहना बड़ा भयावह है'। यह स्वतः सम्भवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोडकर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यग्य है।

> **अथ्यो न रवि लखियतु अजौं विघन रूप यह काल,**
> **रहहु निकट ही जिय परै फिरि कदाचि यह बाल।**
> **भई न याकी तरुन वय सुवरन वरन समान,**
> **तजत याहि क्यों मूढ़ जन! गीध-वचन तुम मान।३११॥**

उस मृतक के उन्हीं बॉधवों के प्रति यह गीदड की उक्ति है। यह भी स्वतःसम्भवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमे मृत बालक को छोड़ कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और वह वस्तु-रूप है। इन दोनो उदाहरणो में किसी एक ही पद या वाक्य से उक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किन्तु सारे प्रबन्ध के वाक्य-समूह द्वारा ही व्यग्य प्रतीत होता है, अतः यहॉ प्रबन्ध-गत सलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

महाभारत मे शान्तरस, श्रीरामचरित्र मे करुणरस, 'मालतीमाधव' और 'रत्नावली' आदि नाटको मे शृङ्गार रस की ध्वनि के ग्रन्थ रूप मे प्रबन्धगत उदाहरण हैं।

पदांशगत ध्वनि

रुचि है नहिँ तोहि अहारन में रु बिहार न कोउ सुहावतु री;
रहै नासिका ओर निहारत ही मन एकहि ठौर लगावतु री।
गहैं मौन रहै यह, भौन सबै यहै सूने-से तोहि लखावतु री;
कहु जोगिन है कि वियोगिनि तू? सजनी! यह क्यों न बतावतु री।३१२

किसी वियोगिनी के प्रति उसकी सखी की यह परिहासोक्ति है। यहाँ 'अहारन में', 'कोउ', 'ही', 'कहु', 'सजनी' और 'कि' ये सब पदांश हैं। 'अहारन में' विषय सप्तमी विभक्ति है, इसमें सारे आहारो से वैराग्य होना व्यंग्य है। 'योगिनी शरीर-रक्षार्थ सात्विक आहार तो करती है, पर तू तो आहार-मात्र से विरक्त है' यह ध्वनि है। 'कोउ' विशेषण है। इसमें यह ध्वनि है कि 'धार्मिक विषयों से—गङ्गा-स्नानादि से—योगिनी की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु तुझे तो भला या बुरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता'। 'निहारत' के आगे 'ही' है। 'ही' पदांश से निरन्तर नासाग्र दृष्टि रखना, व्यंग्य है 'यह' में व्यंग्य यह है कि 'तेरा यह प्रत्यक्ष विलक्षण मौन है'। 'सजनी' पद से अन्तरङ्गता ध्वनित होती है, अर्थात् मुझसे तेरा प्रेम छिपा नहीं है। 'री कहु' सम्बोधन से उपहास सूचित है। 'कि है?' से उसकी विरहावस्था सूचित है। यहाँ इन पदांशों का अपने-अपने विषयो को ध्वनित करना सहृदयों को ही अनुभवनीय है।

वर्ण और रचनागत ध्वनि

इनके उदाहरण छठे स्तवक में ('गुण'-प्रकरण में) दिए जायँगे।

यहाँ तक ध्वनि के जिन ५१ भेदों का निरूपण किया गया है, वे सब शुद्ध भेद हैं।

ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

एक ध्वनि में दूसरी ध्वनियों के मिश्रण होने को ध्वनि-संकर और ध्वनि-संसृष्टि कहते हैं।

संकर।

इसके तीन भेद हैं—

(१) **संशयास्पद-संकर**—जहाँ एक से अधिक ध्वनियों की प्रतीति होती हो किन्तु यह निश्चय न हो कि उनमें से कौन सी एक दूसरी की साधक है अथवा एक दूसरी की बाधक है। अर्थात् जहाँ यह कौन-सी ध्वनि है ? ऐसा सशय होता हो वहाँ सशयास्पद-संकर ध्वनि कही जाती है।

(२) **अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर**—जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ हों और उनमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि की पोषक हो—उनका अङ्गाङ्गीभाव हो—वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि होती है।

जहाँ एक व्यंग्य दूसरे किसी व्यग्य का अङ्ग होता है वहा वह गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है। अतएव यह प्रश्न होता है कि फिर इस अङ्गाङ्गीभाव संकर को ध्वनि-भेद के अन्तर्गत क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी कामिनी के कण्ठ में धारण किया हुआ कोई चमकीला आभूषण अपने चमत्कार को स्वतंत्रता से रखता हुआ भी उस कामिनी के कण्ठ का भी उपकार करता रहता है—शोभा बढ़ाता रहता है—उसी प्रकार जहाँ एक ध्वनि स्वतः चमत्कारी रहकर दूसरी ध्वनि का भी कुछ उपकार कर देती है, न कि दूसरी ध्वनि का सर्वथा अङ्ग ही हो जाती है, वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि कही जाती है।

(३) एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही पद या एक ही वाक्य में एक से अधिक प्रकार की ध्वनि होती है। वहाँ एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर-ध्वनि कही जाती है।

संसृष्टि—

जहाँ निरपेक्षता से—परस्पर सम्बन्ध न रखकर स्वतन्त्रता से—एक से अधिक ध्वनियाँ अपने स्वरूप में स्थित होती हैं, वहाँ 'ध्वनि ससृष्टि' कही जाती है।

संशयास्पद संकर—

"सीता हरन तात ! जनि कहेहु पितासन जाय ;
जौ मैं राम तो कुल-सहित कहहि दसानन आय।"३१३॥

गृध्रराज के प्रति श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इस उक्ति का 'जो मै राम हूँ' पद 'मैं यदि सूर्यवंशी महाराज दशरथ का अतुल बलशाली पुत्र राम हूँ' इस अर्थान्तर में सक्रमण करता है। अतः अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है ? या 'जो मै राम हूँ तो' पद से 'जानकी को हरण करनेवाले रावण का मैं शीघ्र ही वध करूँगा' यह अनुरणन रूप व्यंग्य सूचित होने से विवक्षितवाच्य अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि है ? यहाँ यह सशय होता है कि इन दोनो में से कौन-सी ध्वनि है। क्योंकि एक को स्वीकार करने में साधक और दूसरी का त्याग करने में बाधक प्रमाण नहीं है—दोनो की ही समानता से प्रतीति होती है। अतः यहाँ संशयास्पद संकर-ध्वनि है।

अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर।

इसका उदाहरण सकर संसृष्टि के उदाहरण (पद्य संख्या ३१६) में दिखाया जायगा।

एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर।

उन्नत पीन उरोज लसैं जुग दीरघ चंचल दीठ विलोकित ,
ठाढ़ी है गेह की देहरी पै पिय-आगम के उतसाह-प्रलोभित ।
कंचन-कुंभ कुसुंभ सजे पट, कंजन-वंदनवार सुसोभित ;
मंगल ये, उपचार किए बिन ही श्रम कंजमुखी समयोचित ।२१४॥

'उन्नत उरोजोवाली और बड़े तथा चञ्चल नेत्रोवाली घर के दरवाजे पर खड़ी हुई सुन्दरी ने अपने पति के आने के समय समयोचित माङ्गलिक कार्य—दो पूर्ण कलशों को सम्मुख लाना और पुष्पो की वन्दनवार लगाना—बिना ही कुछ यत्न के सम्पादन कर दिए'। इस वाच्यार्थ के 'स्तन ही कलश हैं और सुदीर्घ एवं चञ्चल दृष्टि ही कमलो की वन्दनवार है' इन दोनो वाक्यों मे रूपक अलङ्कार की ध्वनि और शृङ्गार-रस की ध्वनि एक ही आश्रय मे है, अर्थात् जिन वाक्यों द्वारा सलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक रूपक की ध्वनि प्रतीत होती है, उन्हीं वाक्यो द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक शृङ्गार-रस भी ध्वनित होता है। यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और असलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि दोनो हैं, अतएव एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर-ध्वनि है।

ध्वनियों की संसृष्टि।

"हँसने लगे कुसुम कानन के देख चित्र सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डाली में निरख मैथिली का मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं उन्हे गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके जुड आई भौंरों की भीर।"२१५॥

यह पञ्चवटी का वर्णन है। इसमें लक्षणामूला तीन ध्वनियो की संसृष्टि है—

१—हँसना चेतन का धर्म है, कुसुम (पुष्प) जड है। उनको 'हँसने लगे' कहने में मुख्यार्थ का बाध होने के कारण गौणी-लक्षणा द्वारा

'पुष्प खिलने लगे' यह लक्ष्यार्थ जाना जाता है। व्यंग्यार्थ में प्रफुल्लित पुष्पों की रमणीयता की ध्वनि है।

२—जानकीजी की मुसकान देखकर कलियों का विकसित होना असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है। कली जड़ है वे देख नहीं सकती। यहाँ व्यग्यार्थ में मुसकान के आधिक्य की ध्वनि है।

३—समीर (पवन) द्वारा पुष्पो का गिना जाना असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है। गौणी-लक्षणा से वायु द्वारा पुष्पों का स्पर्श किया जाना लक्ष्यार्थ है। इसमे पवन के मन्द-मन्द बहन होने की ध्वनि है।

ये तीनो ध्वनि पृथक् पृथक् स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं—एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि का अङ्ग नहीं है।

संसृष्टि और संकर का मिलाव।

छावौ घनघोर घटा क्यों न नभ-मंडल पै,
स्यामल छटा हू ये लीपौ चहुँ ओरन सों;
सीतल समीर धीर मेरें का करैगो पीर,
ह्वै है का मेघ-मित्र मौरन के सोरन सों।
राम हौं कठोर-हिय भुवन-प्रसिद्ध मैं तो,
सहौंगो सबै ही ऐसे दुःख बरजोरन सों;
प्यारी सुकुमारी हाय जनकदुलारी ताकी,
होयगी दसा कहा पावस झकोरन सों।३१६॥

वर्षा-काल के उद्दीपक विभावों को देखकर सीताजी के विरह में भगवान् श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। 'आकाश को श्याम रङ्ग की कान्ति से लीपनेवाले मेघ भले ही उमड़ें, शीतल-मन्द समीर भले ही

चले और मेघ के मित्र मयूरों की भी भले ही कूक होती रहे, मै अत्यन्त कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन कर सकूँगा। पर हाय! सुकुमारी वैदेही की क्या दशा होगी?' यहाँ ध्वनि-संसृष्टि, अनुग्राह्य-अनुग्राहक ध्वनि-सकर और एकव्यञ्जकानुप्रवेश ध्वनि-संकर, तीनो एकत्र हैं:— (१) आकाश निराकार है। उस पर लेप नहीं हो सकता, अतः यहाँ 'लीपत' का लक्ष्यार्थ व्याप्त करना है। 'मित्रता' चेतन व्यक्ति का धर्म है। जड़ मेघ से मयूरो की मित्रता होना सम्भव नहीं, इस मुख्यार्थ का बाध होने से मित्रता का लक्ष्यार्थ 'मयूरों को सुख देनेवाला' ग्रहण किया जाता है। इसमे अतिशय कामोद्दीपकता व्यग्य है। अतः ये दोनो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि हैं। इनकी यहाँ परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने से संसृष्टि है। (२) इन दोनो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के साथ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से सकर भी है, क्योंकि यहाँ वक्ता स्वयं राम हैं। केवल 'मैं' कहने से भी राम का बोध हो सकता था, अतः 'मै राम हूँ' ऐसा कहना अनावश्यक था, पर 'राम' पद 'राज्य-भ्रंश, वन-वास, जटा-चीर-धारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखों को सहन करनेवाला मै राम हूँ' इस अर्थान्तर में सक्रमण करता है। इस अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि मे श्री रामचन्द्रजी का अपनी अवज्ञा सूचित करना व्यंग्य है। उपर्युक्त 'लीपत' और 'मित्र' पदों से जो कामोद्दीपकता की अधिकता व्यंग्य है, वह इस अवज्ञा का अङ्ग है, अर्थात् 'राम'-शब्द से सूचित होनेवाली अवज्ञा की मेघ-काल की उद्दीपकता से पुष्टि होती है। अतः इन दोनो ध्वनियों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव सकर है। (३) 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश-ध्वनि-सकर' इस प्रकार है कि 'राम' पद से जिस प्रकार रघुनाथजी द्वारा अपनी अवज्ञा सूचित होती है, उसी प्रकार सीताजी का वियोग सहन करना भी सूचित होता है, अतः 'राम' पद में विप्रलम्भ-शृङ्गारात्मक व्यंग्य भी है। एक ही पद 'राम' में अर्थान्तर-

संक्रमितवाच्य ध्वनि और विप्रलम्भ-शृङ्गारात्मक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि दोनो होने से एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर भी है।

ध्वनि के भेदों की संख्या

ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के परस्पर एक का दूसरे के साथ मिश्रण होने पर (५१ से ५१ का गुणन करने पर) २६०१ मिश्रित भेद होते हैं। इन २६०१ भेदो के तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि द्वारा (२६०१ को चार के गुणन करने पर) १०,४०४ मिश्रित (मिले हुए संकीर्ण) भेद होते हैं। इन १०,४०४ भेदों में ५१ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ध्वनि के कुल १०,४५५ भेद होते हैं।

चतुर्थ स्तवक पञ्चम पुष्प

व्यञ्जना शक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि के उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि काव्य मे व्यंग्यार्थ सर्वोपरि पदार्थ है। व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यञ्जना-शक्ति के ही आश्रित है। किन्तु बहुत से नैय्यायिक आदि विद्वान् व्यञ्जना का माना जाना अनावश्यक बताते हैं। उनका कहना है कि ध्वनि-सिद्धान्त मे जिस विशेष-अर्थ (व्यंग्यार्थ) के बोध कराने के लिये व्यञ्जना-शक्ति को माना गया है, उस विशेष अर्थ का बोध जब अभिधा आदि (लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति) द्वारा ही हो सकता है, तब एक अन्य शक्ति व्यञ्जना की कल्पना करना अनावश्यक है। इस विषय पर ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश मे विस्तृत विवेचना की गई है। व्यञ्जना-शक्ति के विरोधियों की सभी तर्कों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट का कहना है कि व्यञ्जना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिये सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं लक्षणामूला—अविवक्षितवाच्य ध्वनि और अभिधा-मूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इनमें अविवक्षितवाच्य के तो नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यञ्जना को निर्मूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधा के अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षितवाच्य ध्वनि में कुछ उपयोग ही नहीं होता है। क्योंकि अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य मे अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है, जैसे 'कदली-कदली ही तथा' इत्यादि में[1]। और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में तो वाच्यार्थ सर्वथा ही छोड़ दिया जाता है, जैसे 'सुवरन फूलन की धरा' इत्यादि में[2]।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है पर लक्षणा तो रहती है, तब व्यञ्जना के आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि यह ध्वनि लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती भी है, किन्तु लक्षणा तो केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा मे प्रयोजन रूप जो व्यंग्यार्थ होता है—जिसके लिये लक्षणा की जाती है, उस प्रयोजन का लक्षणा कदापि बोध नहीं करा सकती है। जैसे—

'गङ्गा पर घर' इस उदाहरण में लक्षणा केवल 'गङ्गा'-शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है। जिस प्रयोजन के लिये (अपने निवास-स्थान में शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिये) इस वाक्य का वक्ता ने प्रयोग किया है, वह लक्षणा द्वारा बोध

1 देखो, पृष्ठ १०८। 2 देखो, पृष्ठ १११।

नहीं हो सकता है। वह प्रयोजन तो व्यंग्यार्थ है वह लक्षणा द्वारा न बोध ही हो सकता है और न वह लक्षणा का व्यापार ही है। वह व्यञ्जना का व्यापार है। उसका बोध केवल व्यञ्जना-शक्ति ही करा सकती है[1]। यदि 'गङ्गा पर घर' वाक्य मे उक्त प्रयोजन न माना जायगा तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि व्यग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा हो ही नहीं सकती है। और अविवक्षितवाच्य ध्वनि के व्यंग्यार्थ का चमत्कार व्यञ्जना पर ही निर्भर है।

'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि इसमे वाच्यार्थ का बाध नहीं होता, और वाच्यार्थ के बाध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती है। हॉ, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि मे अवश्य होता है, क्योंकि वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, किन्तु वाच्यार्थ व्यंग्य-निष्ठ होता है। अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के जो दो मुख्य भेद हैं, असलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य, इनमे असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य रसभावादि हैं और वे अभिधा के वाच्यार्थ नहीं हैं। यदि वे वाच्यार्थ होते तो रस अथवा शृङ्गार आदि शब्दो के कह देने-मात्र से ही उनका आनन्दानुभव होना चाहिए था। पर ऐसा नहीं होता है। शृङ्गार रस, शृङ्गार-रस कहने मात्र से ही कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत रस या शृङ्गार आदि शब्दो का प्रयोग किए बिना ही विभावादिकों के व्यञ्जन व्यापार द्वारा रस का आनन्दानुभव होने लगता है।

यदि यह कहा जाय कि विभावादिकों के वाचक जो दुष्यन्त आदि शब्द हैं उनके बिना उन विभावादिकों की प्रतीति नहीं हो सकती है, इसलिये रस आदि को लक्षणा का लक्ष्यार्थ समझना चाहिये—व्यञ्जना

---

१ देखो, पृष्ठ ९०।

की व्यर्थ ही कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर यह है कि लक्षणा तो वहीं होती है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि तीन कारण होते हैं। किन्तु जहाँ रस आदि व्यक्त होते हैं वहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि नहीं होता है। अतः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अभिधा और लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्द-शक्ति-मूलक भेदों में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होता है, अर्थात् जहाँ अनेकार्थी शब्द होते हैं, वहीं शब्द-शक्ति-मूलक सलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है। 'सयोग' आदि कारणों से अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही अनेकार्थ शब्दो का व्यग्यार्थ व्यञ्जना द्वारा बोध होता है। अर्थशक्तिमूलक भेदों मे भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलङ्कार-रूप व्यग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती है और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति मे अर्थशक्तिमूलक व्यग्यार्थ का बोध कराने के लिये एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है, और वह व्यञ्जना शक्ति के सिवा और कौनसी शक्ति हो सकती है?

अब रही तात्पर्य वृत्ति[1]। धनञ्जय कृत दशरूपक के व्याख्याकार धनिक का कहना है "तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो का बोध हो सकता है। तात्पर्य कोई तराजू पर तुला हुआ पदार्थ नहीं, जो न्यूनाधिक न हो सकता हो। तात्पर्य का प्रसार (फैलाव) जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक हो सकता है। फिर व्यग्यार्थ के लिये व्यञ्जना का माना जाना निरर्थक है"। किन्तु तात्पर्य वृत्ति द्वारा व्यग्यार्थ का बोध होना बतलाने वाले न्याय का यह सिद्धान्त भूल जाते हैं कि शब्द, बुद्धि

---

१ तात्पर्य वृत्ति का स्पष्टीकरण पृष्ठ १०२ में देखिये।

और क्रिया यह तीनो अपना अपना एक एक कार्य करने के बाद क्षीण हो जाते हैं[1]—एक के सिवा दूसरा कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। अभिधा की शक्ति वाच्यार्थ का बोध कराके और लक्षणा की शक्ति लक्ष्यार्थ का बोध कराके जिस प्रकार क्षीण हो जाती है—दूसरा अर्थ बोध नही करा सकती; उसी प्रकार तात्पर्य की शक्ति भी वाक्य के पृथक् पृथक् पदो का सम्बन्ध बोध कराके क्षीण होकर अन्य अर्थ बोध नहीं करा सकती है। जैसे, 'गङ्गा पर घर' इस वाक्य मे गङ्गा आदि शब्दों का (प्रवाह) आदि वाच्यार्थ बोध कराके अभिधा की शक्ति रुक जाती है। एवं 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध कराके लक्षणा रुक जाती है। और तात्पर्य वृत्ति गङ्गा आदि पृथक् पृथक् शब्दों का एक का दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध बोध कराके रुक जाती है। इसके सिवा 'गङ्गा पर घर' वाक्य मे 'तट' मे पवित्रता और शीतलता आदि सूचक जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। उस व्यंग्यार्थ का बोध, अभिधा[2], लक्षणा[3], और तात्पर्य[4] इन तीनो ही द्वारा बोध नहीं हो सकता है। अतएव उस व्यग्यार्थ का बोध व्यञ्जना शक्ति ही करा सकती है।

---

१ 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

२ अभिधा केवल शब्द के सङ्केतित वाच्यार्थ गङ्गा के प्रवाह का बोध करा सकती है। पर शीतल और पवित्रता वाच्यार्थ नहीं है।

३ लक्षणा लाक्षणिक गङ्गा शब्द का केवल लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है पर शीतलता और पवित्रता लक्ष्यार्थ भी नहीं है।

४ तात्पर्य वृत्ति गङ्गा आदि शब्दो का केवल परस्पर सम्बन्ध बोध करा सकती है; पर जब शीतलता और पवित्रता का किसी शब्द द्वारा कथन ही नहीं है, तब तात्पर्य वृत्ति इनका किस शब्द के साथ सम्बन्ध बोध करा सकती है?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये व्यञ्जना के माने जाने में और भी बहुत-से कारण हैं—

समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, किन्तु व्यग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। जैसे—

सोचनीय अब दो भए मिलन कपाली हेत ,
कांतिमयी वह ससिकला अरु तू कांति-निकेत ।२१७।

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशङ्कर की यह उक्ति है। 'हे पार्वती, कपाली के (मुण्डमाला धारण करनेवाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो— एक तो चन्द्रमा की वह कान्तिमयी कला, और दूसरी नेत्रानन्द-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात् पहले चन्द्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जायँगे तो वाच्यार्थ तो वही रहेगा—शङ्कर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली'-शब्द के प्रयोग में जो 'अशुद्ध नर-कपाल धारण करनेवाला' कहकर श्रीशङ्कर का अपने को अस्पृश्य सूचित करने रूप जो व्यग्यार्थ व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है वह पर्याय शब्द से सूचित नहीं हो सकेगा। यदि व्यञ्जना न मानी जायगी तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो काव्य का महत्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जायगा।

इसके अतिरिक्त प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, सख्या और विषय, आदि में वाच्यार्थ और उनके व्यग्यार्थ की पारस्परिक भिन्नता होने के कारण भी व्यञ्जना का माना जाना आवश्यक है। जैसे—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ सभी को एक यही बोध होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया है'—इसके सिवा दूसरा कोई वाच्यार्थ बोध नहीं हो सकता है। किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरणादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप मे प्रतीत होता है। यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रकरण मे सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि 'शीघ्र धावा करो, यह मौका अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रकरण मे यह वाक्य दूती नायिका से कहेगी तो इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि अभिसार के लिये प्रस्तुत हो जाओ। वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में यह व्यंग्य होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है'। भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमे काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य मे 'सध्यादि कर्म करने चाहिये' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति गृहस्थ के इस वाक्य मे 'गौओं को घर मे ले आओ' यह व्यग्य होगा। भृत्यों के प्रति दूकानदार के इस वाक्य मे 'बिक्री की वस्तुओं को समेटकर रक्खो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य मे 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। इत्यादि-इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण, वक्ता तथा बोधव्य की भिन्नता के कारण एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यग्यार्थ होते हैं।

'इत न स्वान वह आज अहो भगत निधरक बिचर'[1] पद्य में भक्त को निश्शङ्क आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधिरूप है। पर व्यग्यार्थ मे आने का निषेध है, अतः व्यग्यार्थ निषेध रूप है। **'कुच के तट चन्दन छूट्यों सबै ··'**[2] इस पद्य मे वाच्यार्थ निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि रूप है। इसी प्रकार—

---

१ देखो पृष्ठ ११२।

२ देखो पृष्ठ ६२।

पूछत हैं मतिमानन सों जन जे मति मत्सरता तें बिहीन के ;
सेवन जोग बताओ नितंब गिरीन के हैं अथवा तरुनीन के ?
त्यों चित ध्याइवे जोग है जोग वा भोग-विलास कहो रमनीन के ?
औ तन लाइबे जोग बभूत है कै मृदु अंग हैं चन्द-मुखीन के ?२१८॥

ऐसे पद्यों मे वाच्यार्थ सशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की। किन्तु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शान्त-रस की और शृङ्गारी वक्ता में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना निश्चयात्मक होती है।

दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न और ;
अति सुकुमार सरीर में सहे जु छत हित-मोर।२१९॥

यहाँ वाचयार्थ स्तुति-रूप है, और व्यग्यार्थ निन्दा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यञ्जना को मानना पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है,अतः काल-भेद के कारण भी व्यञ्जना का मानना आवश्यक है।

वाचयार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किन्तु व्यग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है। इस विषय का 'ध्वनि'-प्रकरण में विवेचन किया जा चुका है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यञ्जना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है[1]। अतः निमित्त भेद भी व्यञ्जना का प्रतिपादन करता है।

---

१ 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते,
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलं।'—ध्वन्यालोक उ०, १-७

वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आस्वादन का आनन्द) उत्पन्न होता है, अतः यह कार्य-भेद भी व्यञ्जना के मानने का एक कारण है।

[1]प्रिया-अधर छत-जुत निरखि किहिँके होइ न रोष ;
बरजत हू स-मधुप कमल सूँघत भई स-दोष ।३२०॥

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है जिसके अधर पर क्षत दीख पड़ता था, और उसे ही यह वाक्य कहा गया है। 'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं' इस व्यंग्य का विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन करने के लिये यह व्यंग्योक्ति है। 'मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही हूँ' यह जो दूसरा व्यंग्य है, उसका विषय पड़ोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खड़ी हुई पड़ोसिन को व्यंग्योक्ति से सूचन की गई है। और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नि है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यञ्जना का मानना परमावश्यक है। इसी प्रकार—

"मायके तैं कब हौं कित ही निकसी न सदा घर ही महँ खेली ;
'वृंद' कहै अब हौं मनभावती आइकै खेलि है संग सहेली।

---

1 उपपति द्वारा अपनी कान्ता के अधर को दष्ट देखकर, विदेश से आए हुए नायक के कुपित होने पर, नायिका की चतुर सखी का, उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायक को सुनाते हुए, यह नायिका के प्रति चातुर्यगर्भित वाक्य है। हे सखि! दंतक्षत-युक्त अपनी प्रिया के अधर को देख कर किसे रोष नहीं होता? यह तेरा ही दोष है, क्योंकि मेरे रोकने पर भी तूने उस कमल को सूँघ ही तो लिया, जिसके भीतर भौंरा बैठा हुआ था, और उसने तेरे अधर पर व्रण कर दिया है। अब अपने पति के कोप को सहन कर।

कालि ही कंटक वृच्छन के लगि कंटक अंग कहा गति मेली;
हौं बरजौं चित के हित तें बन-कुंजन में जिन जाय अकेली।"३२१

नायिका के प्रति सखी की उक्ति है। यहाँ वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है जिसके अङ्गों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पड़ते थे। 'इसके अङ्गों में, वन की कुञ्जों में, कँटीले वृक्षों के काँटे लग गए हैं (अर्थात् नख-क्षत नहीं है)'। यह व्यंग्यार्थ है इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिए—

जिस लक्षणावृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के सम्बन्ध आदि की अपेक्षा रखती है, किन्तु अभिधा-मूला व्यञ्जना मे—विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती है। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यग्य-अर्थ प्रतीत होता है।

'राम हौं कठोर हिय भुवन प्रसिद्ध मैं तो ....' (पद्य संख्या २१६)

मे 'राम हौं' का 'अनेक दुःखों को सहन करनेवाला' लक्ष्यार्थ है। और

क्रूर निसाचर रावन ने निज दारुनता ही के जोग कियो वहि;
उच्च कुलोचित्त तेरे हू जोग प्रिये! रहिबो उत दुःखन को सहि।
पै रघुवंस लजाइ कै वीर कहाइ वृथा धनुबानन को गहि;
प्रानन सो रखि मोह या राम ने हा! कछु प्रेम के जोग कियो नहिं।३२२

जनकनन्दिनी को उद्देश्य करके वियोगी श्रीरामचन्द्रजी की उक्ति है—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नीचता के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म-पालन के कारण असह्य दुःख सहन कर रही है, यह भी एक उच्च कुलोत्पन्न तेरे जैसी के योग्य ही है। किन्तु अपने प्राणों से मोह रखनेवाले इस राम ने प्रेम का पालन नहीं किया'। वक्ता

स्वयं श्री राम हैं। अतः 'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्षणा द्वारा 'कायर' होता है। इसी प्रकार—

दसहु दिसिन जाको सुजस मरुत सात-सुर गातु ;
तात वही यह राम है त्रिभुवन-बल-विख्यातु।३२३॥

रावण के प्रति विभीषण की इस उक्ति मे 'राम' पद का लक्ष्यार्थ है—'खर-दूषणादिकों का वध करनेवाला'।

जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों मे 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। अर्थात् जैसे व्यंग्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। अतएव यह प्रश्न होता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही क्या है? और लक्ष्यार्थ से व्यञ्जना को पृथक् मानने की आवश्यकता ही क्या है। उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ अवश्य अनेक हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ की तरह नियत (मर्यादित) रहता है क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध नहीं होता है, उसकी लक्षणा नहीं हो सकती है। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार लाक्षणिक शब्द भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य-अर्थ का नियत सम्बन्धी होता है। जैसे **'गङ्गा पर घर'** मे गङ्गा शब्द के प्रवाह रूप वाच्य-अर्थ का नियत (नित्य)[1] सम्बन्धी 'तट' है, अतः तट ही में गङ्गा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ मे नहीं। इसी प्रकार

---

१ प्रवाह के साथ तट का नित्य सम्बन्ध इसलिये है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सदैव सम्बन्ध रहता है।

लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की भाँति नियत-सम्बन्ध में होता है, पर व्यंग्य अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-सम्बन्ध में, (२) अनियत सम्बन्ध में और (३) सम्बन्ध-सम्बन्ध में होता है। जैसे—'हौं इत सोवत सास उत' (देखो, पृष्ठ ६८) में 'इच्छानुकूल विहार' रूप एक ही व्यंग्य है, दूसरा कोई व्यंग्य नहीं है इसलिये व्यंग्यार्थ का वाक्य के साथ यहाँ नियत सम्बन्ध है। 'प्रिया अधर-छत-युत निरखि'...' (देखो पद्य स० ३१६) में विषय-भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं। इन व्यंग्यों का एक ही ज्ञाप्य या बोध्य नहीं है, पर भिन्न-भिन्न हैं, अतएव अनियत सम्बन्ध है। और—

लखहु वलाका[1] कमल-दल बैठी अचल सुहाहि।
मरकत-भाजन माँहि जिमि संख-सीप[2] बिलसाहि ॥३२४॥

उपनायक के प्रति यह किसी तरुणी की उक्ति है कि कमलिनी के पत्र पर निश्चल बैठी हुई यह वलाका बड़ी सुन्दर दीख पड़ती है। जैसे नीलमणि के पात्र में रक्खी शङ्ख से बनी हुई सीप। यहाँ वलाका को अचेतन सीप की उपमा द्वारा वलाका की निर्भयता रूप व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। इस निर्भयता रूप व्यंग्यार्थ द्वारा स्थान की निर्जनता (एकान्त) होने रूप दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। इस निर्जनता रूप व्यंग्यार्थ द्वारा रति के अनुकूल स्थान होना तीसरा व्यंग्य है। और इस अनुकूल स्थान रूप व्यंग्यार्थ द्वारा प्रतिबन्ध रहित विलास रूप चौथा व्यंग्य है। और इसके द्वारा रति की अभिलाषा प्रकट किया जाना पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्ध से व्यंग्य की प्रतीति होती है। एक व्यंग्य

---

१ बकपक्षी की मादा।

२ शङ्ख से बनी हुई सीपी के आकार की कटोरी।

की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही सम्बन्ध-सम्बन्धिता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यञ्जना-शक्ति का माना जाना अनिवार्यतः आवश्यक है।

महिम भट्ट के मत का खण्डन

महिम भट्ट व्यञ्जना और ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन पर 'व्यक्तिविवेक'-नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यञ्जनावृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यञ्जना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नही है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिङ्ग को—अनुमान किए जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिङ्गी उसे कहते हैं जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाता है। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन (हेतु) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान मे व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि भी अवश्य है। और यह व्याप्ति-सम्बन्ध ही अनुमान है।

महिम भट्ट कहते हैं कि जिसे तुम व्यञ्जक कहते हो—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होना बतलाते हो—वह अनुमान का साधन (हेतु) है। अर्थात् जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी

प्रकार तुम्हारे माने हुए व्यञ्जक शब्द वा अर्थ का, जिसे तुम व्यंग्यार्थ मानते हो, अनुमान हो जाता है।

अपने मत की पुष्टि में महिम भट्ट ने ऐसे अनेक पद्य, जिनको ध्वनिकार ने ध्वनि के उदाहरणों में दिखाए हैं, उद्धृत करके उनमे 'अनुमान' होना सिद्ध किया है। जैसे—

अहो भगत निधरक विचर वह न स्वान इत आज,
हत्यो ताहि, जो रहत इहिँ सरिता-तट मृगराज ॥३२५॥

यह पद्य किसी कुलटा स्त्री द्वारा उस भक्त के प्रति कहा हुआ है जो उस कुलटा के एकान्त स्थल मे पुष्प लेने के लिये प्रतिदिन आया करता था[1]। ध्वनिकार ने कहा है—'इस पद्य के वाच्यार्थ मे कुत्ते से डरनेवाले उस भक्त को, सिंह द्वारा कुत्ते का मारा जाना कहकर निश्शङ्क आने के लिये कुलटा कह रही है। किन्तु व्यग्यार्थ मे उस कुलटा ने उसे, सिह का भय दिखाकर, आने का निषेध किया है। क्योंकि जो व्यक्ति कुत्ते से भयभीत होता है, वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की वात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यग्यार्थ है'।

महिम भट्ट का कहना है—'जिस वाच्यार्थ मे निश्शङ्क आने के लिये कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन (हेतु) है; अर्थात् जिसको व्यग्यार्थ बताया जाता है, वह व्यञ्जना का व्यापार नहीं है, किन्तु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे अग्नि का अनुमान करने के लिए धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना वहाँ आने के निषेध का हेतु है'। इसी प्रकार के तर्कों द्वारा उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन किया है।

---

१ देखो, पृष्ठ ११२।

आचार्य मम्मट ने इन तर्कों का बड़ी सार-गर्भित युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। श्रीमम्मट कहते हैं—"सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकान्तिक है—निश्चयात्मक नहीं है। अनुमान वहीं हो सकता है जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे अग्नि का अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित है। यदि धुएँ के अस्तित्व में ही संशय है तो अग्नि का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है। क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भय वाले स्थान पर जाना हो सकता है। अतएव यहाँ हेतु नहीं—हेतु का आभास है। फिर वहाँ पर सिंह का होना, न तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, और न अनुमान-सिद्ध ही है। सिंह को बतलानेवाली एक कुलटा है, जिसका कथन आप्त-वाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं हो सकता है, प्रत्युत ऐसी स्त्रियों का झूठ बोलना तो स्वभाव-सिद्ध है। अतएव वहाँ सिंह है या नहीं? यह भी सन्देहास्पद है। इस प्रकार व्याप्ति-सम्बन्ध, जिसका होना अनुमान के लिये परमावश्यक है सन्दिग्ध है। ऐसी अवस्था में अनुमान सिद्ध नहीं होता है। महिम भट्ट के सभी आक्षेपों का इसी प्रकार समुचित उत्तर देकर मम्मटाचार्य ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि व्यञ्जना का माना जाना आवश्यक है, और उसका व्यंग्यार्थ, अनुमान का विषय किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है।

यहाँ तक काव्य के प्रथम भेद 'ध्वनि' का निरूपण किया गया है। अब काव्य के दूसरे भेद गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण किया जायगा।
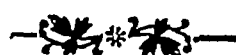
पञ्चम स्तवक

गुणीभूतव्यंग्य

वाच्यार्थ से गौण व्यंग्यार्थ को 'गुणीभूतव्यंग्य' कहते हैं।

'गौण' का अर्थ है अप्रधान, और 'गुणीभूत' का अर्थ है गौण हो जाना—अप्रधान हो जाना। वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्य का वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना—वाच्यार्थ के समान चमत्कारक होना या वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारक होना।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में यही भेद है कि ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। और गुणीभूतव्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अप्रधान होता है।

गुणीभूतव्यंग्य के प्रधानतः आठ भेद होते हैं। (१) अगूढ, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्यसिध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्ध, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) काक्वाक्षिप्त और (८) असुन्दर।

(१) अगूढ व्यंग्य

जो 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, उसे अगूढ व्यंग्य कहते हैं।

कुछ-कुछ प्रकट होने वाला व्यंग्यार्थ ही चमत्कारक होता है—न कि सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होने वाला। अतः स्पष्ट प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ प्रधान न रहकर, गौण हो जाता है[1]।

लक्षणा-मूलक अगूढ व्यंग्य—

उदाहरण—

पाननि जोरि नतानन ह्वै सरनागत सत्रु किते ढिँग आइकै;
चाहते जाकी कृपा-अवलोकन ठाढ़े सदा मुख-ओर लखाइकै;
सो अब नाँचि रिझावत हौं अरु मेखला की रसरीन बनाइकै;
जीवत हौं न,अहो धिक है जरि जाय ये क्यों न हियो धधकाइकै ॥२२६

विराट् राजा के यहाँ गुप्त रूप में पाण्डवों के रहने के समय, कीचक की नीचता को सुनाती हुई द्रौपदी के प्रति अर्जुन की यह उक्ति है। अर्जुन जीता हुआ ही कह रहा है, 'जीवत हौं न' अतः इस वाक्य के मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'मेरा प्रशंसनीय जीवन नहीं है'

---

१ 'नांध्रीपयोधरइवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तनइवातितरां निगूढः;
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।'

अर्थात् तैलङ्गिनी कामिनी के पयोधरों की भाँति न तो नितान्त प्रकट और गुर्जर रमणी के स्तनों की भाँति न सर्वथा ढका हुआ ही, किन्तु महाराष्ट्र-कामिनी के कुचों की भाँति कुछ खुला और कुछ ढका हुआ व्यंग्यार्थ शोभित होता है। किसी कवि ने यों भी कहा है—
'सर्व ढके सोहत नहीँ उघरैं होत कुवेस;
अरध ढके छवि देत अति कवि-अस्तर कुच केस।'

यह लक्ष्यार्थ है। व्यग्य यह है कि 'इस जीवन से मरना ही अच्छा है'। यह व्यग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है। 'जीवत हौं न' का वाच्यार्थ 'मेरा श्लाघनीय जीवन नहीं' इस अर्थान्तर में सक्रमण करता है। जिस प्रकार लक्षणा-मूला अविवक्षितवाच्य मे अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि होती है, उसी प्रकार यहाँ अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसक्रमित अगूढ गुणीभूत व्यग्य है। इस अगूढ व्यग्य के मूल मे उपादान लक्षणा रहती है।

"औरई कुंद-कली अली देत गुहे बिन पाँत सु जानन लागी;
औरई कोमल विद्रुम-पल्लव ओठनि सों ठनि मानन लागी।
'बेनीप्रवीन' मृनाल बिना दृग औरइ कौँल बखानन लागी,
आवत ही सिखई गुरु जोबन ये उपमा उर आवन लागी।"३२७

यहाँ 'सिखई गुरु-जोबन' का मुख्यार्थ 'यौवन द्वारा शिक्षा देना' है। शिक्षा देने का कार्य चेतन का है, अतः अचेतन यौवन द्वारा शिक्षा का कार्य असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है—मुख्यार्थ सर्वथा छोड दिया जाता है। अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है। 'यौवन के आने से अङ्गों मे स्वतः लावण्य का आ जाना' व्यग्यार्थ है। यह व्यग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट होने के कारण अगूढ है।

गृह-वापिन[1] में अरविंदन के बन ये सजनी ! विकसाने लगे;
चहुँओर मधुव्रत वृंद यहाँ मकरंद-लुभे मँडराने लगे।
तुव आनन की छबि चंदमुखी ! तजि-चंद अबै पियराने लगे;
रवि हू उदयाचल-चुंबि भए लखु री यह कैसे सुहाने लगे।३२८॥

यहाँ सूर्य-बिम्ब द्वारा उदयाद्रि का चुम्बन किया जाना मुख्यार्थ है। प्रभात का हो जाना व्यग्यार्थ है। सूर्य द्वारा चुम्बन असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'उदयाचल के साथ सूर्य की

---

१ घर में बने हुए तालावों में।

रश्मियों का संयोग होना' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है अतः अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य है। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट बोध हो रहा है, अतः अगूढ है। इस अगूढ व्यंग्य में लक्षण-लक्षणा होती है।

"केलि-कला की कलानि कों केलि रची रस रासि सची सुख थाती;
अंगन अंग समोय रही कछु सोइ रही रस आसव-माती।
ऐसे में आय गयो है अचानक कंज-पराग-भरयो[1] उतपाती;
प्रीतम के हिय लागी तऊ उहिँ सीरे समीर जराइ दी छाती।"३२९

यहाँ भी प्रभात होना व्यंग्यार्थ है, किन्तु 'कंज-पराग-भरयो' 'सीरे समीर' के कथन से प्रभात का होना स्पष्ट प्रतीत नहीं होता—उसकी प्रतीति विचार करने पर ही होती है। अतः यहाँ गूढ व्यंग्य है। अगूढ और गूढ व्यंग्य मे यही विशेषता है।

अर्थ-शक्ति-मूलक अगूढ व्यंग्य—

हूआ था फणि-पाश[2]-बन्धन यहाँ, द्रोणाद्रि लाया यहाँ,
तेरे देवर[3] के लिये शशिमुखी! जा मारुती[4] ही वहाँ।
सौमित्री-शर से सुरेन्द्र-जित भी स्वर्गस्थ हूआ यहीं;
कीया था दशकण्ठ का वध यहीं देखो किसी ने कहीं।३३०

विमान पर बैठकर अयोध्या को लौटते समय विजयी श्रीरघुनाथजी की जनकनन्दिनी के प्रति यह उक्ति है। चौथे पाद का वाच्यार्थ है—'रावण का वध किसी ने यहीं कहीं किया था'। इसमें 'हमने किया था' व्यग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है, इसलिये अगूढ है। जिस प्रकार अभिधा-मूला अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि मे वस्तु से

---

१ कमलों की रज से भरा हुआ।
२ नाग-पाश। ३ लक्ष्मणजी के लिये। ४ हनूमानजी।

वस्तु-रूप गूढ़ व्यग्य होता है, उसी प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु-रूप अगूढ व्यंग्य है। 'यहीं देखो किसी ने कहीं' के स्थान पर 'प्रिये! देखो यहीं तो कहीं' कर देने पर 'ध्वनि' हो जाती है। क्योंकि 'प्रिये! देखो यहीं तो कहीं' पद का प्रयोग किया जाने से रावण का वध करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी की गूढ-व्यंग्य द्वारा प्रतीनि होती है।

"द्रोन कहै भृकुटी करि बंक भए सुत कायर मंगल गावैं,
राज-सभा बिच नाहर रूप रु क्रम परे पर स्यार कहावै।
क्यूँ तुमसे नृप पूत दुसासन! गाल बजाइ कै बीरता पावैं;
सात्यकी तें बचे जन्म भयो नयो, सूप बजावै कि थार बजावैं।"३३१

सात्यकी से पराजित दुश्शासन के प्रति द्रोणाचार्य के ये वाक्य हैं। 'सात्यकी से पराजित होकर तुझे सकुशल आया हुआ देखकर हम तेरा नया जन्म हुआ समझते हैं। इस नए जन्म के हर्ष में सूप बजावे या थाली'। यहाँ 'तुझे कन्या समझें या पुरुष?' व्यग्य है यह वाच्य के समान स्पष्ट है। क्योंकि पुत्र-जन्म के समय थाली और कन्या-जन्म के समय सूप बजाने की लोक-प्रसिद्ध प्रथा है।

'अगूढ-व्यग्य' शब्द-शक्ति-मूलक वस्तु रूप और अलङ्कार रूप नहीं हो सकता, और न असलक्ष्यक्रम ही हो सकता है, क्योंकि शब्द-शक्ति-मूलक व्यग्य की प्रतीति सहसा नहीं हो सकती है, वह गूढ व्यग्य ही होता है। असलक्ष्यक्रम में भी विभावादिकों के द्वारा 'व्यग्य' की विलम्ब से प्रतीति होती है, वहाँ भी व्यग्य 'गूढ' ही होता है।

(२) अपराङ्ग व्यंग्य

जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग हो जाता है, उसे अपराङ्ग व्यंग्य कहते हैं।

अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रस, भाव आदि) या संलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रस, भाव आदि) के या संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अथवा वाच्यार्थ के अङ्ग हो जाते हैं, वहाँ उन्हें अपराङ्ग व्यंग्य कहते हैं।

यहाँ 'अङ्ग' से उस प्रकार के अङ्गो से तात्पर्य नहीं है, जैसे शरीर के अङ्ग हाथ-पैर आदि हैं और कपडे का अङ्ग सूत। यहाँ 'अङ्ग कहने का तात्पर्य हैं 'अपने सयोग से अङ्गी को उद्दीपन करना'।

ध्वनि प्रकरण में असलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रस,भाव आदि) को ध्वनि के भेद कह आए हैं, क्योंकि वहाँ ये प्रधान व्यंग्य होकर ध्वनित होते हैं। अर्थात् अलङ्कार्य रूप (दूसरे से शोभायमान होने वाले) होते हैं। इस लिये वहाँ इनकी ध्वनि सज्ञा है। यहाँ इनको गुणीभूतव्यंग्य बताने का कारण यह है कि यहाँ ये अपराङ्ग (दूसरे के अङ्ग) होने के कारण गौण (अप्रधान) होते हैं। अर्थात् यहाँ यह प्रधान न रहकर केवल अलङ्कार रूप (दूसरे को शोभित करनेवाले) रहने से गुणीभूतव्यंग्य कहे जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों को जो रस के अङ्ग और शोभाकारक हैं, वे अलङ्कार क्यों नहीं माने जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार हाथ-पैर आदि शरीर के अवयव हैं और शरीर की शोभा भी करते हैं, पर ये अलङ्कार नहीं कहे जाते, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव यद्यपि रस के अवयव हैं—उनसे रस की सिद्धि होती है—पर वे अलङ्कार नहीं कहे जाते।

रस में रस की अपराङ्गता—

जहाँ किसी दूसरे रस का अथवा भाव, रसाभास, भावाभास आदि

का रस अङ्ग (अपराङ्ग) हो जाता है, वहाँ (रस का सम्बन्धी हो जाने के कारण) 'रसवत्' अलङ्कार कहा जाता है।

यहाँ 'रस' का अपराङ्ग होना कहा गया है, किन्तु रस किसी दूसरे का अङ्ग नहीं हो सकता है। अतः जहाँ कोई रस अपराङ्ग हो जाता है, वहाँ उस रस के स्थायी भाव को ही समझना चाहिये।

उदाहरण—

उरु-जघनन सपरस करन, कुचन विमर्दनहार ;
हा ! यह प्रिय-कर है वही !, नीवो खोलनवार।३३२॥

महाभारत युद्ध मे भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को अपने हाथ में लेकर यह उसकी स्त्री का कारुणिक क्रन्दन है। 'यह' पद हाथ की वर्तमान दशा को सूचित करता है। और 'वही' पद पहले की सजीव अवस्था की उत्कृष्ट दशा का स्मरण कराता है। अर्थात् इस समय यह हाथ अनाथ की भाँति रण-भूमि की मिट्टी से मलिन है। इसको खाने के लिये गिद्ध दृष्टि डाल रहे हैं। यह वही हाथ है, जो पहले शत्रुओं का गर्व चूर्ण करने मे समर्थ था, शरणागतो को अभय देने वाला था और काम के रहस्यों का मर्मज्ञ था। यहाँ स्मरण किया गया शृङ्गार-रस, करुण-रस को पुष्ट कर रहा है, अतः शृङ्गार-रस, करुण रस का अङ्ग हो जाने से अपराङ्ग शृङ्गार रस है। यहाँ असलक्ष्यक्रम का असलक्ष्यक्रम व्यग्य अङ्ग है।[1]

---

1 'उरुजघनन सपरसकरन' उदाहरण मे यह शङ्का हो सकती है कि जब यहाँ प्रकरणगत अपने मृतक पति के शोक में उसकी पत्नी का क्रन्दन होने के कारण करुण-रस की प्रधानता संभव है, तब इसे ध्वनि न मानकर गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा तो प्रायः कोई भी विषय नहीं, जहाँ ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य मे एक के साथ दूसरे का संकर या संसृष्टि रूप से मिलाव न रहता हो।

भाव में रस की अपराङ्गता—

इच्छा मेरे न धन-जन या काम-भोगादिको की,
होते हैं ये सुखद न सदा कर्म-आधीन जो कि।
है तेरे से सविनय यही प्रार्थना मातु ! मेरी,
गङ्गे ! पादाम्बुज-युगल की दीजिए भक्ति तेरी।३३३॥

पहले दोनो चरणो में वैराग्य का वर्णन होने से शान्त रस की व्यञ्जना है। उतरार्द्ध में श्रीगङ्गाजी के विषय मे जो देव-विषयक रति—भक्ति-भाव—की व्यञ्जना है उसको शान्त रस की व्यञ्जना पुष्ट कर रही है। इसलिये यहाॅ शान्त रस, देव-विषयक रति-भाव का अङ्ग हो गया है। यहाॅ भाव में रस की अपराङ्गता है।

भाव में भाव की अपराङ्गता—

जब एक भाव किसी दूसरे भाव का अङ्ग हो जाता है तब उसे, अत्यन्त प्रिय हो जाने के कारण, 'प्रेयस्' अलङ्कार कहते हैं।

जाते ऊपर को अहो! उतर के नीचे जहाॅ से कृती,
है पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।
स्वर्गारोहण के सदैव इनके हैं मार्ग कैसे नए,
देखो! भू गिरती हुई सगरजो को स्वर्गगामी किए!३३४॥

अर्थात् ध्वनि में गुणीभूतव्यंग्य का और गुणीभूतव्यंग्य में ध्वनि का मिश्रण प्रायः रहता ही है। किन्तु जहाॅ जिसकी प्रधानता होती है—जिसमें अधिक चमत्कार होता है, उसी के नाम से व्यवहार हुआ करता है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अतएव उक्त उदाहरण में करुणरस की अपेक्षा श्रृङ्गार रस की गौणता, में ही अधिक चमत्कार है। इसलिये यहाँ करुण-रस न मान कर श्रृङ्गार-रस की गौणता के कारण गुणीभूतव्यंग्य माना गया है।

यहाँ स्वर्ग-मार्ग की विचित्रता का जो वर्णन किया गया है, उसमें 'विस्मय' भाव है। वह गङ्गा-विषयक रति-भाव का अङ्ग है, अतः यहाँ एक भाव दूसरे भाव का अङ्ग है।

रुधिर-लिप्त-वसना सिथिल खुले केस दुति-हीन ;
रजवति युवति समान नृप ! तू रिपु-सेना कीन्ह ।३३५॥

यहाँ रजस्वला की अवस्था के वर्णन मे ग्लानि-भाव की व्यञ्जना है। यह, शत्रु सेना की तादृश अवस्था मे जो ग्लानि एवं त्रास भाव की व्यञ्जना है, उसका अङ्ग है। क्योंकि रजस्वला की उपमा से, शत्रु-सेना में जो ग्लानि और त्रास की व्यञ्जना होती है, उसकी पुष्टि होती है। इनके द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष ध्वनित होता है। और ये ग्लानि एवं त्रास-भाव दोनो राज-विषयक रति-भाव के अङ्ग हैं।

रसाभास की अपराङ्गता—

इसे उर्जस्वी अलङ्कार कहते हैं।

लखि बन फिरत सुछंद नृप ! तुव रिपु-रमनीन सों ;
करतु विलास पुलिंद तजि निज-प्रिय-बनितान कों ।३३६॥

यहाँ उभय-निष्ठ रति नहीं है। राजा की रिपु-रमणियों का प्रेम भीलों में नहीं है, केवल भीलों का (पुलिंदो का) ही प्रेम उन रमणियो में है। भीलो का प्रेम राज-रमणियों में होना अनुचित है, अतः रसाभास है। यह रसाभास कवि की राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है, क्योंकि इस वर्णन से राजा की प्रशसा का उत्कर्ष होता है इसलिये भाव का रसाभास अङ्ग है।

भावाभास की अपराङ्गता—

इसे भी उर्जस्वी अलङ्कार कहते हैं।

सफल जनम निज हम गिन्यो रन तुव दरसन पाय ;
यों अरि नृप हू कहत तुहि जस फैल्यो भुवि माँय ।३३७॥

विजयी राजा की शत्रुओं द्वारा प्रशंसा की जाने में जो राज-विषयक रति-भाव है वह भावाभास है। क्योंकि विजित शत्रु-द्वारा की गई विजयी राजा की चाटुकारी मे प्रशंसा का आभास मात्र है। यह भावाभास कवि द्वारा की हुई राजा की प्रशंसा का उत्कर्षक है, अतः यहाँ भावाभास राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है।

"भौन भरे सिगरे ब्रज सौंह सराहत तेरेई सील सुभाइन ;
छाती सिरात सुने सबकी चहुँ ओर ते चोप चढ़ी चितचाइन।
एरी बलाइ ल्यौं मेरी भटू ! सुनि तेरी हौं चेरी परौं इन पाइन ;
सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति तो मुख देखि सखी सुखदाइन।"३३८॥

'सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति' मे भावाभास है—नायिका विषयक सपत्नी का रति-भाव आभासमात्र है। सखी द्वारा नायिका के शील की जो प्रशंसा की गई है, वह सखी का नायिका विषयक रति-भाव है। इस रति-भाव का उक्त भावाभास अङ्ग है, क्योंकि इसके द्वारा नायिका के शील का उत्कर्ष सूचित होता है।

भाव-शान्ति की अपराङ्गता—

इसे 'समाहित' अलङ्कार कहते हैं।

गरजन अति तरजन करत रहे जु असिन घुमाइ ;
लखि तुहि रन में अरिन को मद वह गयो बिलाइ ।३३९॥

यहाँ गर्व-भाव की शान्ति है। यह भाव-शान्ति राजा के महत्व की उत्कर्षक है, अतः राजविषयक रति-भाव का अङ्ग है। यहाँ 'मद' का अर्थ गर्व नहीं है—तलवार घुमाना आदि है अतः 'मद' शब्द से गर्व-सञ्चारी का शब्द द्वारा कथन नहीं समझना चाहिए।

"तेरे वैरि-भूपति अनूप रति-मन्दिर में;
सुन्दरनि संग लै अनंग रस लीने है।
भनै 'उजियारे' विपरीत यह चोर माँह;
भारे भए दया भूप कौतुक नवीने हैं।
बैनी मृगनैनी की परी है कंठ आइ ताहि;
तेरो तेग सुमरि सुभाइ चित चीने हैं।
छाँड़ि परजंक तैं मयंक-मुखी अंक तैं जु,
भाजत ससंक तैं अतंक भय-भीने है।"३४०॥

यहाँ रति-भाव की शान्ति है। यह राजा के महत्त्व की उत्कर्षक है। अतः वह राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है।

भावोदय की अपराङ्गता—

इसे 'भावोदय' अलङ्कार कहते हैं।

"बाजि गजराज सिवराज सेन साजत ही,
दिल्ली दलगीर दसा दीरघ दुखन की;
तनिया न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,
घामैं घुमरात छोडि सेजियाँ सुखन की।
'भूषन' भनत पति-बाँह बहियाँ न तेऊ,
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की;
बालियाँ विथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर[1],
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।"३४१॥

---

१ अलि (भौंरे) जैसे कमलों पर मडराते हैं, उसी प्रकार कानों की बालियाँ मुख पर गिर रही हैं।

यहाँ शिवाजी की सेना के सुसज्ज होने पर यवन-रमणियों में त्रास-भाव का उदय ध्वनित होता है। यह भावोदय कविराज भूषण द्वारा की हुई शिवाजी की स्तुति का पोषक है, अतः राजविषयक रति-भाव का अङ्ग है।

भाव-सन्धि की अपराङ्गता—

इसे 'भाव-सन्धि' अलङ्कार कहते हैं।

इत जात सहे न अहो! लखिके मृदुगात महातप-ताप तए;
गिरजा-मुख की प्रिय बातन हू सों अघात न है अति भात हिए।
छल-वेष-हटावन कों जो त्वरा अरु सैथिल्य सों अभियुक्त भए;
वह शंकर या निज किंकर के हरिए भव-दुःख भयंकर ए॥२४२॥

यह श्रीमहादेवजी की स्तुति है। "कठोर तप के कारण पार्वतीजी के अङ्गो को क्षीण होते हुए देखकर उन्हे वर देने के लिये अपना कपट-वेष छोड़ने की जिन्हे जल्दी लगी हुई है। पार्वतीजी के साथ श्रीशङ्कर की (ब्रह्मचारी के कपट-वेष मे) जो बाते हो रही हैं, उस आनन्द को भी वे छोड़ना नहीं चाहते हैं। और इसलिये उस कपट-वेष को छोड़ने को भी जिनका मन नहीं मानता है। ऐसी अवस्था मे फँसे हुए त्वरा और शैथिल्य भावों से अभियुक्त श्रीशङ्कर मुझ किङ्कर के सासारिक दुःखों को हरण करे।" यहाँ 'त्वरा' मे आवेग और 'शैथिल्य' में धृति इन दोनो भावों की जो सन्धि है वह श्रीशङ्कर-विषयक रति (भक्ति) भाव का अङ्ग है। यद्यपि आवेग और धैर्य परस्पर विरोधी हैं, किन्तु यहाँ समान बल होने से एक से दूसरे का उपमर्दन नही है।

भाव-शबलता की अपराङ्गता—

इसे 'भाव-शबलता' अलङ्कार कहते हैं।

पट देहु लला! करि जोरि कहैं बरजोरी भला न इती पकरो;
हम जाय पुकारहिंगी नृपसों बढ़ि जाइगो नाहक ही झगरो।

लखि लोग कहा कहि हैं ? समुझो ! ब्रज-गौरिनसों न अनीति करो ,
हँसि- तीर बुलायके चीर दिए यदुबीर वही भव-भीर हरो ॥३४२

यहाँ 'करजोरि कहैं' में दीनता, 'बरजोरी' मे असूया, 'जाय पुकारहिंगी' मे गर्व, 'बढि जाइगो झगरो' में स्मृति, 'लखि लोग' में व्रीड़ा, 'कहा कहिहैं' में वितर्क, और 'अनीति न करो' में विबोध भाव है। इन सब भावों का एक साथ प्रतीत होना भाव-शबलता है यहाँ यह भाव-शबलता श्रीकृष्ण-विषयक रति-भाव का अङ्ग है। अतः यहाँ भाव शबलता अपराङ्ग है।

अपराङ्ग व्यग्य मे असलक्ष्यक्रम व्यग्य (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव शबलता) के अपराङ्ग होने के जो भेद ऊपर दिखाये गये है, उनके नाम रसवत्, प्रेयस् आदि अलङ्कार बतलाये गये है। कुछ ग्रथों में इनको अलङ्कार प्रकरण में अलङ्कारों के अन्तर्गत लिखे गये हैं। किन्तु ये गौण व्यग्यात्मक होने के कारण वास्तव में गुणीभूतव्यग्य ही है। अलङ्कार तो वाच्यार्थ रूप होते हैं, न कि व्यंग्यार्थ। अलङ्कारता तो इनमें नाम मात्र है। अर्थात् अलङ्कारों का धर्म इनमें केवल यही है कि जिस प्रकार अलङ्कार दूसरे को (शब्दार्थ को) शोभित करते हैं, उसी प्रकार ये भी अपराङ्ग होकर दूसरे को (रस भावादि को) शोभित करते हैं। इसलिये काव्यप्रकाश में इन्हें गुणीभूतव्यग्य के अन्तर्गत ही लिखे गये हैं।

वाच्यार्थ में शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम की अपराङ्गता—

कीन्हों मैं भ्रमन जन थानन त्यों कानन में,
कनक-मृग-तृष्णा सों मति को भ्रमाई है,
बोल्यो बार-बार मुख वैदेही पुकार तेती—
बारि धार आँखन सों अश्रु की ढराई है।

कान लगे ताने ताकलंक भरता के बान,
धीरज न छाँड़ि सारी घटना घटाई है;
पाई है अवस्य अविरामता सों रामता कों,
जानकी हू आई पै न हाथ कहाँ पाई है[1] ॥३४४॥

निराशा को प्राप्त होकर किसी राज-सेवक की यह उक्ति है। मैंने रामता—श्रीरामचन्द्रजी की समानता तो अवश्य प्राप्त कर ली, उन्होंने जो-जो कार्य किये थे वे सभी कार्य मैंने भी किये किन्तु वे तो जानकीजी के मिल जाने से कृतकार्य हो गये थे पर मेरे हाथ कुछ न आया। इस पद्य के शब्द-शक्ति द्वारा दो अर्थ होते हैं। ऊपर के तीनो पादों मे भगवान् रामचन्द्र के कार्यों की श्लिष्ट पदों द्वारा वक्ता ने अपने में समानता दिखाई है। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी ने कनक-मृग की तृष्णा से जनस्थान नाम के कानन (वन) मे भ्रमण किया था, मैं भी जन अर्थात् लोगों के स्थानो में और जङ्गलो मे कनक (सुवर्ण) की अर्थात् धन की मृग-तृष्णा से भटकता फिरा। उन्होंने वैदेही का (सीताजी का) नाम कह-कहकर आँखो से अश्रुपात छुटाए थे, मैंने भी वै-देही अर्थात् 'ज़रूर दो', 'कुछ तो ज़रूर दो' इस प्रकार कह-कहकर दुःख के आँसू बार-बार बहाए। उन्होने लङ्का के भर्ता (स्वामी) रावण के ऊपर कान तक तानकर बाण चलाए थे, और धैर्य से बहुत-सी युद्ध की रचना रची थी, मैंने भी भर्ता के ताने अर्थात् वचनों के बाण सुने, जो मेरे लिये कलङ्क रूप थे। मै ये घटनाएँ धैर्य से सहता रहा, किन्तु जिसके लिये उन्होंने ये कार्य किये थे, वह जानकी उनको तो मिल गई, पर हाय! मैं यों ही रहा, प्राणो तक की नौबत आगई, पर पाई भी कहीं हाथ न आई।

---

[1] जिस 'जनस्थाने भ्रान्तं.....' पद्य का यह अनुवाद है, वह भट्ट वाचस्पति के नाम से कविकण्ठाभरण में है।

यहाँ 'जनथानन' इत्यादि शब्दों के दो अर्थ होने के कारण श्रीरामचन्द्र का सादृश्य (उपमा) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन ध्वनि द्वारा वक्ता में प्रतीत होता है, इसलिये यहाँ प्रधान व्यंग्य हो सकता था। किन्तु शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से प्रतीत होनेवाला यह सादृश्य चौथे पाद के 'रामता पाई' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया है, अतः यह वाच्य हो गया है—छिपा हुआ व्यंग्य नहीं रहा है। अर्थात् ऊपरवाले तीनो पादों में जो व्यंग्यार्थ द्वारा दूसरे अर्थ प्रतीत होते हैं वे वाच्यार्थ के पोषक हो गए हैं, अतः वाच्यार्थ का अङ्ग हो जाने के कारण वह व्यंग्यार्थ प्रधानता से गिरकर गुणीभूतव्यंग्य हो गया है। यह शब्द-शक्ति-मूलक इसलिये है कि 'जनथान', 'कनक-मृग-तृष्णा' और 'वैदेही', आदि पदों के स्थान पर इसी अर्थ के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता है। 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अनुरणन' इसलिये है कि श्रीरामचन्द्र-विषयक जो वाच्यार्थ है उसके पश्चात् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। यहाँ शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन रूप जो श्रीरामचन्द्र का उपमान भाव और वक्ता का उपमेय भाव अर्थात् व्यंग्य उपमा है, वह व्यंग्य 'रामता पाई' इस वाच्य का अङ्ग होने से अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य है, न कि वाच्यसिद्ध्यङ्ग। क्योंकि 'रामता पाई' इस वाच्यार्थ की सिद्धि 'जनथान-भ्रमण' आदि विशेषण रूप वाच्यार्थ से ही हो जाती है—उसके लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। 'वाच्य सिद्ध्यङ्ग' में तो व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती। यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग के उदाहरणों में आगे स्पष्ट किया जायगा।

अर्थ-शक्ति मूलक संलक्ष्यक्रम का वाच्य के अङ्गभूत होना—

> **बिरह-बिकल नलिनी निकट आय, अनत रहि रात।**
> **पाद-पतन सों जतन करि अब रवि इहिँ विकसात ॥२४१॥**

अनुनय के बिना ही मान छोड़ देने वाली नायिका से सखी की यह उक्ति है। हे सखि! देख सारी रात अन्यत्र रहकर, प्रभात में विरह-

व्याकुल कमलिनी के निकट आकर, सूर्य अब पाद-पतन से—पैरों में गिरकर या श्लेषार्थ से अपनी किरणों द्वारा इसे विकसित कर रहे हैं मना रहे हैं।

यहाँ सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से नायक और नायिका का जो वृत्तान्त प्रतीत होता है, वह अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ है। कवि ने यह वर्णन सूर्य-कमलिनी का किया है, पर इसके द्वारा नायक और नायिका के शृङ्गार-रस का भी आस्वादन होता है; अतएव यहाँ इस व्यंग्यार्थ से उक्त वाच्यार्थ का उत्कर्ष होता है। शब्द बदल देने पर भी इस व्यंग्यार्थ की (नायक-नायिका के वृत्तान्त की) प्रतीति हो सकती है, इसलिये अर्थ-शक्ति-मूलक है। यह सूर्य-कमलिनी का वृत्तान्त जो वाच्यार्थ है, वह प्राकरणिक है। इस वाच्यार्थ द्वारा प्रसिद्धि वश जो अन्यासक्त नायक और नायिका का वृत्तान्त समान व्यवहार से प्रतीत होता है, वह व्यंग्यार्थ अप्राकरणिक है, और उस (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता नही है—केवल वाच्यार्थ में आरोपित होकर वह वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ा देता है। इसलिये व्यग्यार्थ यहाँ वाचयार्थ का अङ्ग है, अर्थात् अपराङ्ग-गुणीभूत व्यंग्य है। यहाँ भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रथम ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः वाच्यसिद्धयङ्ग नहीं है। 'समासोक्ति' अलङ्कार मे यही अपराङ्ग-गुणीभूतव्यंग्य होता है, क्योंकि समासोक्ति मे वाच्य अर्थ की प्रधानता रहती है। अपराङ्ग व्यंग्य में अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतएव इसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार का विषय न समझना चाहिये।

(३) वाच्यसिद्धयङ्ग व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करनेवाला होता है, उसे वाच्यसिद्धयङ्ग कहते हैं।

जलद-भुजग-विष विषम अति बिरहिन दुखद अपार,
अरति अलस चित-भरम हू करतु मरन तन-छार ।३४६॥

अर्थात् मेघ-रूप भुजङ्ग (सर्प) का विष अर्थात् जल[1] अत्यन्त विषम है। वह वियोगियों को विषयों से विरक्त करनेवाला एवं उनके आलस्य, चित्त-भ्रम और मरण का कारण है—शरीर को जला देता है। यहाँ मेघ को सर्प कहा है। यह अर्थ तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक विष अर्थात् जल में विष (जहर) की व्यञ्जना नहीं होती है। विष का अर्थ जल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है, और व्यञ्जना द्वारा विष का व्यंग्यार्थ जहर प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है अर्थात् यहाँ व्यंग्यार्थ ही वाच्यार्थ को सिद्ध करता है।

"करत प्रकास सु दिसिन कों रही ज्योति अति जागि;
है प्रताप तेरो नृपति! बैरी-बंस-दवागि।"३४७॥

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है। 'हे राजन्! सारी दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला तेरा प्रदीप्त यश शत्रुओं के वंश के लिये दावानल है'। यहाँ प्रताप को दावानल कहा गया है। जङ्गल में लगनेवाली अग्नि को दावानल कहते हैं, अतएव जब तक जङ्गल की तरह जलनेवाली कोई वस्तु न कही जाय, तब तक प्रताप को दावानल कहना सिद्ध नहीं हो सकता है। 'वंस' पद बाँस और कुल दोनो का वाचक है। उसका अर्थ 'बैरी' शब्द की समीपता के कारण कुल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है। तदनन्तर व्यंग्य से शत्रु-कुल में बाँस के जङ्गल की प्रतीति होती है, और इसके द्वारा प्रताप को दावानल कहना सिद्ध हो जाता है, अतः यह वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य है।

अपराङ्ग व्यंग्य और वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य मे यह भेद है कि 'अपराङ्ग-व्यंग्य' में व्यंग्य द्वारा वाच्यार्थ को सिद्ध करने की

---

१ विष का अर्थ जल भी है।

अपेक्षा नहीं रहती है—वहाँ व्यंग्य, वाच्यार्थ का केवल उत्कर्षक होता है। किन्तु वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग में वाच्यार्थ की सिद्धि करने के लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है।

(४) अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ स्फुट[1] रूप से प्रतीत होता हो उसे अस्फुट व्यंग्य कहते हैं।

अन देखे देखन चहैं देखें बिछुरन भीत;
देखे बिन, देखेहु पै तुमसों सुख नहिं मीत।२४८॥

मित्र के प्रति किसी की उक्ति है—'जब आप नहीं दीखते हैं—दूर रहते हैं—तब तो आपको देखने की उत्कट इच्छा बनी रहती है, इसलिये सुख नहीं मिलता। जब आप दृष्टिगत रहते हैं—समीप रहते हैं—तब पुनः वियोग होने का भय रहता है। अतएव न तो आपको बिना देखे ही सुख है, और न देखने पर ही'। यहाँ 'आप सदैव समीप ही रहिए' यह व्यग्य है, किन्तु इसकी प्रतीति बडी कठिनता से होती है। अतः अस्फुट है।

"साजि सिँगार हुलास विलास अवास तें पीतम-वास पधारी;
देह की दीपति ऐसी लसै जिहिँ देखत दामिनि कोटिक बारी।
आगे ह्वै जाइकै आदर कै कर पै कर राखि लै आए मुरारी;
भैचकी हेरि हँसी बिलखी तिय भीतर भौन भयो रँग भारी।"२४९॥

यहाँ 'भैचक' और 'बिलखने' में क्या व्यंय है, सो स्फुट प्रतीत नहीं होता है। बहुत कठिनता से हर्ष के कारण 'किलकिञ्चित्' भाव सूचित् होता है, अतः अस्फुट है।

---

१ अच्छी तरह।

(५) सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ ऐसा निर्णय न हो सके कि वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है या व्यंग्यार्थ में ? वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है।

ऊगत ही ससि उदधि ज्यों कछुइक धीरज छोर ;
त्रिनयन तब निरखन लगे उमा-वदन की ओर ।२५०॥

कामदेव द्वारा वसन्त ऋतु का आविर्भाव किया जाने पर पार्वतीजी के सम्मुख श्रीशिवजी की जो अवस्था हुई, उसका यह वर्णन है। 'श्रीशिवजी का पार्वती के सम्मुख देखना' वाच्यार्थ है और 'अन्य अभिलाषाएँ' व्यंग्यार्थ हैं। इन दोनो ही अर्थों में समान चमत्कार है। यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता है या वाच्यार्थ की ? यह सन्देह-जनक है ; इसलिये सन्दिग्धप्राधान्य व्यग्य है।

(६) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान होता है, उसे तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

विप्रन को अपराध नहिँ करिबो ही कल्यानु ;
परसुराम है मित्र पै दुर्मन ह्वैहि हैं जानु ।२५१॥

राक्षसों के उपद्रवों से क्रोधित परशुरामजी का रावण के पास भेजा हुआ यह सन्देश है। 'ब्राह्मणों का अपराध (तिरस्कार) नहीं करने में ही तुम लोगो का कल्याण है। मैं परशुराम तुम्हारा मित्र हूँ, किन्तु यदि तुम ब्राह्मणों पर आक्रमण करोगे तो हम दुर्मन हो जायँगे' यह वाच्यार्थ है। व्यग्य यह है कि 'मैं यदि तुम लोगों पर बिगड़

जाऊँगा तो सारे राक्षस-कुल का सर्वनाश समझना'। यहाँ व्यंग्य और वाच्यार्थ दोनो प्रधान हैं—दोनो मे समान चमत्कार है। अतः तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य है।

(७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

'काकु' द्वारा आक्षिप्त[1] व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है।

'काकु' एक प्रकार की कण्ठ की ध्वनि होती है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दो का अर्थ वक्ता के कहने के साथ ही वाच्यार्थ के विपरीत अर्थ में बदल जाता है। यह व्यंग्य गौण इसलिये है कि सहज ही मे तत्काल जान लिया जाता है।

"जो हरि कों तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई,
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई विभिचारिनि कामिनि कोई।
'सुन्दर' ताहि न आदर जान फिरै विमुखी अपनी पति खोई;
बूड़ मरै किन कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई?"३४२

'कहा जग जीवत है सठ सोई?' यह काकु-उक्ति है। इसके कहने के साथ ही 'वह जीता नहीं है' (जीता हुआ ही मरा है) यह व्यग्यार्थ, जो वाच्यार्थ से विपरीत है, प्रतीत होने लगता है।

अंध-सुत कौरवन सारे सत बंधुन कौं,
ह्वै कै क्रुद्ध-मत्त कहा युद्ध में पछारौं ना?
करिकै कबंध ताहि रंध्रसौं जु पीवे काज,
दुःसासन उर हू सों रक्त कौं निकारौं ना।
मारौं ना सुयोधन हू बिदारौं ना ऊरू कहा?
मेरी वा प्रतिज्ञा हू की अवज्ञा विचारौं ना?

---

१ काकु उक्ति द्वारा खिंचकर आया हुआ।

करौ क्यों न संध पाँच ग्रामन प्रबंध रूप,
भूप वो तिहारो है न चारो हौं निबारौं ना ?३५३॥

कौरवों से पाँच गाँव लेकर सन्धि करने की बात सुनकर सहदेव के प्रति कुपित भीमसेन की यह उक्ति है। वाच्यार्थ मे कौरवों को न मारने के लिये और सन्धि करने के लिये कहा गया है। किन्तु जिस भीमसेन ने दुर्योधनादि एक सौ कौरव भ्राताओं को मारने की, दुश्शासन के रुधिर पीने की और दुर्योधन की उरू भङ्ग करने की प्रतिज्ञा की थी उसके द्वारा यह कथन सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ क्रोध के आवेश में कण्ठ की एक विशेष ध्वनि द्वारा, कहे हुए 'क्या मैं कौरव-बन्धुओं को न मारूँ' इत्यादि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ तत्काल यह व्यंग्यार्थ आक्षिप्त हो आता है कि 'मैं कौरव-बन्धुओं को अवश्य मारूँगा' इत्यादि। अतः यह काकाक्षिप्त व्यग्य है।

ध्वनि-प्रकरण में पहिले काकु-वैशिष्ठ्य व्यग्य मे 'काकु'-उक्ति के कारण ध्वनित होने वाले व्यग्य को ध्वनि कहा गया है और यहाँ इसे गुणीभूतव्यंग्य माना गया है। बात यह है कि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ, निषेधात्मक व्यग्य तत्काल जान लिया जाता है, और वाक्य पूरा हो जाता है। उसके पश्चात् जहाँ कोई दूसरा व्यग्यार्थ न हो वहाँ गुणीभूतव्यग्य होता है। किन्तु काकु-उक्ति के प्रश्न का व्यग्यार्थ रूप निषेध सूचित हो जाने के पश्चात् भी जहाँ अन्य व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है और जो तत्काल प्रतीत नहीं हो सकती—विलम्ब से काव्य-मर्मज्ञों को ही प्रतीत होती है—वहाँ काकु-वैशिष्ठ्य व्यंग्य होता है। इसका विशेष विवेचन पहिले काकु-वैशिष्ठ्य व्यंग्य में कर चुके हैं[1]।

---

१ देखो पृष्ठ १४।

(८) असुन्दर व्यंग्य

व्यंग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है, उसे असुन्दर व्यंग्य कहते हैं ।

उड़े विहग वन-कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल ;
सिथलित तन विकलित भई गृह-कारज-रत बाल ।३२४॥

'समीप के वन-कुञ्ज में पक्षियों के उड़ने के शब्द सुनकर घर के काम मे लगी हुई नायिका व्याकुल हो गई' । इस वाच्यार्थ में 'सङ्केत किया हुआ प्रेमी कुञ्ज में पहुँच गया और नायिका न जा सकी' यह व्यग्यार्थ है । वाच्यार्थ में पक्षियों के शब्द श्रवण-मात्र से सारे अङ्गो मे शिथिलता और विकलता हो जाने में जैसा चमत्कार है वैसा इस व्यंग्यार्थ में नहीं है, इसलिये असुन्दर व्यंग्य है ।
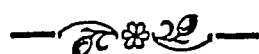
गुणीभूत व्यंग्य के भेदों की संख्या

ध्वनि के जो ५१ शुद्ध भेद होते हैं, उनमें से 'वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य' के निम्न लिखित ६ भेद छोड देने पर शेष जो ४२ भेद रहते हैं वही गुणीभूतव्यंग्य के शुद्ध भेद होते हैं—

३ स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कारव्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत ।

३ कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलङ्कारव्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत ।

३ कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्धवस्तु से अलङ्कार व्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत ।

ये नौ भेद गुणीभूतव्यग्य के नहीं हो सकते। क्योंकि प्रथम तो, वस्तु रूप वाच्यार्थ से वाच्यार्थ का अलङ्कार स्वतः ही अधिक चमत्कारक होता है, क्योंकि अलङ्कार की योजना ही इसलिये की जाती है। दूसरे, व्यंग्य होने पर अलङ्कार का चमत्कार और भी बढ जाता है। अतएव व्यग्य-अलङ्कार गुणीभूत नहीं हो सकता[1]।

गुणीभूत व्यंग्य के उक्त ४२ शुद्ध भेद, अगूढ आदि आठो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के ३३६ शुद्ध भेद होते हैं। ३३६ शुद्ध भेदों के, परस्पर मे एक दूसरे से मिश्रित होने पर, (३३६ से ३३६ गुणन करने पर) १,१२,८९६ भेद होते हैं। ये १,१२,८९६ भेद तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि भेद से (चार के गुणन करने पर) ४,५१,५८४ संकीर्ण (मिश्रित) भेद होते हैं। और इनमे ३३६ शुद्ध भेद जोड देने पर ४,५१,९२० गुणीभूतव्यंग्य के भेद होते हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रित भेद

सजातीय से सजातीय के मिश्रण से अर्थात् ध्वनि से ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य से गुणीभूतव्यग्य और अलङ्कार से अलङ्कार का जिस प्रकार मिश्रण होकर भेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विजातीय के विजातीय से मिश्रण होने से (जैसे ध्वनि से गुणीभूतव्यंग्य एव अलङ्कार के) असख्य मिश्रित भेद हो जाते हैं।

ध्वनि से ध्वनि के सजातीय मिश्रण के अर्थात् ध्वनि की संसृष्टि और सकर के उदाहरण ध्वनि प्रकरण मे दिखाए जा चुके हैं।

---

१ 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ;
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।'
ध्वन्यालोक २। ३२।

ध्वनि के साथ गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण (संकर) का उदाहरण 'उरुजघननसघ्रसकरन' (पृष्ठ ३०५) है। उसमें करुण-रस की प्रधानता को लेकर ध्वनि है, और शृङ्गार-रस की गौणता को लेकर गुणीभूत व्यंग्य है, और इनका अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

ध्वनि के साथ अलङ्कार के मिश्रण का उदाहरण 'करके तल सों जु कपोलन की'...'' (पद्य सं० ३७२) है। उसमें श्लेष, रूपक और व्यतिरेक ये तीनो अलङ्कार विप्रलम्भ-शृङ्गार के अङ्ग होने के कारण असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि और अलङ्कारों का अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

गुणीभूतव्यंग्य के साथ अलङ्कार के मिश्रण का उदाहरण—

"बैठी जहाँ गुरुनारि समाज में गेह के काज मे है बस प्यारी;
देख्यो तहाँ बनते चलि आवत नंदकुमार कुमार बिहारी।
सोन्हैं सखी कर-कंज मे मंजुल मंजरी-बंजुल कुंज चिन्हारी;
चंदमुखी मुखचंद की कांति सौं भोर के चंद-सी मंद निहारी।"३५५

यहाँ 'कुञ्ज में मिलने का सङ्केत करके नायिका का वहाँ न जा सकना' व्यंग्यार्थ है। इस व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है। अतः गुणीभूतव्यंग्य है। नायिका के मुख की म्लानता को प्रभात के चन्द्रमा की जो उपमा दी गई है, उससे उक्त व्यंग्यार्थ की पुष्टि होती है। इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य का उपमा अलङ्कार अङ्ग हो जाने से गुणीभूत-व्यंग्य और अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

इसी प्रकार अन्य मिश्रित भेदों के उदाहरण होते हैं। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का विषय विभाजन

'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' आदि अलङ्कारों मे वाचक शब्द के अभाव में जो उपमा आदि अलङ्कार व्यंग्य रहते हैं, वे गुणीभूतव्यंग्य

होते हैं। वाच्यार्थ-अलङ्कारों मे जो अलङ्कार 'व्यंग्य' रूप होते हैं (अलङ्कारों की ध्वनि निकलती है और जो ध्वनि-प्रकरण में दिखाये जा चुके हैं), वे प्रधानता से ध्वनित होते हैं, और इसलिये उन्हें ध्वनि का भेद माना गया है। किन्तु दीपक, तुल्ययोगिता आदि में जो उपमा आदि व्यग्य होते हैं, वे प्रधानता से ध्वनित नहीं होते। दीपक आदि में उपमा आदि जो व्यंग्यार्थ रहते हैं उनके ज्ञान के विना ही 'दीपक' आदि अलङ्कारों की रचना के चमत्कार मे ही आस्वाद आ जाता है—व्यग्य रूप से रहनेवाले उपमादि तक दूर जाने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। वहाँ कवि का तात्पर्य व्यग्यार्थ मे नहीं होता है। ध्वनिकार[1] का कहना है कि वाच्यार्थ के अलङ्कार मे अन्य अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी जहाँ उस—अन्य अलङ्कार—की प्रतीति में कवि का तात्पर्य नहीं होता वहाँ ध्वनि नहीं होती है[1]।

शब्द द्वारा स्पष्ट कर देने से व्यग्यार्थ की रमणीयता कम हो जाती है अतः जो व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है, वह गुणीभूत हो जाता है। जैसे—

गोपराग-हत दृष्टि सो कछुइ न सकी निहारु;
स्खलित भई हौं नाथ! अब पतितन लेहु उधारु।
पतितन लेहु उधारु? देहु अवलंबन केसव!
सरन आप ही एक खिन्न सब अबलन को अब।
यो सलेस कहि वचन सुखद मृदु सरस राग-भृत;
मुदित किए नँदलाल, बाल दृग-गोपराग-हत।३९६॥

---

१ 'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते,
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्यतः।'
—ध्वन्यालोक २। ३०

श्रीकृष्ण के समीप गई हुई किसी गोपी को दूर खडे हुए श्रीकृष्ण में अन्य गोप का भ्रम हो गया। श्रीकृष्ण के समीप पहुँचने पर उस गोपी की श्रीनन्दनन्दन के प्रति यह उक्ति है—'हे केशव, गो-पराग अर्थात् गौओं के खुरो से उडी हुई धूलि से दृष्टि धुँधली हो जाने से मै स्पष्ट नहीं देख सकी और मार्ग भूल गई हूँ। मुझ भटकती हुई को आप सहारा दीजिए। आप ही दुर्बलों के शरण्य हैं'। इस प्रकार श्लेष से मधुर वाक्य कहकर व्रजाङ्गना ने श्रीनन्दनन्दन को प्रसन्न कर लिया। यह वाच्यार्थ है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि 'मेरी दृष्टि गोप-राग अर्थात् किसी अन्य गोप के राग से हृत (भ्रान्त) हो जाने से मै कुछ देख न सकी—आपको पहचान न सकी—इसलिये मै स्खलित हो गई हूँ—मैने भूल की है—अब आपके चरणों मे गिरी हुई हूँ। आप मुझे स्वीकार करे। खिन्न अबलाओं के (काम-तप्त रमणियों के) आप ही एकमात्र शरण्य हैं'। यह व्यंग्यार्थ 'सलेश' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया है। अतः व्यंग्य की रमणीयता कम हो जाने से वह गुणीभूतव्यंग्य हो गया है। यदि यहाँ 'सलेश' पद न होता तो यह ध्वनि हो सकती थी।

गुणीभूत होकर भी व्यंग्य रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से ध्वनि अवस्था को प्राप्त हो जाता है[1]।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से गुणीभूतव्यंग्य को भी ध्वनि समझा जायगा, तो गुणीभूतव्यंग्य का कोई विषय ही नहीं रहेगा? उत्तर यह है कि ध्वनि या गुणीभूत का निर्णय इनकी प्रधानता पर ही निर्भर है। रसात्मक वर्णन में जहाँ

---

[1] "प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंगयोऽपि ध्वनिरूपताम्;
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।"
—ध्वन्यालोक ३। ४१

व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ उसकी ध्वनि संज्ञा होगी, और जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होगा, वहाँ वह गुणीभूतव्यग्य ही होगा। अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य, इन दोनो मे जहाँ जिसका माना जाना युक्ति-युक्त हो—जिसमें अधिक चमत्कार हो—वहाँ उसी को मानना चाहिए। सर्वत्र ध्वनि नहीं[1]।

देखिये—

फूलन को गजरा गुहि लाल ने प्यारी कों चाह्यो कराइबो धारन ;
टेरत में मुख ते निकस्यो तब भूलिकै सौंति को नाम अकारन।
हास हुलास गयो उडि भामिनि बोलि कछू न कियो जु उचारन ,
लेखन भूमि लगी पद के नख और लगी अँसुवा दृग ढारन।३९७॥

करिबे को सिँगार बिदा के समै हुलसाय हिये सजनी मिलि आई ;
पद-पंकज में महँदी को रचाय सखी इक यों कहिकै मुसकाई।
'पिय सीस की चंदकला छुहिबो करै' आसिष ये है हमारो सदाई ;
मुख ते न कह्यो कछु पै गिरिजा मनि-माल को लै तिहिं ओर चलाई।३९८

तात्पर्य का विचार करने पर इन दोनो पद्यो में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना है। क्योंकि यहाँ पहले पद्य में भाव-शान्ति और दूसरे पद्य में व्रीड़ा, अवहित्था, ईर्ष्या और गर्व-भाव ध्वनित होते हैं, अतः असलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि है। किन्तु 'बोलि कछू न कियो जु उचारन' और 'मुख ते न कह्यो कछु' इन वाक्यों द्वारा भाव-शान्ति और व्रीड़ा आदि व्यंग्यार्थ

---

१ "प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना।"
—ध्वन्यालोक ३। ४०

भाव स्पष्ट हो गए हैं, अतएव उनकी 'ध्वनि' संज्ञा न रह कर अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य प्रधान हो गया है।

इसी प्रकार जहाँ रसादि व्यंग्यार्थ केवल नगरी आदि के वर्णन के अङ्ग हो जाते हैं, वहाँ भी गुणीभूतव्यंग्य ही समझना चाहिए। जैसे—

नीवी ग्रंथी-शिथलित जहाँ चीर बिंबाधरों के—
खैंचे जाते चपल कर से काम-रागी-प्रियों के।
वे भोली ही-विवश, मणि के दीप चाहें बुझाना,
हो जाता है विफल उनका चूर्ण मुष्टी-चलाना।३२१।

यहाँ सम्भोग-शृङ्गार अलकापुरी के वर्णन का अङ्ग है, अतः गुणीभूतव्यंग्य है।

षष्ठ स्तवक

गुण

काव्य का आत्मा रस है। गुण रस के धर्म हैं। अर्थात् गुण रस में रहते हैं। गुण रस के अन्तरङ्ग हैं और अलङ्कार रस के बहिरङ्ग, क्योंकि अलङ्कार रस का धर्म नहीं है। इसलिये अलङ्कारों के पहले गुणों के विषय में विवेचन किया जाना समुचित है।

'गुण' के महत्व के विषय में भगवान् वेदव्यास आज्ञा करते हैं कि गुण-रहित काव्य, अलङ्कार-युक्त होने पर भी, आनन्द-प्रद नहीं होता है। जैसे कामिनी के लालित्य आदि गुण-रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।[1]

गुण का सामान्य लक्षण

जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।

---

1 'अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्,
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।

—अग्निपुराण, ३४६। ९

जैसे शूरता आदि चेतन आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा रस के धर्म हैं। इसीलिये गुण रस के धर्म कहे गये हैं।

'गुण' को रस का उत्कर्षक कहा जाने का कारण यह है कि इसमें दोष का अभाव है। किसी वस्तु का उत्कर्ष तभी हो सकता है जब उसमें कोई दोष नहीं होता है।

'गुण' रस के साथ नित्य रहनेवाले हैं। जहाँ रस की स्थिति होती है, वहाँ गुण, रस का अवश्य उपकार करते हैं। इसलिये रस के साथ गुण की अचलस्थिति कही गई है।

रसयुक्त काव्य मे ही गुण रहते हैं—नीरस काव्य मे नहीं। सुकुमार वर्णोंवाले नीरस काव्य को भी लोग 'मधुर' कह देते हैं, किन्तु ऐसा कहना औपचारिक हैं। जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, किन्तु किसी व्यक्ति में वस्तुतः शूरत्व न रहने पर भी केवल उसके शरीर की स्थूलता देखकर अदूरदर्शी लोग उसे शूरवीर कह देते हैं। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि रस-विवेचन तक नहीं पहुँच सकती है, वे लोग वर्ण-रचना (पद-समूह) की आपात रमणीयता देखकर नीरस काव्य को भी माधुर्य-युक्त काव्य कह देते हैं। आचार्य मम्मट का मत है कि वास्तव में माधुर्य आदि गुण केवल वर्ण-रचना के आश्रित नहीं हैं किन्तु वे रस के धर्म हैं और समुचित वर्ण, समास और रचना द्वारा व्यञ्जित होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ वर्ण-रचना मे भी गुणों की स्थिति मानते हैं[1]।

---

१ 'तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः'—रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ५५। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारे 'संस्कृतसाहित्यकाइतिहास' के द्वितीय भाग में किया गया है।

गुण और अलङ्कार

गुण और अलङ्कार दोनो ही काव्य के उत्कर्षक हैं। किन्तु इनके सामान्य लक्षणों पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण रस के साथ नित्य रहते हैं। अलङ्कार रस-रहित—नीरस काव्य में भी रहते हैं। 'गुण' रस का सदैव उपकार करते हैं, पर 'अलङ्कार' रस के साथ रहकर कभी रस के उपकारक होते हैं और कभी उपकारक न होकर प्रत्युत अनुपकारक भी होते हैं। देखिये—

रस और अलङ्कार

"हौं ही व्रज वृंदावन, मोही में बसत सदा,
जमुना-तरंग, स्यामरंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की,
भरि रही भनक बनक ताल ताननि की,
तनक तनक तामैं खनक चुरीन की।"३६०॥

यहाँ 'तरग', 'रग', 'कु जनि', 'गु जनि', 'भनक', 'बनक' इत्यादि में अनुप्रास अलङ्कार है। यह शब्दालङ्कार पहले तो शब्दों को अलङ्कृत करता है—उनकी शोभा बढाता है—तदनन्तर शृङ्गार-रस का उपकार करता है, क्योंकि अनुस्वार की अधिकता शृङ्गार-रस व्यञ्जक है।

छिन-छिन विष की-सी लहर बढ़त-बढ़त ही जाहिँ;
लगी निगोडी लगन यह छोडी छूटत नाहिँ।३६१॥

यहाँ लगन को 'विष की सी लहर' कहने मे 'उपमा' अलङ्कार है। यह अलङ्कार अर्थ को अलङ्कृत करता हुआ रस का उपकार करता है, क्योंकि लगन को—पूर्वानुराग को—विष के समान फैलने की उपमा देने से विप्रलम्भ शृङ्गार का उत्कर्ष होता है। अतः यहाँ अर्थालङ्कार द्वारा रस का उपकार है।

जब रसात्मक काव्य मे अलङ्कार का समावेश उचित अवसर पर किया जाता है, और उसका अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाता है, अथवा निर्वाह किया भी जाता है तो अलङ्कार को प्रधानता न देकर उसे रस का अङ्गभूत रक्खा जाता है, उसी अवस्था में 'अलङ्कार' रस का उपकारक हो सकता है। जैसे—

"बाढ्यौ ब्रज पै जो ऋन मधुपुर-बासिनि कौ,
तासौं ना उपाय काहूं भाय उमहन कौं ;
कहै 'रतनाकर' बिचारत हुती हीं हम,
कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्त ह्वै रहन कौं।
किन्यौ उपकार दौरि दौउनि अपार ऊधौ,
सोई भूरि भारसौं उबारता लहन कौं ;
ले गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आये तुम अज प्रान-ब्याज उगहन कौं॥३६२॥

यहाँ उद्धवजी के प्रति गोपाङ्गनाओं की इस उक्ति मे 'सुख-मूर कान्ह' और 'प्रान ब्याज' में रूपक अलङ्कार है। इस रूपक द्वारा यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की पुष्टि होने के कारण 'रूपक' प्रधान न रहकर विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो गया है। अतएव उचित अवसर पर समावेश किये जाने के कारण अलङ्कार यहाँ रस का उपकारक है।

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न ;
नहिँ जाचक सुनि सूम लौं बाहिर निकसत बैन।"३६३॥

नायक और नायिका के वचनों को यहाँ जो सूम की उपमा दी गई है, वह श्रृङ्गार-रस में व्रीड़ा-भाव की पुष्टि करती है; अतः उपमा का उचित अवसर पर उपयोग किया जाने के कारण यहाँ रस का अलङ्कार उपकारक है।

"होठन बीच हसै विकसै चख भौंह कसै कुच-कोर दिखावै;
बान-कटाछ को लच्छ करै, परतच्छ ह्वै और कवौं दुरि जावै।
छाँह छुवावै छबीली न आपुनो लाल नवेले को यों ललचावै;
हाथी कौं चाबुक को असवार ज्यों साथ लगायकै हाथ न आवै।"३६४

यहाँ नायिका को जो चाबुकसवार की उपमा दी गई है, वह पूर्वानुराग-श्रृङ्गार की पुष्टि करती है; अतः उपमा का उपयोग रस का उपकारक है। इसके विपरीत—

आलिंगन ते हीन ही रति-सुख चुंबन-सेस[1];
राहू-तिय को कीन्ह हरि चक्रघात आदेस।३६५॥

यहाँ भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य का वर्णन है, अतः देव-विषयक रति-भाव है। पर्यायोक्ति[2] अलङ्कार के चमत्कार ने इस भाव को दबा दिया है। राहु के सिरच्छेदन को सीधी तरह से न कहकर भङ्ग्यन्तर से (दूसरे प्रकार से) कहे जाने में पर्यायोक्ति का चमत्कार प्रधान हो जाने के कारण रति-भाव गौण हो गया है। इस प्रकार अलङ्कार की प्रधानता होना रस के प्रतिकूल है।

---

१ अमृत दान के समय भगवान् ने मोहिनी रूप में राहु दैत्य का सिर चक्र से काट कर उसकी स्त्री का रति-सुख केवल चुंबन-मात्र ही कर दिया सिर के नीचे का शरीर न रहने के कारण आलिङ्गन-सुख नहीं रहा।

२ पर्यायोक्ति में किसी बात को सीधी तरह से न कहकर भङ्ग्यन्तर से (घुमा-फिराकर दूसरी तरह से) कही जाती है।

किसी अवसर पर ग्रहण किए हुए अलङ्कार को रस की अनुकूलता के लिये छोड़ देना ही उचित होता है। जैसे—

[1]तू नव-पल्लव रक्त दिखातु रु मैं हू प्रिया-गुन रक्त लखावतु ;
धावतु तो पै सिलीमुख त्यों कुसुमायुध-प्रेरित मोहू पै आवतु ।
कामिनि के पद-घात सौं तू बिकसात रु मोहू वो मोद बढ़ावतु ;
पै तू असोक रु मैं हूँ स-सोक यही समता अपनी नहिँ पावतु ।२६६

'रक्त', 'शिलीमुख' आदि श्लिष्ट पदों से यहाँ श्लेष अलङ्कार की रचना प्रारम्भ की गई थी। वियोग-शृङ्गार को पुष्ट करने के लिये चौथे चरण मे असोक और 'स-सोक' अश्लिष्ट पदों का प्रयोग करके अन्त में श्लेष अलङ्कार को छोड दिया है। यह रसानुकूल होने से रस का उपकारक है।

किसी अवसर पर रस की अनुकूलता के लिये अलङ्कारों का अत्यन्त निर्वाह न करना उचित होता है। जैसे—

"आए भोर गोबिँद विभावरी बिताए अंत,
झूमन झुकति गति आलस अतुल तें ;
नैन झपकीले बैन कहत कछू के कछू,
सिथलित अंग रति-रंग के बहुल तें।

---

1 वियोगी पुरुष की अशोक-वृक्ष के प्रति उक्ति है—'तू नवीन पत्रों से रक्त (अरुण वर्ण) है, मैं भी अपनी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुझ पर शिलीमुख (भृङ्ग) आते हैं ; मुझ पर भी काम के शिलीमुख (बाण) आते हैं। तू कामिनी के चरण के आघात से प्रफुल्लित हो जाता है, मुझे भी वह आनन्द-प्रद है। हम दोनो में ये सभी समानता होने पर भी एक बड़ी असमानता यह है कि तू अशोक है, किन्तु मैं सशोक—प्रिया के वियोग से शोकाकुल हूँ।

मदन दली-सी छैल-छल सों छली-सी दीसी ,
सूखत अधर घने स्वास की उछुल तें ;
बाहु-बल्लरी के खास पास में फँसाय बाल ,
गाल गुलचावत गुलाबन के गुल तें।"३६७॥

नायिका की बाहु-लता में पाश का जो आरोप किया गया है, उस रूपक का अत्यन्त निर्वाह नहीं किया गया है यह उचित है। क्योंकि पाश में बाँधने के रूपक को दृढ़ करने के लिये यदि उसके अनुकूल अन्य सामग्रियो का भी वर्णन किया जाता तो रस-भङ्ग हो जाना अनिवार्य था। इसके विपरीत—

"मुरली सुनत बाम काम-जुर लीन भई ,
धाई धुर लीक सुनि बिँधी बिधुरनि सौं ;
पावस नदी-सी यह पावस न दीसी परै ,
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सों।
लाज-काज सुख-साज बंधन समाज नाँघि ,
निकसी निसंक सकुचैं नहिं गुरुनि सौं ;
मीन ज्यों अधीनी गुन कीनी खैंच लीनी 'देव'
बंसीधर बंसी डार बंसी के सुरनि सौं।"३६८॥

यहाँ वशी में (मुरली में) बंसी का (मछली मारने के यन्त्र-वडिस का) आरोप करने में रूपक है। इस रूपक का गोपियो को मीन की उपमा देकर अन्त तक निर्वाह किया गया है। यह रस के प्रतिकूल है, क्योंकि बसी (वडिस) द्वारा मीनों का प्राण नष्ट होता है। इस प्रकार अप्रासङ्गिक अलङ्कारों का निर्वाह करने में रस भङ्ग हो जाता है।

रसात्मक काव्य में यदि किसी अलङ्कार का अन्त तक निर्वाह करना अभीष्ट ही हो तो औचित्य का विचार रखकर अलङ्कार को वर्णनीय रस का अङ्गभूत रक्खा जाय तभी वह रसका उपकारक होता है। जैसे—

माधवी की लतिकान बनी जु कलिंद-सुता-तट मंजुल कुंजन ;
क्वैइलयान की कूज जहाँ मधुरी मधुपावलि की मद-गुंजन।
लै बनसी बनसी सम कै मधुराधर के मधु सौं मनरंजन ;
श्रीनँदनंदन ने धुनि की व्रज-बालन मानमयी झख-भंजन।३६९

मुरली को यहाँ भी वंसी (मच्छी मारने के यन्त्र) की उपमा दी गई है, किन्तु इस उपमा का अन्त तक निर्वाह करने के लिये गोपी जनो के मान को मीन कल्पना किया गया है—न कि साक्षात् गोपियो को। गोपाङ्गनाओं के मान का मुरली की ध्वनि से नष्ट होना सुसङ्गत है। यहाँ उपमा शृङ्गार रस की पुष्टिकारक होने के कारण रस की अङ्गभूत है। अतः रस की उपकारक है।

श्यामाओं में मृदुल-वपु को, दृष्टि भीता-मृगी में,
चन्द्राभा मे वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भंगी को चल लहरि में, देखता मानिनी मैं,
तेरी एकस्थल सदृशता हा ! न पाता कहीं मैं।२७०

मेघदूत मे विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा की श्यामा (प्रियङ्गु लता) आदि में उत्प्रेक्षा की गई है। इस सादृश्य का अन्त तक निर्वाह किया गया है। किन्तु यहाँ महाकवि कालिदास ने इस सादृश्य को विप्रलम्भ-शृङ्गार का अङ्गभूत बनाए रक्खा है।

"फूँकि-फूँकि मंत्र मुरली के मुख जंत्र कीन्हीं,
प्रेम परतंत्र लोक-लीक तें डुलाई है ;
तजे पति, मात, तात, गात न सँभारे कुल-
वधू अधरात वन-भूमिन भुलाई हैं।
नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गुपाल गुन,
गारडू सिँगार रूपकला अकुलाई हैं ;

लीलि-लीलि लाल दग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि व्यालिनी-सी ग्वालिनी बुलाई हैं।"२७१॥

इस वर्णन में मुरली की ध्वनि में मन्त्र का आरोप किया गया है। गोपाङ्गनाओं को व्यालिनी की उपमा देकर इस रूपक का अन्त तक निर्वाह किया गया है। इसके द्वारा विप्रलम्भ-शृङ्गार की पुष्टि होती है। यहाँ रूपक अलङ्कार विप्रलम्भ का अङ्ग बना हुआ है, अतः यहाँ अलङ्कार का निर्वाह किया जाना रस का उपकारक है।

इसके सिवा शृङ्गार-रस में, विशेषतया विप्रलम्भ-शृङ्गार मे, यमक, सभङ्ग-श्लेष एवं चित्रबन्ध अलङ्कारों के समावेश मे इन अलङ्कारो की ही प्रधानता हो जाती है, और इनके चमत्कार में बुद्धि के सलग्न हो जाने से वर्णनीय रस का तादृश आनन्दानुभव नहीं हो सकता[1]। शृङ्गारात्मक काव्य में, विभावादि के आयोजन मे, यमक आदि किसी ऐसे अलङ्कारों का काकतालीय[2] निस्पादन (सिद्ध) हो जाने में तो कोई हानि नहीं है, किन्तु आग्रह-पूर्वक अलङ्कारों का अप्रासङ्गिक समावेश किये जाने में रस आस्वादनीय नहीं रहता। देखिए—

कर के तल सों जु कपोलन की पतरावलि मंजु मिटाइ रह्यो;
पुनि स्वासन सौं अधरानहु को लै सुधा-रस मोजु मनाइ रह्यो।
लगि कंठ ढरावतु स्वेदहु त्यों कुच-मंडल चारु हिलाय रह्यो;
यह रोष कियो मनभावतो तू, नहिँ प्यारी! मैं तोहि सुहाय रह्यो।२७२॥

---

१ 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्;
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।'
—ध्वन्यालोक २।१६

२ विना यत्न के स्वयं।

हथेली पर कपोल रक्खे हुए हैं, दीर्घ निस्वासों से अधर शुष्क हो रहे हैं, प्रस्वेद टपक रहे हैं, कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है, और हिचकियो से हृदय उछल रहा है; ऐसी कुपित नायिका के प्रति नायक की उक्ति हैं—'तूने अब अपना प्रियतम क्रोध ही को बना लिया है, क्योंकि वह तेरे कपोलों की पत्रावली मिटा रहा है, निस्वासों से अधर-रस पान कर रहा है, कण्ठ से लगकर (गद्गद कण्ठ हो जाने से) प्रस्वेद छुटा रहा है, और कुच-मण्डल को हिला रहा है'।

यहाँ प्रियतम द्वारा किए जाने वाले कार्यों की श्लिष्ट (द्वयर्थक) शब्दों द्वारा क्रोध में समानता दिखाई जाने में श्लेष अलङ्कार है। क्रोध मे प्रियतम का आरोप किया जाने से रूपक अलङ्कार भी है। तुझे क्रोध, मेरे से अधिक प्रिय है, इस कथन में व्यतिरेक अलङ्कार भी है। ये तीनो अलङ्कार यहाँ वियोग-शृङ्गार के वर्णन में अनायास सिद्ध हो गए हैं—इनका आग्रह-पूर्वक समावेश नहीं किया गया है। अतः यहाँ इनके द्वारा रस के आनन्दानुभव मे कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती है, प्रत्युत ये वियोग-शृङ्गार के पोषक होकर रस के अङ्ग हो जाने के कारण रसके उपकारक हैं। इसके विपरीत—

> "देखी सो न जु ही फिरति सोनजुही से अंग ;
> दुति लपटनु पट सेत हू करति बनौटी रंग।"३७३॥

इसमें 'सोनजुही' पद के यमक की प्रधानता ने नायिका-वर्णनात्मक शृङ्गार-रस को दबा दिया है।

> "बस न चलत तुम सौं कछू बस न हरहु हरि लाज ;
> बसन देहु ब्रज माँहि अब बसन देहु ब्रजराज[1]।"३७४॥

---

1 तुमसे कुछ बस नहीं चलता, बस लज्जा का हरण मत करिए, ब्रज में बसने दीजिए, अब वस्त्रों को दे दीजिए।

गोपीजनों की इस उक्ति में दैन्य सञ्चारी की व्यञ्जना 'बसन' पद के यमक द्वारा दब जाने से अलङ्कार के प्रधान हो जाने के कारण यहाँ 'यमक' शब्दालङ्कार रस का अनुपकारक हो गया है।

"देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि,
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिन-डारि।"२७५॥

नायक के प्रति नायिका के पूर्वानुराग का सखी द्वारा वर्णन होने से यहाँ शृङ्गार-रस है। 'ट' की कई बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलङ्कार भी है। यह अर्थालङ्कार रस का उपकारक नहीं, प्रत्युत अपकर्ष करनेवाला है, क्योंकि 'ट' वर्ण की रचना शृङ्गार-रस के विरुद्ध है।

रस-रहित अलङ्कार—

"दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै दुख द्वंद,
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद।"२७६॥

यहाँ पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, किन्तु यहाँ कोई रस की व्यञ्जना नहीं। अतः स्पष्ट है कि रस के बिना भी अलङ्कार की स्थिति हो सकती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलङ्कार का रस के साथ होना या उनके द्वारा रस का उपकार होना नियत—नित्य—नहीं है। योग्य स्थान पर धारण किये हुए 'हार' आदि भूषणों से शरीर की शोभा होती अवश्य है, पर इनके न होने पर भी शरीर की कुछ हीनता प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार रस भी प्रसङ्गानुकूल प्रयुक्त अलङ्कारों से अलङ्कृत—शोभित—अवश्य होता है, पर उनके न होने से भी रस की कुछ हानि नहीं होती

है। किन्तु 'गुण' रस के साथ अनिवार्य रहते हैं[1]।

गुणों की संख्या

गुणो की संख्या के विषय में मत-भेद है। श्रीभरत मुनि ने दस गुण बतलाए हैं[2]। आचार्य दण्डी ने गुणों की संख्या और नाम तो भरत मुनि के अनुसार ही लिखे हैं, किन्तु उनके लिखे हुए गुणों के लक्षण भिन्न हैं[3]। वामनाचार्य के अनुसार शब्द के दश और अर्थ के दश गुण होते हैं[4]। महाराज भोज के मत के अनुसार गुणो की संख्या और भी अधिक है[5]। भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन ही गुण माने हैं, और अन्य शेष गुणों में से कुछ को तो इन तीनो गुणो के अन्तर्गत बताया है और शेष को गुण ही नहीं माना है, उन्हें दोषों के अभाव रूप बतलाए हैं[6]। श्रीमम्मट के इस मत को प्रायः सभी उत्तर-कालीन साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। इन तीन गुणों के नाम हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

---

१ यह विषय बहुत विवादास्पद है। उपरोक्त विवेचन ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के मतानुसार है। इसके विशद विवेचन के लिये हमारा संस्कृतसाहित्य के इतिहास को दूसरा भाग देखिये।

२ देखिए नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर-संस्करण, अध्याय १५। ९२-१०३।

३ देखिए, काव्यादर्श, परिच्छेद १। ४१-९३।

४ देखिए, काव्यालङ्कारसूत्र-अधिकरण ३ अध्याय प्रथम और द्वितीय।

५ देखिए, सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णयसागर-संस्करण, प्रथम परिच्छेद; पृष्ठ ४२-७३।

६ देखिए काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास।

(१) माधुर्य गुण

जिस काव्य रचना से अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाता है, उस रचना में माधुर्य गुण होता है।

द्रवीभूत का अर्थ है चित्त का आर्द्र हो जाना—पिघल जाना। काठिन्य[1] दीप्तत्व[2] और विक्षेप[3] चित्तवृत्तियों के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत आनन्द के उत्पन्न होने के कारण माधुर्य गुण-युक्त रस के आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है। यह गुण सम्भोग-शृङ्गार से करुण में, करुण से वियोग-शृङ्गार में, और वियोग-शृङ्गार से शान्त रस में अधिकाधिक होता है। यहाँ शृङ्गार का कथन उपलक्षण-मात्र है, अर्थात् शृङ्गार के आभास आदि में भी माधुर्य गुण होता है।

ट, ठ, ड, ढ के अतिरिक्त स्पर्श[4] वर्ण (अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म), वर्गान्त वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) से युक्त अर्थात् अनुस्वार-सहित वर्ण (जैसे अङ्ग, रञ्जन, कान्त, कम्प), ह्रस्व 'र' और 'ण', समास का अभाव, अथवा दो-तीन या अधिक से अधिक चार पद मिले हुए समास, और मधुर कोमल पद रचना ये सब माधुर्य-गुण के व्यञ्जक हैं।

१ किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्टचित्त की स्वभाव-सिद्ध कठिनता को काठिन्य कहते हैं। यह चित्तवृत्ति वीर आदि रसों में होती है।

२ क्रोध और अनुताप आदि के कारण चित्त का दीप्तत्व रौद्र आदि रसों में होता है।

३ विस्मय और हास्य आदि से होनेवाली चित्त की अवस्था को विक्षेप कहते हैं। यह अद्भुत और हास्य आदि रसों में होती है।

४ 'क' से 'म' तक के वर्णों की व्याकरण में स्पर्श संज्ञा है।

अलि-पुंजन की मद-गुंजन सों, बन-कुंजन मंजु बनाय रह्यो ;
लगि अंग अनंग-तरंगन सौं, रति-रंग उमंग बढ़ाय रह्यो।
बिकसे सर कंजन कंपित कै, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो ;
मलयानिल मंद दसो दिसि मैं, मकरंद अमंद फलाय रह्यो।३७७॥

इसमें ट, ठ, ड, ढ रहित स्पर्श वर्ण हैं। पुंज, गुंज, अंग, मंद और कंप आदि शब्द वर्ग के अन्त के वर्णों से (ञ, ङ, न, म से) युक्त हैं—स्वानुस्वार हैं। 'र' ह्रस्व है। मद-गुंजन, वन-कुंजन आदि में छोटे-छोटे समास हैं। अतः यहाँ माधुर्य-गुण की व्यञ्जना है।

(२) ओज गुण

जिस काव्य रचना के श्रवण से मन में तेज उत्पन्न होता है, उस रचना में ओज गुण होता है।

इसके द्वारा चित्त ज्वलित-सा हो जाता है। अर्थात् ओज गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त मे आवेग उत्पन्न होता है। यह वीर-रस में रहता है। वीर-रस से बीभत्स मे और बीभत्स से रौद्र में इसकी अधिकाधिक स्थिति रहती है।

कवर्ग आदि के पहले और तीसरे वर्णों का, दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग होना अर्थात् क, च आदि का, ख, छ आदि के साथ जैसे कच्छ, पुच्छ, ग, ज, आदि का घ, झ के साथ जैसे दिग्घ, जुज्झ, 'र' का वर्णों के ऊपर और नीचे अधिक प्रयोग, जैसे वक्र, अर्थ, निद्रा, ट, ठ, ड, ढ की अधिकता, बहुतसे पद मिले हुए लम्बे समास और कठोर वर्णों की रचना ओज गुण को व्यक्त करते हैं।

"क्रुद्ध ह्वै प्रबुद्ध वीर जुद्धत विरुद्ध गति,
उद्धत त्रिसुद्ध रन रंग के उमंग में ;

प्रबल सुभट्ट ठट्ट दंत करकट्टत हैं,
अट्टै हैं दुपट्टैं औ उचट्टैं जोम जंग में।
भिंडिपाल पट्टि सपरिघ औ, कृपान सूल,
कटत कडाका दे फडाका, लागि अंग में;
'रसिकबिहारी' वीर रंचहू न लावैं पीर,
वीरन के प्रान कढ़ि जात तीर संग में।"३७८॥

यहाँ 'क्रुद्ध' और 'प्रबल' में रकार मिला हुआ है। 'प्रबुद्ध', 'जुद्ध', 'भट्ठ' आदि में पहले वर्ण के साथ इसी वर्ग के दूसरे वर्ण मिले हुए हैं। टवर्ग की अधिकता है, और कठोर रचना है।

इसके सिवा रस-प्रकरण मे रौद्र और वीर-रस के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे ओज गुण-युक्त हैं।

(३) प्रसाद गुण

सूखे ईंधन में अग्नि की भाँति, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाय वह प्रसाद गुण है।

प्रसाद गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है—खिल उठता है।

यह सभी रसों में और सारी रचनाओं में हो सकता है। शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण का व्यञ्जक होता है।

"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय दारुनं;
नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज-पद-कंजारुनं।

कंदर्प अगनित अमित छवि नव-नील-नीरज सुंदरं ;
पट पीत मानहुँ तड़ित-रुचि सुचि नौमि जनकसुताबरं ।
भजु दीनबंधु दिनेस दानव-दैत्य-वंस-निकंदनं ;
रघुनंद, आनँदकंद, कोसलचंद, दसरथनंदनं ।
सिर मुकट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषनं ;
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्राम-जित खर-दूषनं ।
इति वदत 'तुलसीदास' संकर शेष-मुनि-मन-रंजनं ;
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल-दल-गंजनं ।"३७१॥

यह सरल सुबोध और मृदु (मधुर) पदावली-युक्त बड़ी सुन्दर प्रसाद-गुण-व्यञ्जक रचना है ।

गत जब रजनी हो, पूर्व सन्ध्या बनी हो ;
उडुगण क्षय भी हों, दीखते भी कहीं हों ।
मृदुल, मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा ;
तब पिक ! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा ।
अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती ;
रसिक जन सभी की नींद तू है छुटाती ।
मनहरण सुनाके माधुरी वो प्रभाती ;
अलसित चित को भी सत्य ही है लुभाती ।
विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे ;
उस समय दिखाते शब्द-चातुर्य सारे ।
रव तब उनके वे व्यर्थ है तू बनाती ;
जब पिक ! अपनी तू चातुरी है दिखाती ।
सघन उपवनों में, वाटिका मे कभी तू—
गिरि-सरित-तटों के प्रान्त मे भी कभी तू ।

सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू ;
सु-मधुर-मतवाली कूक को कूजती तू ।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं लुभाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानन्द गाते ।
बस अधिक कहें क्या मान काफी यही तू,
अनुपम गुणवाली भाग्यशाली बडी तू ।२८०॥

माधुर्य आदि गुणों की व्यञ्जना के लिये वर्ण-रचना आदि के उक्त नियम सर्वत्र एक समान हैं। किन्तु वक्ता, वाच्य, अर्थ, अभिधेय और प्रबन्ध—महाकाव्य या नाटक—की विशेष-विशेष अवस्था के कारण उक्त नियमों के विपरीत भी कहीं-कहीं वर्ण, समास और रचना की जाती है। जैसे आख्यायिका मे शृङ्गार-रस के वर्णन में भी कोमल पदावली नहीं होती है। कथा में रौद्र रस के वर्णन में भी अत्यन्त उद्धत वर्ण आदि नहीं होते हैं, और नाटकादि में रौद्र रस में लम्बे समास आदि नहीं होते हैं। निष्कर्ष यह है कि उचित-अनुचित का विचार करके वर्णादि का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि-प्रकरण (पृष्ठ २७८) में वर्ण और रचना-ध्वनि के उदाहरण छठे स्तवक में दिखाने को इसलिये कहा गया है कि रस में रहनेवाले माधुर्य आदि गुणों का स्वरूप-ज्ञान होने पर ही उनके व्यञ्जक वर्ण और रचना का ज्ञान होना सम्भव है। यहाँ माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक जो उदाहरण हैं, वे वर्ण और रचना-ध्वनि के हैं। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों को[1] रचना कहते हैं। ये रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं। 'गुण'

---

१ इन रीतियों को श्रीमम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला-वृत्ति के नाम से लिखा है। इनमें माधुर्य गुण-व्यञ्जक वर्णों की रचना को

रसके धर्म और नित्य सहचारी हैं। इसलिये वर्ण और रचना में गुण और रस की व्यञ्जना एक ही साथ होती है।

उपनागरिका, ओज गुण-व्यञ्जक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनो में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति बतलाया है। देखो, काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास। आचार्य वामन ने 'काव्यालङ्कार-सूत्र' में रीति को बड़ी प्रधानता दी है। उसने काव्य का आत्मा रीति को ही बताया है। इस विषय का आलोचनात्मक विस्तृत विवेचन हमने 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' के द्वितीय भाग में रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है।

सप्तम स्तवक

दोष

काव्य में 'गुण' आदि का होना आवश्यक है, पर उससे कहीं अधिक उसका निर्दोष होना आवश्यक है।

जिस प्रकार सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक ही चिह्न से दुर्भग हो जाता है उसी प्रकार थोड़े-से 'अनौचित्य' के कारण काव्य भी दूषित हो जाता है[1]। कारण यह है कि दोष काव्य के आस्वाद में उद्वेग उत्पन्न कर देता है[2]।

दोष का सामान्य लक्षण

मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं।

मुख्य अर्थ। कवि जिस वस्तु में जहाँ चमत्कार दिखाना चाहता है, वही 'मुख्य अर्थ' होता है। जहाँ रस और भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार होता है, वहाँ रस भाव आदि मुख्य अर्थ है। जहाँ वाच्य अर्थ में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'वाच्य अर्थ' और जहाँ शब्द में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'शब्द' मुख्य अर्थ समझना चाहिए। रस, भाव आदि का उपकारक होने के कारण वाच्यार्थ को और रस, भाव आदि तथा वाच्यार्थ का उपयोगी होने के कारण शब्द को भी यहाँ मुख्यार्थ माना गया है। अतएव शब्द

---

१ 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।'

२ 'उद्वेगजनको दोषः'—अग्निपुराण।

में, वाक्यार्थ में और रस, भाव आदि व्यंग्यार्थ मे दोष हो सकता है। फलतः दोष भी सामान्यतः तीन भेदों में विभक्त हैं—(१) शब्द-दोष, (२) अर्थ-दोष और (३) रस-दोष।

अपकर्ष। अपकर्ष तीन प्रकार से होता है—(१) काव्य के आस्वाद (आनन्द) के रुक जाने से, (२) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करनेवाली किसी वस्तु के बीच मे आ जाने से, और (३) काव्य के आस्वाद मे विलम्ब करनेवाले कारणों की स्थिति हो जाने से। इन तीनो में एक भी जहाँ होता है वहाँ दोष आ जाता है। काव्यप्रकाश मे ७० प्रकार के दोष बताए गए हैं—३७ शब्द के, २३ अर्थ के और १० रस के।

शब्द-दोष

वाक्य के अर्थ का बोध होने के प्रथम जो दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द के आश्रित हैं। अतः वे शब्द के दोष हैं। शब्द के दोष—(१) पदांशगत, (२) पदगत और (३) वाक्यगत होते हैं। इनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) श्रुति-कटु। कानो को अप्रिय मालूम होनेवाली कठोर वर्णों की रचना होना। जैसे—

कार्तार्थी[1] तब होहुँगी, मिलिहै जब प्रिय आय।२८१

यह विप्रलम्भ-शृङ्गार का वर्णन है। 'कार्तार्थी' पद श्रुति-कटु है। इसमे कठोर वर्णों की रचना नियम-विरुद्ध है। यह दोष शृङ्गारादि कोमल रसों मे ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसों मे ऐसे प्रयोग में दोष नहीं—गुण है। 'यमक' आदि अलङ्कारो में भी ऐसे पदों के प्रयोग मे दोष नहीं होता है।

---

१ कृतार्थी।

(२) च्युतसंस्कार। व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग होना। जैसे—

"छंद को प्रबंध त्यों ही व्यंग नायिकादि भेद,
उद्दीपन भाव अनुभाव पति बामा के;
भाव संचारी असथाई रस भूषण हू,
दूषण अदूषण जो कबिता ललामा के।
काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोष,
काव्य-परभाकर मे साजि काव्य सामा के;
कोबिद कबीसन को कृष्ण मानि भेट देत,
अगीकार कीजै चारि चाँउर सुदामा के।"३८२

यहाँ 'असथाई' पद में च्युत-सस्कार दोष है। स्थायी का अपभ्र श व्रजभाषा मे 'थायी' हो सकता है। पर असथाई तो अस्थायी या अस्थिर का ही अपभ्र श हो सकता है, न कि स्थायी का।

(३) अप्रयुक्त। अप्रचलित प्रयोग किया जाना। जैसे—

पुत्र-जन्म उत्सव समय स्पर्स कीन्ह बहु गाय।३८३

दान के अर्थ मे 'स्पर्श' पद का यहाँ प्रयोग किया गया है। स्पर्श का अर्थ दान भी है[1]। पर दान के अर्थ में इसका प्रयोग काव्यों मे देखा नहीं जाता है[2]। अतः काव्य मे ऐसा प्रयोग दोष माना गया है।

(४) असमर्थ। अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का नहीं होना। जैसे—

कुंजहनन कामिनि करत।३८४

यहाँ गमन-अर्थ मे 'हनन' पद का प्रयोग किया गया है। 'हन्' धातु

१ विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। —अमरकोष।

२ श्रीमद्भागवत मे दान के अर्थ में 'स्पर्श' का प्रयोग है। किन्तु पुराणादि आर्ष ग्रन्थों में यह दोष नहीं हो सकता है।

का गति अर्थ भी है[1]। किन्तु हनन पद की सामर्थ्य से यहाँ 'गमन' अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है।

(५) **निहतार्थ**। दो अर्थोंवाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाना। जैसे—

यमुना-संबर विमल सों, छूटत कलिमल कोस।२८५

शंबर पद जल का पर्यायवाची है[2], और यहाँ जल के अर्थ में 'शंबर' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु काव्य मे 'शंबर' का प्रयोग शंबर नाम के असुर के लिये ही होता है। अतः 'शबर' शब्द उसी असुर के नाम में प्रायः योगरूढ़ है। जल के अर्थ मे यह शब्द अप्रसिद्ध है। उपर्युक्त 'अप्रयुक्त' दोष एकार्थी शब्द में होता है, पर यह दोष अनेकार्थी शब्द में होता है। इन दोनो में यही भेद है।

(६) **अनुचितार्थ**। अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करनेवाला प्रयोग किया जाना। जैसे—

ह्वै के पसु रन-यज्ञ मे, अमर होहिँ जग सूर।२८६

शूर-वीरों को पशु के समान कहने में उनकी कायरता प्रतीत होती है, क्योंकि यज्ञ में पशु स्वेच्छा से नहीं, किन्तु परवश होकर मरते हैं। शूरवीर उत्साह-पूर्वक स्वेच्छा से रण म खड़े होते हैं। अतः शूरवीरों को पशु की समता देने में अभीष्ट अर्थ का अर्थात् उनकी उत्कृष्टता का तिरस्कार होता है।

(७) **निरर्थक**। पाद-पूर्ति के लिये अनावश्यक पद का प्रयोग किया जाना। जैसे—

---

१ हन् हिंसागत्योः।

२ नीरक्षीरांबुशम्बरम्।

आम्र-प्रवास शिखि-पिच्छ प्रसून-गुच्छ,
धारैं गरैं कमल उत्पल-माल स्वच्छ।
सोहैं विचित्र छवि गोप-समाज माँही,
गावैं प्रवीन-नट रंग-थली यथाही।३८७॥

यहाँ 'यथा ही' में 'ही' शब्द निरर्थक है। केवल पाद-पूर्ति के लिये रक्खा हुआ है, अतः दोष है।

(८) अवाचक। जिस वाञ्छित अर्थ के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उस शब्द का, उस वाञ्छित अर्थ का वाचक न होना। जैसे—

अधिक अँधेरी रात हू तुव दरसन दिन होय।३८८॥

मित्र के प्रति किसी ने यह कहना चाहा है—'आपके दर्शनो से अँधेरी रात भी मेरे लिये प्रकाशमय हो जाती है'। यहाँ प्रकाश के अर्थ में 'दिन' का प्रयोग किया है। सूर्य होने से ही 'दिन' कहा जा सकता है, सूर्य के सिवा जो प्रकाश है वह दिन नहीं कहा जा सकता है। अतः दिन शब्द का जिस अर्थ की इच्छा से प्रयोग किया गया है उस अर्थ का वह अवाचक है।

(९) अश्लील। यह दोष तीन प्रकार का होता है। (१) व्रीड़ा-व्यञ्जक, (२) घृणा-व्यञ्जक और (३) अमङ्गल-व्यञ्जक।

मद-अंधन कों जय करन तुव साधन जु महान।३८९॥

यहाँ राजा की प्रशसा में कहा है कि तेरा साधन (सैन्य बल) महान् है। यहाँ 'साधन'-शब्द का प्रयोग व्रीड़ा-व्यञ्जक[1] होने के कारण अश्लील है।

---

१ 'साधन' नाम पुरुष के गुह्याङ्ग का भी है।

पिचकारी प्यारी दई; मुख पै डारि गुलाल ;
मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन ततकाल ।३६०

यहाँ 'वायु' पद से अधोवायु का भी स्मरण होता है, इसलिये 'वायु' शब्द घृणा-व्यञ्जक है ।

चोरत हैं पर उक्ति कौं जे कवि ह्वै स्वच्छंद ;
वे उत्सर्ग रु वमन को उपभोगत मतिमंद ।३६१

यहाँ भी 'उत्सर्ग[1] और वमन[2]' पद घृणा-व्यञ्जक हैं ।

"छाकि-छाकि तुव नाक सों यों पूछत सब गाँउ ;
किते निवासन नासिकै लियो नासिका नाँउ ।"३६२

यहाँ 'नासिकै' पद अमङ्गल-सूचक है ।

(१०) सन्दिग्ध । ऐसे शब्द का प्रयोग, जिससे वाञ्छित और अवाञ्छित दोनो अर्थ प्रतीत हों । जैसे—

बंद्या पर करिए कृपा ।३६३

वंद्या का अर्थ वन्दनीया और कैद की हुई दोनो ही है । अतः सन्देहास्पद है कि 'वंद्या' शब्द का यहाँ किस अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

(११) अप्रतीतार्थ । ऐसे शब्द का प्रयोग जो किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध न हो । जैसे—

तत्त्वज्ञान प्रकास सों दलिताशय जो आहि ;
विधि निषेधमय कर्म सब बाधक होहिं न ताहि ।३६४॥

'आशय' शब्द का अर्थ मिथ्या ज्ञान है । किन्तु 'आशय' का प्रयोग केवल योग-शास्त्र में ही होता है—सर्वत्र नहीं ।

---

१ मल । २ कै ।

(१२) ग्राम्य। ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाना जो केवल ग्राम्य जनों—गॅवारों की—बोलचाल में आता हो। जैसे—

" 'दीन' अनूप छटायुत कै रघुलाल के गाल गुलाल को रंगहै।"२१५॥

'गाल' शब्द ग्राम्य है। काव्यप्रकाश आदि मे 'कटि' शब्द को भी ग्राम्य माना है, पर यह सस्कृत काव्य में दूषित है। हिन्दी मे इस शब्द का प्रयोग प्रायः सभी महाकवियो ने किया है। आजकल के ग्रामीण तो 'कटि' शब्द का अर्थ तक नहीं जानते हैं। हॉ, कटि शब्द के पर्यायवाची 'कमर'-शब्द का प्रयोग हिन्दी में ग्राम्य माना जायगा।

(१३) नेयार्थ। असङ्गत लक्षणावृत्ति का होना। जैसे—

तेरे मुख ने चंद्र के दई लगाय चपेट।२१६॥

यहाँ 'चपेट' लगाने में मुख्यार्थ का बाध है। 'तेरे मुख की कान्ति चन्द्रमा से अधिक है' यह अर्थ लक्षणा से होता है। किन्तु लक्षणा रूढि या प्रयोजन से ही होती है। यहॉ न रूढि है और न प्रयोजन ही।

(१४) क्लिष्ट। ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाना जिसका अर्थ-ज्ञान बहुत कठिनता से हो। जैसे—

अहि-रिपु-पति-पिय-सदन है मुख तेरो रमनीय।२१७॥

अहि = सर्प, उसका शत्रु = गरुड, गरुड के पति = विष्णु, उनकी पत्नि = लक्ष्मी, उनका सदन अर्थात् निवास-स्थान = कमल, उसके समान मुख। कमल के लिये इतने शब्दों के प्रयोग करने मे कुछ चमत्कार नहीं है, प्रत्युत अर्थ का ज्ञान बहुत कष्ट-कल्पना और विलम्ब से होता है, अतः दोष है।

(१५) अविमृष्टविधेयांश। विधेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अश का प्रधानता से प्रतीत न होना, उसका गौण हो जाना। जैसे—

मैं रामानुज हौं अरे! गरज डरावत काहि।२१८॥

लक्ष्मणजी ने अपने को श्रीराम का सम्बन्धी सूचन करके अपना उत्कर्ष बताना चाहा है। किन्तु सम्बन्धकारक षष्ठी विभक्ति का लोप होकर समास हो जाने से 'राम' पद की प्रधानता दब गई है। **'मैं राम का हूँ अनुज निशिचर! गरज से डरता नहीं'** यदि इस प्रकार समास-रहित प्रयोग किया जाता तो राम के सम्बन्ध की प्रधानता बनी रहती, और दोष नहीं रहता। यह दोष प्रायः समास मे होता है।

नव-पुष्प कदंब गुही कल किंकिनि मोलसिरी की सुहाय रही ;
अति पीन नितंबन सो खिसलै तिहिँ बारहिँ बार उठाय रही।
मनु फूलन के बिसिखासन की सु द्वितीय प्रतंच सजाय रही ;
स्मर की वा धरोहर कौं गिरिजा कर-कंजन लै सम्हराय रही।३९९

श्रीशङ्कर को पार्वतीजी पर मोहित करने के लिये कामदेव के माया-जाल में श्रीपार्वतीजी के सहायक होने का यह वर्णन है। नितम्बो पर से खिसलती हुई कौंधनी में, जिसे पार्वतीजी ऊपर को उठा रही थीं, कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा—डोरी—की उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् पार्वतीजी खिसलती हुई कौंधनी क्या उठा रही हैं, मानो कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा को, जो कामदेव की उनके पास रक्खी हुई धरोहर थी, सजा रही हैं। प्रत्यञ्चा का दूसरापन बताना ही यहाँ उत्प्रेक्षा का प्रधान प्रयोजन है। किन्तु 'द्वितीय प्रत्यञ्चा' पद-समास में आ जाने से दूसरेपन का प्रधानत्व नहीं रहता है। अतः दोष है। 'मानो कामदेव के धनुष पर दूसरी ही प्रत्यञ्चा चढ़ा रही है' ऐसा हो जाने से दूसरेपन का प्रधानत्व हो जाता है।

(१६) **विरुद्धमतिकृत।** ऐसे शब्दो का प्रयोग जिनके द्वारा अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती हो। जैसे—

सरद-चंद्र-सम विमल हो सदा उदार-चरित्र ;
गुन-गन कहे न जातु हैं आप अकारज मित्र।४००॥

यहाँ कहने का अभिप्राय तो यह है कि 'आप कार्य के बिना ही अर्थात् स्वार्थ-रहित मित्र हैं'। किन्तु 'अकारज मित्र' पद से प्रतीत यह होता है कि आप अकार्य में अर्थात् अयोग्य कार्य में मित्र हैं, अतः 'अकारज' पद अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करता है।

नाथ अम्बिका-रमन हो मंगलमोद-निधान ।४०१॥

यहाँ 'अम्बिका-रमण' पद विरुद्ध मति उत्पन्न करता है। अम्बिका नाम माता का है। 'माता का पति' ऐसा कहने में अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार होता है। पूर्वोक्त च्युतसस्कारदोष के उदाहृत कवित्त के 'पतिवामा' वाक्य में भी यह दोष हैं।

इन शब्दगत १६ दोषों में च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक ये दोष पदगत ही होते हैं, शेष दोष पद और वाक्य दोनो में होते हैं। निम्नलिखित शब्दगत २१ दोष केवल वाक्य मे ही होते हैं—

(१७) प्रतिकूल वर्ण। अभीष्ट-रस के अर्थात् प्रकरणगत रस के प्रतिकूल वर्णों की वाक्य-रचना होना। जैसे—

"झटकि चढ़ति उतरति अटा नैंक न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा अटकी नागर-नेह॥"४०२॥

यहाँ शृङ्गार-रस मे टवर्ग के वर्णों की प्रतिकूल रचना है।

(१८–२०) आहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग और विसन्धि। ये दोष संस्कृत ही में हो सकते हैं, हिन्दी में प्रायः नहीं होते हैं।

(२१) हतवृत्त। (क) पिङ्गल के लक्षणानुसार वर्ण या मात्रा होने पर भी उच्चारण या श्रवण का समुचित न होना। (ख) पाद के अन्त के लघु वर्ण का गुरु वर्ण का कार्य न दे सकना। (ग) रस के अनुकूल छन्द का न होना।

"दुसाध्य रोग वियोग का, तनिक न मिलती चैन।"४०३॥

'दुसाध्य रोग वियोग को' इसमें दोहा-छन्द के लक्षणानुसार १३ मात्रा हैं, पर बोलने और सुनने में दुःसह है।

न चलत न कहै कछू उदार !
क्षितिधर ! सोचत अर्थ तू अपार ।४०४॥

यह पुष्पिताग्रा छन्द है। इसके पदान्त में दीर्घ वर्ण होता है। पर यहाँ प्रथम पाद में अन्त का ह्रस्व वर्ण होने से दोष है। यद्यपि छन्द-शास्त्र मे पादान्त में ह्रस्व वर्ण विकल्प से दीर्घ माना गया है, किन्तु 'वसन्ततिलक', 'इन्द्रवज्रा' आदि छन्दो मे ही प्रथम पाद के अन्त का ह्रस्व वर्ण दीर्घ वर्ण का कार्य कर सकता है—सर्वत्र नहीं।

करुण-रस में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा आदि; शृङ्गार रस आदि में, पृथ्वी, स्रग्धरा आदि; वीर-रस में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि; छन्द अनुकूल होते हैं। हास्य-रस मे 'दोधक' और शान्त-रस मे 'झूलना' छन्द प्रतिकूल है।

(२२) **न्यून पद**। अभीष्ट अर्थ के वाचक-शब्द का न होना। जैसे—

कृपावलोकन होय तो सुरपति सों का काम ।४०५॥

'कृपावलोकन' के पहले 'आपकी' न होने से अभीष्ट अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है।

"बंसी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है,
बंसी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है।
धाये धाये सघन बन में घूमते गो चराते,
धाया धाया जगत बन में घूमता गो चराता।"४०६॥

लाला भगवानदीनजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे कृष्ण ! मैं आपसे कम नहीं हूँ। तुम्हारे पास मधुर-सुरवाली वंशी है, तो

मेरे पास भी मधुर-भाषिणी वंशवाली प्यारी कुलाङ्गना है, इत्यादि। प्रथम पाद के 'साथ में' के पहले 'आपके' और दूसरे पाद के 'साथ में' के पहले 'मेरे' का होना आवश्यक है। इनके बिना वाक्य अपूर्ण रहता है।

(२३) **अधिक पद**। अनावश्यक शब्द का प्रयोग होना। जैसे—

"लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद ;
आवत नारि नवोढ लौं सुखद वायु-गति मंद।"४०७॥

पुष्प की रज को ही 'पराग' कहते हैं। 'पराग' कहने से ही पुष्प-रज का बोध हो जाता है। 'पुहुप' पद अनावश्यक है।

(२४) **कथित पद**। एक बार कहे हुए शब्द का अनावश्यक दुबारा प्रयोग किया जाना। जैसे—

रति-लीला-श्रम को हरत, लीला-युत चलि पौन।४०८॥

यहाँ 'लीला' शब्द का दुबारा प्रयोग अनावश्यक है। यह दोष 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि और 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार में नहीं होता है।

(२५) **पतत्प्रकर्ष**। किसी वस्तु की उत्कृष्टता कहकर, फिर ऐसा वर्णन करना जिससे उसकी न्यूनता सूचित होती हो। जैसे—

"कहँ मिश्री कहँ ऊख-रस नहिँ पीयूष समान ;
कलाकंद-कतरा अधिक तो अधरारस पान।"४०९॥

अधर-रस को मिश्री, ऊख-रस और पियूष से भी अधिक उत्कृष्ट बताकर फिर उसको कलाकंद से उत्कृष्ट कहना पूर्वोक्त उत्कर्ष का पतन है।

(२६) **समाप्तपुनरात्त**। वाक्य समाप्त हो जाने पर उसी वाक्य से सम्बन्ध रखनेवाले पद का प्रयोग। जैसे—

नासतु हैं घन तिमिर कों विरहिन कों दुख देतु ;
रजनीकर की कर अहो! कुमुदन को सुख हेतु।४१०॥

चन्द्रोदय-वर्णन-सम्बन्धी वाक्य तीसरे चरण में समाप्त हो गया है। फिर भी चौथे चरण में चन्द्रमा का एक और विशेषण जोड़ दिया गया है अतः दोष है।

(२७) अर्थान्तरैकवाचक। छन्द के पूर्वार्द्ध के वाक्य के कुछ भाग का छन्द के उत्तरार्द्ध मे होना। जैसे—

रजनीकर की सुभ्रकर सजनी! करत जु गौर;
जगको, तज अब मान तू पीतम करत निहौर।४११॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्य का कर्म कारक—'जग को'—उत्तरार्द्ध में है, यही दोष है।

(२८) अभवन्मतसम्बन्ध। वाक्य का अन्वय भले प्रकार से न होना। जैसे—

तेरे परत कटाक्ष जे तब स्मर छोड़त बान।४१२॥

यहाँ 'जे' शब्द का अन्वय काल-वाचक 'तब' शब्द के साथ नहीं हो सकता है। 'जे' के स्थान पर 'जब' कहना चाहिए। यहाँ पद के अर्थ का अन्वय नहीं होने से सारा वाक्य दूषित हो जाता है। पूर्वोक्त 'अविमृष्टविधेयांश' दोष में वाक्य का अन्वय तो हो जाता है, पर जिस अंश की प्रधानता होनी चाहिए, वह नहीं होती है।

(२९) अनभिहितवाच्य। आवश्यक वक्तव्य का न कहा जाना। जैसे—

तोही में रत नित रहौं विरत न होंहुँ कदापि;
कहा दोष को लेश तू लखि मुहि तजत तथापि।४१३॥

'लेश' के साथ 'भी' होना आवश्यक है। 'भी' न होने से यह प्रतीत होता है कि तुमने मेरा कोई बड़ा भारी अपराध देखा है। लेश-

मात्र अपराध देखकर ऐसा नहीं करते। पूर्वोक्त 'न्यून पद' में वाचक पद की न्यूनता रहती है, और इसमें द्योतक पद की। इनमें यही भेद है।

(३०-३१) **अस्थानस्थ पद और समास**। पद या समास का अयोग्य स्थान पर होना। जैसे—

सौत लखत पिय ने दई निज-कर गूँथि रसाल ;
म्लान भई हू प्रेम बस न किहिँ तजी वह माल।४१४॥

यहाँ कहना तो यह है कि 'सपत्नि के देखते हुए प्रिय के द्वारा बना कर दी हुई माला के म्लान हो जाने पर भी किसी एक रमणी ने उसे नहीं त्यागा'। किन्तु 'न किहिँ तजी' वाक्य का 'किसने नहीं तजी अर्थात् सभी ने तजी' यह अर्थ होता है यह अस्थानपद है। 'किहिँ इक तजी न' पाठ होना चाहिए।

"मतिरामहरी चुरियाँ खरकैं।" ४१५॥

'मतिराम' कवि ने कहा तो यह है कि 'हरी चूड़ियाँ खनकती हैं' पर 'मतिरामहरी' का समास हो जाने से 'राम ने मति हरी' ऐसा अर्थ हो जाता है। यह अस्थान-समास है।

(३२) **सङ्कीर्ण**। एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य मे होना। जैसे—

छोड़ चंद्र-अलि ! गगन में उदय होत अब मान ;४१६॥

नायिका के प्रति मान-मोचन के लिये सखी की यह उक्ति है— 'अब तू मान छोड़ दे, आकाश में चन्द्रोदय हो रहा है'। 'छोड' पहले वाक्य में है और 'मान' दूसरे वाक्य मे। अतः दोष है।

(३३) **गर्भित**। वाक्य के बीच में दूसरे वाक्य का आ जाना। जैसे—

पर अपकारी खलन को मलिन जनन को संग ;
कहौं नीति तोसों यही तजिए परेंहु प्रसंग।४१७॥

दोहे का तीसरा पाद बीच में आ गया है, अर्थात् चौथा पाद पहले आकर, उसके बाद तीसरे पाद का कथन करना चाहिए।

(३४) प्रसिद्धि त्याग। प्रसिद्ध प्रयोग के विरुद्ध शब्द का प्रयोग होना। जैसे—

"जोन्ह[1] ते खाली छपाकर[2] भो छन में छनदा[3] अब चाहत चाली;
कूजि उठी चटकाली चहूँ दिसि फैलि गई नभ ऊपर लाली।
साली मनोज-बिथा उर में निपटै निठुराइ धरी बनमाली;
आली! कहा कहिए कहि 'तोष' कहूँ पिय प्रीति नई प्रतिपाली।"४१८

'चटकाली' (एक जाति की चिड़िया) के शब्द के लिये 'कूज उठी' पद का प्रयोग किया गया है। चिडियों के शब्द के लिये चहकना; मयूरों के लिये कूजना; सिंह और बद्दल के लिये गरजना; मेढ़को के शब्द के लिये रव; नूपुर, किङ्किणी, घण्टा और भौरों के लिये रणित, शिञ्जित, गुञ्जित आदि का प्रयोग प्रसिद्ध है। इनके विपरीत प्रयोग होने में दोष है। 'अप्रयुक्त' दोष सर्वथा निषेध किए हुए शब्दों के प्रयोग में होता है। 'प्रसिद्ध त्याग' दोष वहाँ होता है जहाँ प्रसिद्ध अर्थ का त्याग होने से चमत्कार का अभाव हो जाता है।

"लखि निर्जन भौंन जरा उठि सैन सौं चूमे सनैं अधरैं सुखदाई;
छल-मीलित नैन सु पी-मुख कों अवलोकत ही पुलकावलि छाई।
जुत लाज भई झट नम्रमुखी छवि वा कबि सौं बरनी कब जाई;
बस आनँद के हँस साहस सौं ससि की-सी कली चिर कंठ लगाई।"४१९

चन्द्रमा की 'कली' का प्रयोग अप्रसिद्ध है—कहीं देखा-सुना नहीं जाता है।

---

१ चाँदनी। २ चंद्रमा। ३ रात्रि।

(३५) **भग्न-प्रक्रम।** प्रस्ताव के योग्य शब्द के प्रयोग का न होना। जैसे—

निसानाथ के जात ही गई साथ ही रात;
यासों बढ़ि कुल-तियन को और न धर्म दिखात।४२०॥

'गई' शब्द का प्रयोग भग्न-प्रक्रम है। प्रथम पाद में 'निशानाथ के जात ही' पाठ है, अतः दूसरे पाद में 'जात साथ ही रात' ऐसा होना चाहिए। एक जगह 'जात' और दूसरी जगह 'गई' के प्रयोग में क्रम-भङ्ग होता है। 'जात' शब्द के दो बार हो जाने से 'कथित-पद' दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य भाव में अर्थात् विषय-भेद से एक पद का दो बार प्रयोग हो सकता है। जैसे—

उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहिँ होवतु अस्त;
संपति और विपत्ति में सज्जन होतु न व्यस्त।४२१॥

रवि के उदय और अस्त-काल में रक्तता का विधान है, क्योंकि दूसरी बार के 'रक्त' के स्थान पर 'ताम्र' आदि पर्यायवाची शब्द कर देने पर अच्छा प्रतीत नहीं होता है—एक आकार की प्रतीति को—जो यहाँ आवश्यक है—दबा देता है। ऐसे स्थल पर कथित-पद में दोष नहीं होता है।

(३६) **अक्रम।** जिस पद के पीछे जो पद उचित हो वहाँ उस पद का क्रमशः प्रयोग न होना। जैसे—

समय सबल निरबल करत कहत मनहुँ यह बात,
सरद सरस करि हंस-रव बरहिन सुर बिरसात।४२२॥

'यह' शब्द 'समय सबल निरवल करत' इस पहले चरण के अन्तः में होना चाहिए था।

(३७) **अमतपरार्थता।** अमत अर्थात् अनिष्ठ अर्थान्तर प्रतीत होना अर्थात् प्रकरण के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

राम-मदन-सर-हत-हृदय निसिचरि मनहु स-काम ;
गई रुधिर-चंदन लगा जीवितेस के धाम !४२३॥

यह ताडका के बध का वर्णन है। प्रसङ्गानुकूल बीभत्स-रस है। श्रीरामचन्द्रजी में कामदेव का, और ताड़का में निशिचरी (अर्थात् रात्रि में गमन करनेवाली अभिसारिका नायिका) का आरोप होने से शृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है, अतएव प्रकरण के विरुद्ध प्रतीति होने में दोष है।

अर्थ-दोष

(१) अपुष्ट। ऐसे अर्थ का होना जिसके न होने पर भी अभीष्ट अर्थ की कोई क्षति नहीं होती हो। जैसे—

उदित विपुल नभ माहिँ ससि अरी ! छोड़ अब मान ।४२४॥

यहाँ आकाश का विशेषण 'विपुल' अपुष्ट है। चन्द्रमा का उदय ही मान-मोचन का कारण हो सकता है। आकाश का बड़ा होना मान छोडने के कारण की पुष्टि नहीं करता है। 'अधिक पद' दोष मे अन्वय के समय ही शब्द की निरर्थकता का ज्ञान हो जाता है, पर यहाँ निरर्थक शब्द का अन्वय तो हो जाता है, किन्तु अर्थ के समय निरर्थकता का ज्ञान होता है। इन दोनो में यही भेद है।

(२) कष्टार्थ। अर्थ की प्रतीति का कठिनता से होना। जैसे—

बरसत जल-निज-करन-खैंचि दिनकर, नहिं घन यह ;
जमुना सविता-सुता मिली सुर-सरिता सों वह।
करत न को विश्वास कहो ? या व्यास-वचन में ;
मूढ़-मृगी समुझै न तऊ जल रबि-किरनन में ।४२५॥

अप्रस्तुत वाच्यार्थ यह है कि अपनी किरणों द्वारा खींचे हुए जल को सूर्य बरसाता है, न कि मेघ। यमुनाजी सूर्य से उत्पन्न हुई हैं, और

यह गङ्गाजी में मिलती हैं। व्यासजी के इन वाक्यो में कौन विश्वास नहीं करता ? अर्थात् जब यमुना और वर्षा सूर्य से ही उत्पन्न हैं तो सूर्य की किरणों में जल होना ही चाहिये, फिर भी मूर्ख मृगी सूर्य की किरणों मे जल के होने में विश्वास नहीं करती। यह अप्रस्तुत अर्थ बड़ा दुर्बोध है। इस पद्य में मुग्धा नायिका का नायक पर अविश्वास करना जो व्यग्य-रूप प्रस्तुत अर्थ है, उसका ज्ञान तो हो ही नही सकता है। अतः कष्टार्थ दोष है। पूर्वोक्त 'क्लिष्टत्व' दोषमें शब्द का परिवर्तन कर देने पर अर्थ की प्रतीति मे क्लिष्टता नहीं रहती है, पर यहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी क्लिष्टता बनी रहती है। इनमे यही भेद है।

(३) **व्याहत**। किसी वस्तु का पहिले महत्त्व दिखाकर फिर उसकी हीनता का सूचित होना, या पहले हीनता दिखाकर फिर महत्त्व का सूचित होना। जैसे—

औरन के मन-हरन को चंद्रकलादि अनेक,
मोहि सुखद दृग-चंद्रिका प्रिया वही है एक।४२६॥

जिस चन्द्रकला को पूर्वार्द्ध में वक्ता ने अपने लिये आनन्द-जनक नहीं माना है, उसी को उत्तरार्द्ध में 'दृग-चन्द्रिका' पद द्वारा सुख-कारक माना है। अतः व्याहत है।

(४) **पुनरुक्त**। एक शब्द या वाक्य द्वारा अर्थ विशेष की प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन करना। जैसे—

सहसा कबहुँ न कीजिए विपद-मूल अविवेक;
आपुहि आवतु संपदा जहाँ होय सुविवेक।४२७॥

पूर्वार्द्ध में जो बात है, वही उत्तरार्द्ध में है। पूर्वार्द्ध में अविचार को विपदा का मूल कहा है। इसी बात से यह भी स्पष्ट है कि सुविचार

से सम्पदा मिलती है, तथापि इस बात को उत्तरार्द्ध में 'सुविचार से सम्पदा मिलती है' इस वाक्य द्वारा दुबारा कहा गया है। यही पुनरुक्त दोष है।

"इक तो मदन-विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिँ ;
दूजे बद बदरा अरी ! घिरि-घिरि विष बरसाहिँ।"४२८॥

'मुरछि परी' कहकर फिर 'सुधि नाहिं' कहना पुनरुक्त है। क्योंकि मूर्च्छा और सुधि न रहना एक ही बात है। पूर्वोक्त 'अपुष्ट' दोष में अर्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती।

(५) **दुष्क्रम**। लोक या शास्त्र-विरुद्ध क्रम का होना। जैसे—

नृप ! मोको हय दीजिये अथवा मत्त-गजेंद्र।

घोडे से पहले हाथी माँगना चाहिये। विकल्प से जो वस्तु माँगी जाती है, वह उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी की होती है। जो घोडा ही नहीं दे सकेगा, वह हाथी क्या दे सकेगा ? अतः क्रम विरुद्ध है।

"यह बसंत न, खरी गरम अरी ! न सीतल बात ;
कह क्यों प्रकटे देखियत पुलक पसीजे गात।"४२९॥

गर्मी से पसीना हुआ करते हैं, और शीत से रोमाञ्च। पूर्वार्द्ध में पहले गरम और फिर शीतल शब्द है। इसी क्रम से उत्तरार्द्ध में पहले 'पसीजे' और फिर 'पुलक' कहना चाहिए। यहाँ पहले 'पुलक' और तदनन्तर 'पसीजे' है, यही अक्रम है।

(६) **ग्राम्य**। गँवार-भाषा का प्रयोग किया जाना। जैसे—

हौं सोवत इत आय तू मेरे नेरे सोइ ॥४३०॥

इसमे सरसता नहीं है। ऐसे वर्णन सहृदयों को उद्वेग-जनक होते हैं।

(७) **सन्दिग्ध**। कोई निश्चित अर्थ का न होना। जैसे—

सेवनीय रमनीन के अथवा गिरिन नितंब।

यहाँ यह सन्दिग्ध है कि इस वाक्य का कहनेवाला कोई श्रृङ्गार-रसिक है या विरक्त ?

(८) निर्हेतु। किसी बात के हेतु का नहीं कहा जाना। जैसे—

किया ग्रहण था तुझे पिता ने परिभव-भय के ही कारण,
यद्यपि था न उचित विप्रों को वह तेरा करना धारण।
त्याग दिया है तुझे उन्होंने जब कि पुत्र-बध सुना वहाँ,
अरे! शस्त्र मैं भी करता हूँ अब तेरा यह त्याग यहाँ।४३१॥

द्रोण-वध के कारण शोकातुर अश्वत्थामा की अपने शस्त्र के प्रति यह उक्ति है। मेरे पिता ने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों से पराभव होने के भय से ही तुझे ग्रहण किया था। उन्होंने पुत्र का वध सुनकर—राजा युधिष्ठिर के मुँह से मेरा मरना सुनकर—तुझे त्याग दिया है। मैं भी अब तुझे छोडता हूँ। द्रोणाचार्य द्वारा शस्त्र के त्यागने का हेतु पुत्र-बध को सुनना बताया गया है, इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा शस्त्र त्यागने में कोई हेतु कहना चाहिये था। पर यहाँ ऐसा कोई हेतु नहीं कहा गया है, अतः दोष है।

(९) प्रसिद्धि-विरुद्ध। अप्रसिद्ध बात का उल्लेख होना। जैसे—

कंकन जो याकों कहैं है उनकी अति भूल,
मदन दियो निज-चक्र यह मृगलोचनि कर-मूल।४३२॥

यहाँ हाथ के भूषण—कङ्कण—को कामदेव का शस्त्र कहा है। कामदेव का शस्त्र धनुष ही लोक मे प्रसिद्ध है, न कि चक्र। चक्र का सम्बन्ध तो भगवान् विष्णु के साथ प्रसिद्ध है। यदि स्वयं कामदेव को चक्र-युक्त कहा जाय, तो कोई दोष नहीं है, क्योकि एक का प्रसिद्ध शस्त्र दूसरा भी धारण कर सकता है। पर कामदेव के शस्त्र की उपमा तो उसके धनुष से ही दी जा सकती है, न कि दूसरे किसी शस्त्र से। अतः दोष है।

भूलि न जइयो पथिक ! तुम तिहिँ सरिता-पथ ओर ;
तरुनि-पदाहत अंकुरित नव-असोक उहिँ ओर ।४३३॥

रक्त अशोक को देखकर, विरहानुभवी किसी पथिक की अन्य पथिकों से यह उक्ति है । कामिनी के पाद-आघात से अशोक का पुष्पित होना ही कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है, न कि अङ्कुरोद्गम का होना । अतः यहाँ अप्रसिद्ध बात का उल्लेख है । यदि लोक-विरुद्ध भी कोई बात कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध होती है तो दोष नहीं माना जाता है ।

(१०) **विद्या-विरुद्ध** । शास्त्र-विरुद्ध वर्णन किया जाना । जैसे—

रद-छद सद नख-पद लगे कहैं देत सब बात ।४३४॥

यहाँ रद-छदों पर—अधरों पर—नख-क्षतों का होना कहा गया है, यह काम-शास्त्र के विरुद्ध है । इसी प्रकार जहाँ धर्मशास्त्र अथवा नीति-शास्त्र आदि के विरुद्ध वर्णन होता है, वहाँ भी यह दोष होता है ।

(११) **अनवीकृत** । अनेक अर्थों का एक ही प्रकार से होना और उनमें कोई विलक्षणता का न होना । जैसे—

सदा करत नभ गौन रवि सदा चलत है पौन ;
सदा धरत भुवि सेष सिर धीर सदा रहैं मौन ।४३५॥

चारो चरणों में 'सदा' पद का प्रयोग है । इसके अर्थ मे विलक्षणता नहीं है, अतः दोष है । ऐसे वर्णनो मे विलक्षणता हो जाने पर दोप नहीं रहता है । जैसे—

इक हय-युत रवि गौन सेष सदा धरनी धरत ,
निसि दिन बहत जु पौन नृपति-धर्म हू है यही ।४३६॥

इसमें उपर्युक्त बात का स्वरूप बदल जाने से विलक्षणता आ गई है । 'कथित पद' दोष में पर्याय-वाची शब्द के बदल देने से दोष नहीं रहता है । 'अनवीकृत' दोप मे पर्याय-वाची शब्द के बदल देने पर भी दोष रहता है । इन दोनो में यह भेद है ।

(१२) सनियम परिवृत्तता। जिस बात को नियम से कहना चाहिए उसको नियम से नहीं कहना। नियम का अर्थ है किसी वस्तु का एक स्थान पर नियम किया जाने पर उसका अन्यत्र निषेध होना।

दीखत के रमनीय ये जग में विषय-विलास;
ह्वै तिनमें रत तू वृथा करत कहा सुख-आस।४३७॥

यहाँ 'दीखत' पद के साथ 'ही' होना चाहिए। 'ही' के प्रयोग से यह नियम हो जाता है कि 'विषय-विलास केवल देखने मे ही सुरम्य है, वस्तुतः नहीं।'

(१३) अनियम परिवृत्तता। जिस बात को नियम से न कहना चाहिए, उसको नियम से कहना। जैसे—

हैं नेत्र नील-अरबिंद खिले सुहाएँ,
तन्वंगि ! मंजुल मृनालमयी भुजाएँ।
आवर्त्त ही ललित नाभि न क्या बता तू ?
लावण्य-अंबु-परिपूरित वापिका तू।४३८॥

यहाँ नायिका को लावण्य-रूप जल की वापिका (बावडी) बताया है। नेत्रों में खिले-कमल का, भुजाओं में मृनाल का और नाभि में आवर्त (जल के भँवर) का आरोप किया गया है। 'आवर्त' के साथ 'ही' का प्रयोग अनुचित है—केवल 'आवर्त' होना चाहिए। क्योंकि, 'ही' के प्रयोग से यह नियम हो गया है कि आवर्त ही नाभि है, और कोई वस्तु नाभि नहीं है, अतः दोष है।

(१४) विशेष परिवृत्तता—जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना। जैसे—

क्यों न करहु काजर छिरक सजनो ! रजनी कारि;
काहू विधि चूरन करहु ससिहि सिला पै डारि।४३९॥

विरहिणी के कहने का अभिप्राय यह है कि इस चाँदनी रात को प्रकाश-हीन कर दो। 'रजनी' शब्द अँधेरी और चाँदनी दोनों प्रकार की रात्रि का बोध कराता है। इसलिये चाँदनी रात के वाचक 'उजेरी' आदि किसी विशेष शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। अतः यहाँ विशेष शब्द के स्थान पर सामान्य शब्द का प्रयोग होने के कारण दोष है।

(१५) **अविशेष परिवृत्तता**—जिस अर्थ के लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना। जैसे—

विद्रुम-निधि तू है जलधि ! महिमा कही न जाय ।४४०॥

समुद्र को केवल एक ही रत्न-विशेष विद्रुम का निधि कहना अनुचित है; क्योंकि समुद्र केवल विद्रुम का ही नहीं, किन्तु अनेक रत्नों का निधि है। अतः विद्रुम के स्थान पर 'रत्न' आदि सामान्य-वाचक शब्द होना चाहिए था।

(१६) **साकांक्ष्य**—अर्थ की सङ्गति के लिये किसी शब्द या वाक्य की आकांक्षा (आवश्यकता) का रहना। जैसे—

भंग भई निज याचना पुनि अरि को उतकर्ष ;
स्त्री रत्नहु दसमुकुट ! तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष ।४४१॥

सीताजी के लिये याचना करके हताश हुए माल्यवान् की रावण के प्रति यह उक्ति है। 'स्त्री रत्नहु' के आगे 'छोड़िबो' इत्यादि पद की आकांक्षा रहती है। क्योंकि केवल 'स्त्री रत्नहु' के साथ 'तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष' का अन्वय नहीं हो सकता है।

(१७) **अपदयुक्त**। जहाँ अनुचित स्थान में ऐसे पद (अर्थ) का प्रयोग हो; जिससे प्रकरणार्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो। जैसे—

आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति ,
लंकापुरी, विमल-वंश, अपार-शक्ति ।
है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो ,
एकत्र सर्व-गुण किंतु कहीं नहीं हो ।४४२॥

यहाँ रावण में रावणत्व (सब लोगों को रुलानेवाली क्रूरता) रूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है । चौथे पाद के अर्थान्तरन्यास के कारण उस दोष मे लघुता आ गई है । अर्थात् रावण की अत्यन्त क्रूरता, यह कह देने से कि 'सब गुण एक स्थान पर नहीं हो सकते' एक साधारण बात हो गई है । अतएव चौथे पाद में जो बात कही गई है, उसे नहीं कहना चाहिए था ।

(१८) सहचर भिन्न । उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का, या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन होना । जैसे—

गलित पयोधर कामिनी, सज्जन संपति-हीन ,
दुर्जन को सनमान यह हिय-दाहक हैं तीन ।४४३॥

यहाँ कामिनी और सज्जन के साथ में दुर्जन का वर्णन है, यही सहचर-भिन्नता है ।

(१९) प्रकाशित विरुद्ध । अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होना । जैसे—

राज्यासन को लहहु नृप ! तेरो जेष्ठ कुमार ।४४४॥

राजा के प्रति यह कहना कि 'आपका जेष्ठ कुमार राज्यासन को प्राप्त करें' राजा का मरना सूचित करता है । क्योंकि राजा की जीवित अवस्था में राजकुमार को राज्यासन नहीं मिल सकता । राजा का मरना सूचित होना प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति है । पूर्वोक्त 'विरुद्धमतिकृत' दोष शब्द के आश्रित है—वहाँ शब्द-परिवर्तन से दोष नहीं रहता है ।

यहाँ शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी दोष रहता है, इन दोनो में यही भेद है।

(२०) विध्ययुक्त। अविधेय (विधान करने के अयोग्य) का विधान होना। जैसे—

बंदिन सों प्रतिबुद्ध ह्वै अब सुख सोय नृपाल!
करौं अपांडव भुवि अबै काटौं सब रन-जाल।४४५॥

द्रोणाचार्य के निधन के कारण कुपित अश्वत्थामा की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति है—'हे राजन्, अब तक तुम्हें पाण्डवों के भय से निद्रा नहीं आती थी। अब तुम 'वन्दीजनो की स्तुति से उठकर निःशङ्क सुख से सोना'। कहना यह चाहिए था कि अब सुख से सोकर वन्दीजनों की स्तुति से उठना। वन्दीजनों की स्तुति से प्रथम सोने का विधान है, न कि पीछे। अतः अविधेय का विधान है।

(२१) अनुवाद अयुक्त। विधि के अनुकूल अनुवाद का नहीं होना। जैसे—

गौरीपति-चूड़ाभरन! हरन बिरहि-जन प्रान;
निरदयता कीजै न ससि! मुहि अबला जिय जान।४४६॥

विरहिणी की चन्द्रमा से प्रार्थना है। चन्द्रमा को 'विरहि जन-प्राण-हरण' सम्बोधन दिया गया है, वह प्रार्थना के प्रतिकूल है। क्योंकि जिसे विरही जनों का प्राण-घातक कहा जाय, उसी से निर्दयता न करने की प्रार्थना करना अनुचित है। अतः अनुवाद-अयुक्त दोष है।

(२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत। किसी अर्थ का त्याग करके फिर उसी का स्वीकार करना। जैसे—

"मान ठानि बैठ्यो इत परम सुजान कान्ह,
भौंहैं" तानि बानक बनाइ गरबीली को।

कहै 'रतनाकर' विसद-उत बाँकौ बन्यौ
बिपिन-बिहारी-वेष बानक लडीली को ॥
लखि लखि आज की अनूप सुखमा को रूप
रोपै रस रुचिर मिठास लौन-सीली को।
ललकि लचैबौ लोल लोचन लला कौ इत
मचलि मनैबो उत राधिका रसीली को ॥"४४७॥

यहाँ तीसरे चरण तक वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर चौथे चरण में उसी विषय का वर्णन किया जाने में त्यक्त पुनःस्वीकृत दोष है।

(२३) अर्थ अश्लील। लज्जास्पद आदि अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

मारन उद्यत ह्वै रह्यो छिद्रान्वेषी स्तब्ध,
करिये याको पतन पुनि तो न वेगि ह्वै क्षुब्ध।४४८॥

यहाँ दूसरे के छिद्र को ढूँढ़नेवाला, मारने को उद्यत और स्तब्ध ऐसे किसी दुष्ट का पतन करने को कहा गया है। यहाँ पुरुष के गुह्याङ्ग-विशेष के वर्णन की भी प्रतीति होती है, इसलिये अश्लील है।

यहाँ तक शब्द के ३७ और अर्थ के २३ सब ६० प्रकार के दोप बताये गये हैं।

दोषों का परिहार

उपर्युक्त दोषों में कोई कोई दोष कहीं-कहीं दोष नहीं भी होता है, और कहीं-कहीं प्रत्युत गुण भी हो जाता है। देखिये—

कर्णावतंस इसके अति दर्शनीय,
हैं शोभनीय श्रुति-कुण्डल अद्वितीय,
आमोद से दिशि प्रमोदित हो रही हैं,
आती प्रलोभित जहाँ भ्रमरावली हैं।४४९॥

'अवतंस' और 'कुण्डल' कानों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर पहनने के आभूषण होते हैं। केवल 'अवतंस' और 'कुण्डल' कहने मात्र से यह

ज्ञान हो सकता है कि ये कानों में पहनने के आभूषण हैं। तथापि यहाँ 'कर्ण' और 'श्रुति' शब्द भी हैं। किन्तु इस प्रयोग में पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि कर्ण और श्रुति शब्दों के प्रयोग के कारण कर्ण की समीपता प्रतीत होती है, जिससे कानों में पहने हुए अवतंस और कुण्डलों से कामिनी की शोभा का उत्कर्ष सूचित किया गया है। बिना पहने हुए अन्यत्र रक्खे हुए आभूषण तादृश शोभित नहीं होते। अतः ऐसे वर्णनों मे 'पुनरुक्ति' दोष नहीं होता है।

ललित हाव मय तरुन वय स्मित-रमनी मुखचंद;
कुसुम-माल लखि अलिन ज्यों किहि कों ह्वै न अनंद ।४५०॥

यद्यपि 'माला' शब्द से ही पुष्पमाला की प्रतीत हो सकती है, किन्तु यहाँ पुष्पमाला कहने से अर्थान्तरसंक्रमित-ध्वनि द्वारा उत्कृष्ट पुष्पों का सूचन होता है। ऐसे प्रयोगों में पुनरुक्त या अपुष्ट दोष नहीं होता है।

लोक-प्रसिद्ध अर्थ मे 'निर्हेतुक' दोष नहीं होता है। जैसे—

ससि-गत लहत न कमल-गुन कमल-गत न ससि आभ।
श्रियहि उमा-मुख पाय भो उभयाश्रित गुन-लाभ ।४५१॥

रात्रि में चन्द्रमा के आश्रित रहकर श्री को (शोभा को) कमल के सौरभादि गुण प्राप्त नहीं हो सकते हैं, और दिन में कमल के आश्रित हो जाने से उसे चन्द्रमा के कान्ति आदि गुण प्राप्त नहीं हो सकते; किन्तु पार्वतीजी के आश्रित होकर उस (श्री या शोभा) को कमल और चन्द्रमा दोनो के गुण प्राप्त हो गए हैं। यहाँ रात्रि में चन्द्रमा के आश्रित श्री को कमल के गुणों के न मिलने में कमल का रात्रि में सकुचित हो जाना ही हेतु है, और दिन में चन्द्रमा के गुण न मिलने में दिन में चन्द्रमा का निस्तेज हो जाना हेतु है। ये दोनो हेतु

यद्यपि यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहे गये हैं, पर ये हेतु लोक-प्रसिद्ध हैं। इनके न कहने पर भी स्वयं इनका ज्ञान हो जाता है, इसलिये निर्हेतुक दोष नहीं है।

श्लेष और यमक आदि अलङ्कारों में 'अप्रयुक्त' और 'निहतार्थ' दोष नहीं माने जाते हैं। सुरतारम्भ-गोष्ठी में व्रीडा-व्यञ्जक अश्लील, वैराग्य की कथाओं में बीभत्स-व्यञ्जक अश्लील, और भावि-वर्णन में अमङ्गल-व्यञ्जक अश्लील दोष नहीं माना जाता है, प्रत्युत गुण समझा जाता है। जैसे—

उदर फटे मंडूक-सम अव्रत रु रहत उतोन ;
अस तिय के व्रण में कहो ह्वै रत कृमि बिन कौन ।४५२॥

इसमें व्रीडा और बीभत्स-व्यञ्जक वर्णन है, किन्तु वैराग्य के प्रसङ्ग में होने के कारण दोष नहीं है।

'व्याजस्तुति' अलङ्कार आदि मे वाच्यार्थ के महत्त्व से 'सन्दिग्ध' दोष, भी गुण समझा जाता है। जैसे—

पृथुकार्तस्वर पात्र है भूसित परिजन देह[1] ,
नृप ! अपने दोऊन के हैं समान ही गेह ।४५३॥

यहाँ दो अर्थवाले पद होने से सन्दिग्ध अर्थ है। किन्तु राजा और

---

१ किसी राजा के प्रति उक्ति है—'हे राजन् ! आपके घर में पृथुकार्तस्वर पात्र हैं, अर्थात् पृथु (बहुत-से) कार्तस्वर (सुवर्ण) के पात्र हैं; मेरे घर में भी पृथुकार्तस्वर पात्र है, अर्थात् पृथुक् (बालक) आर्तस्वर—क्षुधा-पीड़ित दीन ध्वनि के पात्र—हो रहे हैं। आपके घर मे परिजनों के देह भूषित है, अर्थात् आभूषणों से शोभित हैं; मेरे घर में भी परिजनों के शरीर भू-सित अर्थात् पृथ्वी पर सोते हैं। अतः आपके और मेरे घर में समानता है।

कि दोनो मे अपने-अपने अनुकूल वाच्यार्थ के बोधक होने के कारण दोष नहीं है।

जहाँ वक्ता और श्रोता दोनो व्यक्ति वर्णनीय शास्त्र-विषय के ज्ञाता होते हैं, वहाँ 'अप्रतीत' दोष नहीं होता है।

जहाँ वक्ता नीच पात्र होता है, वहाँ 'ग्राम्य' दोष नहीं होता है।

जहाँ अध्याहार के कारण अर्थ की शीघ्र ही प्रतीति हो सकती हो, वहाँ न्यून पद दोष नहीं होता है।

'अधिक पद' दोष भी कहीं दोष न रहकर गुण हो जाता है। जैसे—

स्वारथ हित खल करत जो ठगिबे मीठी बात ;
सो न सुजन जानत न पै जानत कृपा दिखात ।४५४॥

खल पुरुष अपने स्वार्थ के लिये ठगने को मीठी-मीठी बाते सज्जनों के सामने करते हैं, उनकी वे बाते क्या सज्जन नहीं जानते हैं? जानते हैं, पर जानकर भी उन पर कृपा दिखाते हैं। यहाँ 'जानत' पद दो बार है। दूसरी बार का 'जानत' पद अधिक होने पर भी वह दूसरे लोगों से सज्जनों की पृथक्ता दिखाने के लिये है, अर्थात् खलों की करतूत को जानते हुए भी सज्जन ही उन पर कृपा करते हैं—दुर्जन नहीं।

'लाटानुप्रास', और 'कारणमाला' अलङ्कारो मे और 'अर्थान्तर संक्रमितध्वनि में, 'कथित पद' दोष न रहकर प्रत्युत गुण हो जाता है। जैसे—

सहृदय जब आदर करैं तब ही गुन प्रकटाहिं ;
भानु अनुग्रह पाय ही कमल कमल दरसाहिं ।४५५॥

दूसरी बार के 'कमल' पद में अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी बार का 'कमल' पद कमल को विकास, सौरभ और सौन्दर्य आदि गुण-युक्त सूचित करता है। लाटानुप्रास और कारणमाला के उदाहरण द्वितीय भाग में हैं।

अनुप्रासादि अलङ्कारों में एक ही पद्य में कहीं विषयान्तर हो जाने पर 'पतत्प्रकर्ष'-दोष नहीं माना जाता है।

रस दोष

(१) रस, स्थायी भाव या व्यभिचारी भावों का स्व-शब्द द्वारा स्पष्ट कथन होना रस दोष है।

रस व्यंग्यार्थ है। इसका आस्वादन केवल व्यञ्जना द्वारा ही हो सकता है। अतः 'रस' का शृङ्गार आदि विशेष शब्दों द्वारा अथवा सामान्य शब्द 'रस' द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना अनुचित[1] है। जैसे—

हौं बलि चलि वाको छिनक लीजै आजु निहार,
उमगत है चहुँ ओर छवि मानहु रस शृंगार।४५६॥

यहाँ 'रस' और 'शृङ्गार' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है अतः दोष है।

इसी प्रकार स्थायी और व्यभिचारी भावों का भी शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाना दोष है। जैसे—

प्रिय को मुख देखि लजाय गये चरमांबरसों करुना भरि आये,
अति त्रासित सर्प-विभूषनसो, सिर चंद्रकला लखि विस्मित छाए।

---

१ "व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता····।"
—काव्यप्रकाश ७। ६०-६२

"रसस्थायिव्यभिचारिणां स्वशब्देन वाच्यत्व।"
—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृष्ठ ११०

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि····"
"दोषा रसागतामता.।"—साहित्यदर्पण ७। १२-१५

"निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वानाभिधातुमुचितः अनास्वादापत्तेस्तदास्वादश्च व्यञ्जनमात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात्। एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।"
—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

लखि जह्नुसुता कों अमर्ष भरे नृ-कलापन सों भय पाय डराए ;
नव-संगम यों रस-युक्त घने गिरिजा दृग वे हमैं मोद बढ़ाए ।४५७।।

इस पद्य में व्रीड़ा, त्रास और अमर्ष व्यभिचारी भावों का; विस्मय तथा भय स्थायी भावों का, एवं करुण रस का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, अतः दोष है। किन्तु इसी पद्य को यदि—

दयितानन देखि विनम्र भए चरमांबर सों झट ही मुकलाएँ।
लखि सर्प-विभूषन कंपित भे ससि कों लखिकै अनिमेष जनाएँ।
नृ-कपालन सों अति म्लान तथा लखि जह्नुसुता अति बंक लखाएँ ;
नव-संगम में प्रिय कों लखिकै गिरिजा-दृग वे नित मोद बढाएँ ।४५८।।

इस रूप मे कर दिया जाय तो स्थायी और व्यभिचारियो का शब्द द्वारा कथन न होकर, उनकी 'विनम्र' आदि अनुभावो द्वारा व्यञ्जना होती है ; और दोष नहीं रहता है। अतः रस, स्थायी भाव और व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा व्यञ्जना होना ही समुचित है।

कहीं-कहीं व्यभिचारी भाव का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाने पर भी दोष नहीं माना जा सकता है। ऐसा वहीं हो सकता है, जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा उस भाव की, जिसकी प्रतीति कराना अभीष्ट हो, स्वशब्द के कहे विना स्पष्टप्रतीति नहीं हो सकती हो। जैसे—

अति उत्सुक सौं झट आगे बढ़ीं पुनि लाज सौं जो हटि आँईं भईं ;
समुझाय-बुझाय सखीजन सौं प्रिय-सम्मुख जो फिर लाँईं भईं।
नव-संगम मैं लखि कै प्रिय कौं हिय में भय हू कछु पाँईं भईं ;
मुद-मंगल-दायक हों गिरिजा हँसिके हर हीय लगाँईं भईं ।४५९।।

यहाँ औत्सुक्य और लज्जा आदि व्यभिचारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, पर यहाँ दोष नहीं है। क्योकि इन व्यभिचारी भावो की अनुभावों द्वारा यहाँ स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती है। 'झट' अनुभाव केवल औत्सुक्य का ही व्यञ्जक नहीं है, भय आदि के कारणभी

शीघ्रता की जा सकती है। 'पीछे हट जाना' या 'मुँह फेर लेना' अनुभाव केवल लज्जा ही से नहीं, किन्तु क्रोध, घृणा या भय से भी हो सकता है, अतः यहाँ लज्जा शब्द के स्पष्ट कहे बिना लज्जा की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती थी। यदि यहाँ शृङ्गार रस के विरोधी 'भय' को विभावादि द्वारा पुष्ट किया जाता तो भयानक रस की व्यञ्जना होने के कारण दोष हो जाता। अतः यहाँ भय का भी स्वशब्द द्वारा कथन किये जाने में दोष नहीं है।

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे ;
बिहँसे करुना-ऐन, चितइ जानकी लखन तन।"४६०॥

यहाँ 'विहँसे' पद से 'हास' स्थायी भाव का शब्द द्वारा कथन अवश्य है, किन्तु दोष नहीं है। क्योंकि केवट के अटपटे वचन जो अनुभाव है, उनसे केवल हास्य की ही नहीं, 'विस्मय' आदि की भी प्रतीति हो सकती है, अतएव हास का स्पष्ट कथन आवश्यक था।

(२) विभाव और अनुभावों की कष्ट-कल्पना[1] से जहाँ रस की प्रतीति होती है वहाँ दोष माना जाता है। जैसे—

चहति न रति यह विगत मति चितहु न कित ठहराय ;
विषम दसा याकी अहो कीजै कहा उपाय ।४६१॥

यह वियोगी नायिका की दशा का वर्णन है। 'रति न चहत' आदि अनुभावों द्वारा केवल वियोग ही सूचित नहीं होता है, किन्तु करुण,

१ 'कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।'

—काव्यप्रकाश, ७ । ६०

'आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।'

—साहित्यदर्पण, ७ । १३

'एवं विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये विलम्बेनप्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।'—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

भयानक और बीभत्स रस भी। अतएव यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार के विभाव 'विरहिणी नायिका' की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है।

कीन्ह धवल छवि चंद्रमा भुवि-मंडल दिवि लोकु ;
भ्रू-विलास कछु हास-युत रमनी-मुख अवलोकु।४६२॥

यहाँ शृङ्गार-रस के आलम्बन-विभाव 'नायिका' और उद्दीपन-विभाव 'चन्द्रोदय' का वर्णन तो है, किन्तु नायक के 'रति-कार्य' अनुभावों का वर्णन नहीं हैं। यह समझना कठिन है कि नायिका के 'भ्रू-विलास और हास' अनुभाव स्वाभाविक विलास-मात्र हैं या सम्भोग-शृङ्गार के रति-कार्य। अतः दोष है।

(३) जहाँ वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री (विभावादि) का वर्णन होता है वहाँ दोष माना जाता है[१]। क्योंकि विरोधी रस की सामग्रियों द्वारा उस (विरोधी) रस की व्यञ्जना होने लगती है, जिससे वर्णनीय रस का आस्वाद नष्ट हो जाता है, या दोनो ही रस नष्ट हो जाते हैं।

---

१ 'विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।'
—ध्वन्यालोक, ३। १८, पृष्ठ १६१

'यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषुवैराग्यकथाभिरनुनये।'—ध्वन्यालोक, पृष्ठ १६२

'प्रतिकूलविभावादिग्रहो।'—काव्यप्रकाश, ७। ६१

'विभावादिप्रातिकौल्यं रसादेर्दोषः।'
—हेमचन्द्र-काव्यानुशासन, पृष्ठ ११२

'परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।'
—साहित्यदर्पण, ७। १३

'समबलप्रबलप्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोषकप्रातीपिकमिति दोषः।'—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

इस दोष की स्पष्टता करने के प्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि किस रस के साथ किस रस का विरोध है और किस रस के साथ किस रस का अविरोध (मैत्री) है।

रसों का पारस्परिक विरोध—

शृङ्गार के विरोधी करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त हैं।

हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं।

करुण के विरोधी हास्य और शृङ्गार हैं।

रौद्र के विरोधी हास्य, शृङ्गार और भयानक हैं।

भयानक के विरोधी हास्य, शृङ्गार, वीर, रौद्र और शान्त हैं।

शान्त के विरोधी रौद्र, शृङ्गार, हास्य, भयानक और वीर हैं।

बीभत्स का विरोधी शृङ्गार है।

वीर के विरोधी भयानक और शान्त हैं।

रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार से हुआ करता है—

(क) एक आलम्बन विरोध—अर्थात् विरोधी रसों का केवल एक ही आलम्बन होने के कारण विरोध—

वीर का शृङ्गार के साथ एक आलम्बन में विरोध है। क्योंकि जिस आलम्बन के कारण शृङ्गार-रस उत्पन्न होता है, उसी आलम्बन के कारण वीर-रस के उत्पन्न होने में दोनो ही रस आस्वादनीय नहीं रह सकते।

रौद्र, वीर और बीभत्स के साथ सम्भोग-शृङ्गार का एक आलम्बन में विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार हो रहा हो, उस पर क्रोध और घृणा होने पर शृङ्गार का आस्वाद नहीं रह सकता—रस-भङ्ग हो जाता है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार का भी वीर, करुण, रौद्र एवं भयानक के साथ एक आलम्बन के कारण उक्त प्रकार से विरोध है।

(ख) एक आश्रय विरोध—अर्थात् परस्पर विरोधी रसों का केवल एक ही आश्रय होने के कारण विरोध—

वीर-रस का भयानक के साथ एक आश्रय में विरोध है, क्योंकि निर्भीक और उत्साही पुरुष वीर होता है, उसमें यदि भय उत्पन्न हो, तो वीरत्व कहाँ ?

(ग) नैरन्तर विरोध—अर्थात् दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस की व्यञ्जना न होने से विरोध—

शान्त का शृङ्गार के साथ और बीभत्स के साथ नैरन्तर विरोध है।

पारस्परिक अविरोध अर्थात् मैत्री

वीर-रस का अद्भुत एवं रौद्र के साथ, शृङ्गार का अद्भुत के साथ, भयानक का बीभत्स के साथ अविरोध (मैत्री) है, क्योंकि इनका उक्त तीनो ही प्रकार से विरोध नहीं—इनका एक आलम्बन, एक आश्रय और नैरन्तर समावेश हो सकता है।

यहाँ रसों का विरोधाविरोध साहित्यदर्पण के अनुसार लिखा गया है। इस विषय में कुछ आचार्यों का मतभेद प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में कोई मतभेद नहीं है। किसी आचार्य ने 'एक आलम्बन' को, किसी ने 'एक आश्रय' को और किसी ने 'नैरन्तर' को लक्ष्य में रखकर रसों की एकत्र स्थिति में विरोधाविरोध बतलाया है।

रसों के विरोधाविरोध-प्रकरण में 'रस' पद से 'स्थायी भाव' समझना चाहिए, क्योंकि रस तो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य है। अर्थात् रसास्वाद के समय अन्य किसी की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसी अवस्था में विरोध होना

भी सम्भव नहीं है। अतः स्थायी भावों का ही विरोध होता है[1]। इसी प्रकार एक रस दूसरे रस का अङ्ग भी नहीं हो सकता है। अतएव जहाँ-जहाँ एक रस दूसरे रस का अङ्ग कहा गया है, या आगे कहा जायगा, वहाँ उस रस का स्थायी भाव ही समझना चाहिए[2]।

उदाहरण—

"मधु कहता है, ब्रजवाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान;
लाओ जहाँ पुकार रहा है श्रीमधुसूदन मोद निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान;
यौवन के सु रसाल योग में काल रोग है अति बलवान।"४६३

मानिनी नायिका के प्रति उक्ति है अतः विप्रलम्भ शृङ्गार है। यहाँ 'काल-रोग' के कथन द्वारा यौवन की अस्थिरता बतलाई गई है। यह शृङ्गार रस के विरोधी शान्त-रस का उद्दीपन विभाव है, अतः दोष है।

रसों के पारस्परिक विरोध का परिहार

(क) जिन रसों की एक आलम्बन में अभिव्यक्ति होने के कारण विरोध होता है, उन रसो के पृथक्-पृथक् आलम्बन होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

निरखत सिय-मुख-कमल छबि रघुबर बारहिँ बार,
निसिचर-दल-कलकल सुनत बाँधत जटा सँभार।४६४॥

---

१ 'रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते'—काव्यप्रकाश, वामनाचार्य, व्याख्या पृष्ठ ५५८; और 'प्रदीप' 'उद्योत' टीका, आनन्दाश्रम सं०, पृष्ठ ३७७-३७८।

२ 'मतान्तरेऽपि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गित्वेनाविरोधित्वमेव'—ध्वन्यालोक, पृष्ठ १७५।

यहाँ शृङ्गार और वीर दो परस्पर विरोधी रसों का आश्रय तो एक भगवान श्रीरामचन्द्र ही हैं, किन्तु शृङ्गार रस का आलम्बन श्रीजनक-नन्दिनी हैं, और वीर-रस का आलम्बन राक्षस सेना। यहाँ पृथक्-पृथक् आलम्बन होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

(ख) जिन रसों की एक आश्रय में स्थिति होने के कारण विरोध होता है, वहाँ आश्रय-भेद (पृथक्-पृथक् आश्रय) होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

धनुष चढ़ावत तोहि लखि सनमुख रन-भुवि माय ;
मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरि जन जाहिँ पलाय।४६५॥

यहाँ वीर और भयानक दो परस्पर मे विरोधी रसों का आलम्बन वर्णनीय राजा है, किन्तु विरोध नहीं। क्योंकि उत्साह का आश्रय वर्णनीय राजा है, और भय का आश्रय है उस राजा के शत्रुगण अतः आश्रय-भेद होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

"उतैं वे निकारैं वरमाला हस्य संपुट सौं
इतैं अखै तून तैं निकारत ही बान के,
उतैं देव-वधू माल-ग्रंथि कौं सँधान करैं
गांडीव की मुरवी पै होत ही सँधान के।
इतैं जापै कोप की कटाक्ष भरे नैन परैं
उतैं भर काम के कटाक्ष प्रेम-पान के ;
मारिबे को बरबे को दोनो एक साथ चलैं
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अच्छरान के।"४६६॥

यहाँ रौद्र और शृङ्गार दोनो विरोधी रसों का एक ही आलम्बन कौरव-सेना के वीर पुरुष हैं किन्तु रौद्र का आश्रय अर्जुन है और शृङ्गार का आश्रय देवाङ्गनाएँ। अतः आश्रय-भेद हो जाने से दोष नहीं रहा है।

(ग) नैरन्तर विरोधी रसों के बीच में किसी ऐसे तीसरे तटस्थ रस का जो दोनो का विरोधी न हो, समावेश किया जाने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

आलिंगित सुरतियन सों नभ बिमान-थित वीर ;
निरखत स्यारन सों घिरे रन निज परे सरीर।४६७॥

युद्ध में मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त होने पर देवाङ्गनाओं के साथ विमान में स्थित वीर जनो का यह वर्णन है। यहाँ पूर्वार्द्ध में देवाङ्गना आलम्बन है, अतः शृङ्गार-रस है। उतरार्द्ध में उन राजाओं के मृतक शरीर आलम्बन हैं, अतः बीभत्स है। यद्यपि शृङ्गार और बीभत्स, परस्पर विरोधी रसों का यहाँ समावेश है, किन्तु इन दोनो के बीच में निश्शङ्क प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वीर-रस की प्रतीति हो जाती है। वीर रस इन दोनो का विरोधी नहीं है[1]—उदासीन है। अर्थात् शृङ्गार-रस के आस्वाद मे रुकावट पैदा करनेवाले बीभत्स के पहले वीर-रस का आस्वादन हो जाता है, अतः विरोध नहीं रहता है।

रसों के विरोध का परिहार और भी कई कारणों से हो जाता है। जैसे स्मरण किये गए विरोधी रस का किसी दूसरे रस के साथ समावेश हो जाना, या परस्पर में विरोधी दो रसों का साम्य विवक्षित होना, अर्थात् दोनो विरोधी रसों की समान रूप से व्यञ्जना होना, या परस्पर में विरोधी रसों में एक रस का दूसरे रस या भाव का अङ्ग हो जाना, या दोनो ही रसों का किसी अन्य रस या भाव आदि के अङ्ग हो जाना, या वर्णनीय

---

१ पहले वीर रस और शृङ्गार रस का विरोध बतलाया गया है, वह इन दोनो का एक आलम्बन होने में दोष है। यहाँ एक आलम्बन नहीं है।

रस के विभावों द्वारा विरोधी रस के विभावों का बाधित हो जाना; इत्यादि इत्यादि। जैसे—

स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार—

> कहि-कहि मृदु मीठे बचन रस की चितबन ढार;
> सनमुख आ क्यों करत नहिँ, प्रिये! आज सतकार।४६८॥

मृत नायिका के समक्ष ये नायक के वाक्य हैं। नायिका के विषय में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना है, और साथ ही मृतक नायिका-आलम्बन, अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारी भावों से करुण रस की व्यञ्जना है। शृङ्गार और करुण विरोधी रसों का समावेश है। किन्तु यहाँ भूतकाल के शृङ्गार-रस का स्मरण-मात्र है, अतः विरोध नहीं है।

> "है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी;
> जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँदकर मैं रह गयी।
> 'यह करतल-स्पर्शन प्रिये! मुझसे न छिप सकता कहीं',
> फिर इस समय क्या नाथ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं।"४६९॥

मृत अभिमन्यु के समीप उत्तरा का यह कारुणिक क्रन्दन है। ऊपर के पद्य के अनुसार यहाँ भी करुण के साथ विरोधी शृङ्गार-रस का पूर्व कालिक स्मरण मात्र है।

साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार—

> इतै प्रिया-दृग स्रवत उत परत समर-धुनि कान;
> प्रेम रु रन दुहुँ मिलि सुभट हिय किय दोल[1] समान।४७०॥

---

1 झूला (हिँडोला)।

यहाँ रण में जाने को उद्यत सुभट के हृदय में अपनी प्रिया के नेत्रों में अश्रुपात देखकर वियोग-शृङ्गार की व्यञ्जना है। और संग्राम का भेरी-नाद सुनकर उत्साह होने में वीर-रस की व्यञ्जना है। शृङ्गार और वीर परस्पर मे विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यञ्जना है, अतः दोष नहीं है।

रक्त-मना[1] मृगराज-वधू दसनच्छत[2] कीन्ह अतंत प्रमोदित ;
त्यों नखतें जु बिदारन ह्वै प्रकटे ब्रन[3]तो तन में जित ही तित।
मोद समात न गात मनो पुलकावलि के मिस है वह सोभित ;
देखि के तोहि सरक्त[4] सखे! मुनिराज विरक्तहु डाह करैं चित।४७१॥

क्षुधा-पीड़ित सिंहिनी को दया-वश अपना शरीर खिलाते हुए बौद्ध के प्रति किसी चाटुकारी के ये वाक्य हैं[5]। यहाँ शृङ्गार और दया-वीर परस्पर विरोधी रसों का समावेश है। कामिनी द्वारा किए गए दन्तक्षतादि से जिस प्रकार शृङ्गार-रस की व्यञ्जना होती है, उसी प्रकार यहाँ सिंहनी द्वारा किए गए दन्तक्षतादि से दया-वीर-रस की व्यञ्जना होती है। शृङ्गार और दया-वीर दोनो विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यञ्जना

---

१ रुधिर में मन जिसका, अथवा अनुरक्त होकर।

२ दाँतों से किए गए घाव अथवा अनुरक्त नायिका द्वारा किए हुए दन्तक्षत।

३ नखों से किए गए घाव अथवा नायिका द्वारा किए गए नखक्षत।

४ रुधिर-युक्त ; अथवा अनुरक्त।

५ 'व्याघ्री जातक' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा का इसी प्रकार वर्णन है।

होना कवि को अभीष्ट है। शृङ्गार-रस के सादृश्य से दया-वीर की पुष्टि भी होती है। अतः ऐसे वर्णनों में विरोध नहीं रहता है।

पीत-वदन कृस सरस हिय अलसित तू दरसाय ;
सखि ! तेरे तन में बढ़्यो चोत्रिय रोग जनाय ।४७२॥

वियोगिनी के प्रति उसकी सखी के ये वाक्य हैं। 'पीत-वदन कृस' आदि अनुभाव करुण-रस के व्यञ्जक हैं, न कि शृङ्गार-रस के। ध्वनिकार[1] का मत है कि इनके द्वारा वियोग-शृङ्गार की पुष्टि होने के कारण ये अनुभाव यहाँ विप्रलम्भ के अङ्ग हो गए हैं, अतएव विरोध नहीं। किन्तु आचार्य मम्मट[2] और पण्डितराज जगन्नाथ[3] कहते हैं कि यहाँ पीत-वदन आदि अनुभाव करुण रस और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनो के, समान बल से व्यञ्जक होने से विरोध नहीं है, क्योंकि समान विशेषणों के प्रभाव से दो परस्पर विरोधी रसों की व्यञ्जना में विरोध नहीं होता।

दूसरे किसी रस या भाव के अङ्ग हो जाने से परिहार। जैसे—

ऊँचे किए कच-पास गहैं, अरु नीचे किए पकरैं पद जोरन ;
ऐंचत, रोष सों दूर किएँ, बरजोरन आँचर के दुहुँ छोरन ॥

---

१ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १६६

२ काव्यप्रकाश, आनन्दाश्रम सं०, पृष्ठ ३७४ और वामनाचार्य की बालबोधिनी, पृष्ठ २५२

३ 'अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।'

—रसगङ्गाधर, निर्णयसागर संस्क०, सन् १८९४, पृष्ठ ४१

व्याकुल ह्वै फिरती नृप ! हैं तुव सत्रुन की वनिता करि सोरन ;
जायँ जहाँ तित ही नहिँ केते कँटीले तरू बन में चहुँ ओरन[1] ।४७३॥

यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है। समासोक्ति में समान विशेषणों द्वारा दो अर्थ हुआ करते हैं—एक प्रस्तुत (प्राकरणिक) और दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक)[2]। 'ऊँचे किये कच-पास गहैं' इत्यादि विशेषण ऐसे हैं, जिनका एक अर्थ वन के कटीले वृक्षों द्वारा शत्रु-वनिताओ को पीड़ित किया जाना होता है। इस अर्थ में शत्रुओ की स्त्रियों की दयनीय दशा के वर्णन में करुण-रस की व्यञ्जना होती है। इन्हीं विशेषणों का दूसरा अर्थ, उन स्त्रियों के साथ कामी पुरुषों द्वारा किए जाने वाले व्यवहार का होता है। इस दूसरे अर्थ मे कामीजनों के अनुराग का वर्णन किए जाने से शृङ्गार रस की व्यञ्जना होती है। करुण और शृङ्गार परस्पर में विरोधी रस हैं। यहाँ कवि को राजा का प्रताप वर्णन करना अभीष्ट है। अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। इस भाव के यहाँ करुण और शृङ्गार दोनो ही पोषक हैं। जिन वाक्यो द्वारा करुण व्यक्त होता है, उन्हीं से शृङ्गार भी व्यक्त होता है, और उन्हीं वाक्यों से राजा के प्रताप का

---

१ किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा की है—'हे राजन् ! जिन वनों में आपके शत्रुओं की रमणियाँ भटकती फिरती हैं, वहाँ ऐसे बहुत-से कँटीले वृक्ष हैं, जो ऊँचे किए जाने पर उन रमणियों के केश-पाशों को, नीचे किए जाने पर उनके चरणों को, और तङ्ग आकर दूर हटाने पर उनके वस्त्रों के प्रान्त-भागों को, पकड लेते हैं।' दूसरा अर्थ यह है कि उन रमणियों को वन में कामीजन इस प्रकार की चेष्टाओं से व्याकुल करते हैं।

२ समासोक्ति अलङ्कार का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में किया गया है।

उत्कर्ष सूचित होता है। अतः करुण और शृङ्गार दोनो ही राज-विषयक रति के अङ्ग हो गए हैं, और विरोध हट गया है।

आवतु है न बुलावतु हू भई प्रार्थित हू मुख को न दिखावै,
बातें अनेक रहस्यमयी सुनिके हू नहीं कछु बोलि सुनावै;
पास गए हू न ह्वै समुही करतव्य-विमूढ़ भई दरसावै,
भूपति तेरे रिपून की बाहिनी मानवती जुवती-सी लखावै।४७४॥

यह राजा के वीरत्व की प्रशंसा है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं को मानिनी नायिका की चेष्टाओं से उपमा दी गई है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओ में भयानक रस और मानिनी की चेष्टाओं में शृङ्गार रस की ध्वनि है। शृङ्गार और भयानक परस्पर विरोधी रस हैं। यहाँ भयानक रस का शृङ्गार रस अङ्ग है क्योंकि मानिनी नायिका की चेष्टाओं की उपमा द्वारा सेना की तादृश चेष्टाओ मे जो भय की व्यञ्जना होती है, उसका उत्कर्ष होता है। अतः भयानक रस राज-विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, क्योंकि शत्रु-सैन्य में भय का उत्पन्न होना राजा के प्रताप का उत्कर्षक है।

प्रथम उदाहरण में समानरूप से दो विरोधी रस (करुण और शृङ्गार) राज-विषयक रतिभाव के अङ्ग हैं; जैसे दो समान श्रेणी के सेनापति एक राजा के अङ्ग होते हैं। और इस उदाहरण में जैसे एक सेनापति और दूसरा उसका भृत्य दोनो राजा के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार भयानक रस का अङ्गभूत शृङ्गार और भयानक ये दोनो ही रस राज-विषयक रतिभाव के अङ्ग हो गए हैं। इन दोनो उदाहरणो मे यही मार्मिक भेद है।

"कूरम नरेंद देव कोप करि बैरिन तें,
सहदत्त की सेना समसेरन तें भानी है;
भनत 'कविंद' भाँति-भाँति दे असीसन को,
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।

तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी को लिए,
सोनित पिवत ताकी उपमा बतानी है;
प्यालो लै चीनी को छकी जोबन तरंग मानो,
रंग-हेत पीवत मजीठ मुगलानी है।"४७५॥

यहाँ कूरम नरेन्द्र की प्रशसा अभीष्ट है अतः राज-विषयक रतिभाव प्रधान है और तीन चरणों मे व्यञ्जित बीभत्स और चौथे चरण में व्यञ्जित बीभत्स का अङ्गभूत शृङ्गार-रस ये राज-विषयक रति के अङ्ग हैं, क्योंकि इन दोनो के द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है। अतः दोष नहीं है।

विरोधी रस के बाधित[1] हो जाने के कारण परिहार—

साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनी हू रमनीय;
पै तरुनी-दृग-भंगि लौं चल जीवन-स्मरनीय।४७६॥

ऐसे वर्णनों मे ध्वनिकार[2] और क्षेमेन्द्र[3] शान्त-रस की प्रधानता बतलाते हैं। वे कहते हैं कि विलासी जनों को शान्त-रस का स्पष्ट उपदेश रुचिकर नहीं होता, इसलिये उनको उन्मुखी करने के लिये शान्तरस में शृङ्गार-रस उसी प्रकार मिलाया गया है, जिस प्रकार बालकों के लिये कडई दवा को रुचिकर बनाने के लिये उसमें मिश्री आदि मिला दी जाती है। आचार्य मम्मट[4] कहते हैं, यह बात नहीं है। इस पद्य के तीन चरणों मे जो शृङ्गार-रस के विभाव हैं, वे शान्त-रस द्वारा

१ किसी विरोधी रस की सामग्री का समावेश होने पर भी प्रधान रस की प्रबलता होने के कारण विरोधी रस की व्यञ्जना का रुक जाना।

२ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १८०।

३ औचित्यविचारचर्चा, पृष्ठ १३२।

४ काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-संस्करण, सप्तम उल्लास, पृष्ठ ४४३।

वाधित हैं। यहाँ मनुष्य जीवन की क्षण-भङ्गुरता बतलाने के लिये कटाक्षों की चञ्चलता से उपमा दी गई है। कामिनी के कटाक्षों का जीवन से भी अधिक चञ्चल होना सुप्रसिद्ध है, अतः इसके द्वारा शान्त-रस की पुष्टि होती है और शृङ्गार-रस की व्यञ्जना दब जाती है।

है कहाँ काज अजोग ये औ' ससिबंस कहाँ ? फिर हू दिखराय है ?
दोष-बिनास कों सास्त्र सुने अहो ! रोषहु मे मुख मोद बढ़ाय है ?
लोग कहा कहिहैं सुकृती ? सपनेहु कहा अब वो दृग आय है ?
धीरज क्यों न धरै चित तू धन है जन जो अधरामृत पाय है ।४७७।

उर्वशी के विरह मे राजा पुरूरवा की यह विरहोक्ति है। इस पद्य के प्रत्येक पाद के पूर्वार्द्ध में क्रमशः वितर्क, मति, शङ्का और धृति व्यभिचारी भावो की व्यञ्जना हैं। ये स्थायी भाव 'शम' के अनुकूल होने से शृङ्गार के विरोधी शान्तरस के पोषक है। किन्तु प्रत्येक पाद के उत्तरार्द्ध मे आए हुए अभिलाषा के अङ्गभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता व्यभिचारी भावो की व्यञ्जना से उनका तिरस्कार हो जाता है। अर्थात् शान्तरस के भाव दब जाते हैं—उनका वाध हो जाता है। अन्त में उर्वशी-विषयक चिन्ता ही प्रधानतया स्थित रहती है, जिसके द्वारा विप्रलम्भ-शृङ्गार की व्यञ्जना होती है।

जिन रसो का परस्पर में विरोध नही है, उनका भी प्रबन्धात्मक काव्य मे प्रधान रस की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत समावेश किया जाना अनुचित है[1]—

---

१ "अविरोधी विरोधी वा रसेऽङ्गिनि रसान्तरे,
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता।"
(ध्वन्यालोक ३ । २४)

निम्न लिखित रस-विषयक ७ दोष प्रबन्ध रचना में होते हैं—

रस-विषयक कुछ ऐसे दोष हैं जो एक पद्य में नहीं, किन्तु काव्य या नाटक की प्रबन्ध-रचना में ही हो सकते हैं। इन दोषों के उदाहरणों में आचार्य मम्मट ने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्य और नाटको का नामोल्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी साहित्याचार्य इस विषय में उनसे सहमत हैं।

(४) **रस की पुनर्दीप्ति**—किसी रस के परिपाक हो जाने पर, अर्थात् किसी 'रस' का प्रसङ्ग समाप्त हो जाने पर, उसी रस का पुनः वर्णन (दीप्ति) करना—

परिपुष्ट और उपभुक्त रस, पुनः दीप्त किए जाने पर, परिम्लान पुष्प के समान, नीरस हो जाता है। महाकवि कालिदास ने कुमार-सम्भव महाकाव्य में रति-विलाप के प्रसङ्ग में जहाँ करुण रस का वर्णन[1] समाप्त करके उसे फिर दीप्त किया है[2] वहाँ यह दोष बताया गया है।

अकाण्ड प्रथन—असमय में रस का वर्णन करना—

वेणीसहार-नाटक के दूसरे अङ्क में अनेक वीरों के विनाश के समय बीच ही में रानी भानुमति के साथ दुर्योधन के प्रेमालाप के वर्णन में यह दोष है। वहाँ शृङ्गार रस का वर्णन असामयिक है।

(६) **अकाण्ड छेदन**—असमय में 'रस' का भङ्ग कर देना—

भवभूति के महावीरचरित नाटक के दूसरे अङ्क में श्रीरघुनाथजी और परशुरामजी का संवाद धारावाहिक वीररस का प्रसङ्ग है। वहाँ श्रीरघुनाथजी की 'कङ्कण मोचनाय गच्छामि' उक्ति में वीर-रस के भङ्ग हो जाने मे यह दोष है।

---

१ 'अथ मोहपरायणा सती'—कुमारसम्भव, ४ । १

२ 'अथ सा पुनरेव विह्वला'—कुमारसम्भव ४ । ४

(७) अङ्गभूत रस की अत्यन्त विस्मृति—जिस प्रबन्ध में जिस रस का प्रधानता से वर्णन न हो, वहाँ उस अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन करना—

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं की विलास-क्रीड़ा के शृङ्गारात्मक विस्तृत वर्णन में यह दोष है, क्योंकि किरातार्जुनीय में शृङ्गार-रस प्रधान नहीं है।

(८) अङ्गी का अननुसन्धान—रस के आलम्बन और आश्रय का, प्रबन्ध के नायक या नायिकादि का, बीच-बीच में अनुसन्धान न होना अथवा उनका आवश्यक प्रसङ्ग में भूल जाना। रस के अनुभव का प्रवाह आलम्बन और आश्रय पर ही निर्भर है। इनका आवश्यक प्रसङ्ग पर अनुसन्धान न होने से रस-भङ्ग हो जाता है। महाराजा श्रीहर्ष की रत्नावलीनाटिका के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रव्य द्वारा सागरिका (जो प्रधान नायिका है) को भूल जाने में यह दोष है।

(९) प्रकृति-विपर्यय—काव्य-नाटकों में प्रधान नायक तीन प्रकृति के होते हैं—दिव्य (स्वर्गीय देवता), अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (मनुष्य रूप में प्रकटित भगवान् के अवतार)। इन तीनों के धीरोदात्त[1], धीरोद्धत[2], धीर-ललित[3] और धीर प्रशान्त[4], चार-चार भेद होते हैं। ये भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। जो पात्र जिस प्रकृति का हो, उसका उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन किया

१ जिनमें उत्साह प्रधान हो।

२ जिनमें क्रोध प्रधान हो।

३ जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान हो।

४ जिनमें वैराग्य प्रधान हो।

जाना उचित है। जहाँ प्रकृति के प्रतिकूल—अस्वाभाविक—वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है। 'रति', 'हास', 'शोक' और 'विस्मय' उत्तम प्रकृतिवाले अदिव्य पात्र के समान दिव्य प्रकृति के पात्र में भी वर्णन किए जाने में दोष नहीं है, किन्तु सम्भोग-शृङ्गारात्मक रति का उत्तम प्रकृतिवाले दिव्य पात्रों में (जिनमें हमारी पूज्य बुद्धि रहती है) वर्णन किए जाने मे प्रकृति विपर्यय दोष है—

महाकवि कालिदास-कृत कुमारसम्भव में श्रीशंकर और पार्वती के सम्भोग-शृङ्गार के वर्णन में यह दोष माना गया है। इसी प्रकार स्वर्ग-पातालादि गमन, समुद्र-उल्लङ्घन आदि कार्य भी दिव्य या दिव्यादिव्य प्रकृति के ही वर्णनीय है, न कि अदिव्य प्रकृति के। क्योंकि अदिव्य प्रकृतियों के अमानुषिक कार्यों के वर्णन मे प्रत्यक्ष असत्य की प्रतीति होने के कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है।

(१०) **अनङ्ग-वर्णन**—ऐसे रस का वर्णन किया जाना, जिससे प्रकरणगत रस को कुछ लाभ न हो—

कविराज राजशेखर-कृत कर्पूर-मञ्जरी सट्टिका मे राजा चण्डसेन एवं नायिका विभ्रमलेखा द्वारा किए हुए वसन्त के वर्णन का अनादर करके बन्दीजनों द्वारा किए गए वर्णन की प्रशसा करने में यह दोष है।

देश, काल आदि के वर्णन में रस-विषयक दोष।

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि के विषय में लोक और शास्त्र-विरुद्ध वर्णन अनौचित्य है—

देश-विरुद्ध—स्वर्ग में वृद्धता, व्याधि आदि, पृथ्वी पर अमृत-पान आदि।

काल-विरुद्ध—शीत-काल में जल-विहार, ग्रीष्म में अग्नि-सेवन, आदि

वर्ण-विरुद्ध—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना, शूद्र का वेद पढ़ना, आदि।

आश्रम-विरुद्ध—ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताम्बूल-भक्षण और स्त्री-सेवन आदि।

अवस्था-विरुद्ध—बालक और वृद्ध का स्त्री-सेवन आदि।

आचरण स्थिति-विरुद्ध—दरिद्री का धनाढ्य जैसा और धनवान् का दरिद्री-जैसा। इत्यादि अनुचित वर्णनो से रसास्वाद भङ्ग हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार पानक-रस (शर्बत आदि) मे कङ्कड, मिट्टी आदि मिल जाने से उसके आस्वाद मे आनन्द नहीं आ सकता, उसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से रसानुभव में आनन्द प्राप्त नहीं होता[1]।

---

१ 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा।'

—ध्वन्यालोक

विषयानुक्रमणिका

अ

आ

ई

उ

ऊ

ए

ओ

औ

अं

क

च

ज

त

द

ध

प

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

स

ह

क्ष

त्र

ज्ञ

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
रसनातल	रसनास्थल	४१	१०
हेत्वभासान्न	हेत्वभावान्न	६१	२०
भेदों के	भेदो के उदाहरणों में	६२	८
सखी को	सखी की	६७	१५
द्दमन	द्दगन	१३१	३
अन्योक्ति को	अन्योक्ति के	१३६	१
विनिर्णयन्त	विनिर्णयान्त	१५१	२२
गायकवावा संस्करण	गायकवाड संस्करण पृ० २७८	१६७	२४
चतुर्थ उल्लास संस्करण	चतुर्थ उल्लास रस प्रकरण	१६७	२४,२५
नितति	निपतति	१७१	१६
"पुण्यवन्तः	१पुण्यवन्तः	१७७	२१
शान्तनाम्न	शान्तनाम्नः	१७९	१४
रतप्रसिद्धिः	रस प्रसिद्धिः	१७९	१७
हास्यरसतज्ञैः	हास्यरसस्तज्ञैः	१९९	२६
त फूल	श्वेत फूल	२३०	२५
मोक्ष दशा में ही हो	मोक्ष दशा में ही हो सकती	२३३	४
दोनो को	दोनो की	२३७	२
शब्दशक्ति उद्भवद	शब्दशक्ति उद्भव	२६३	४
पृथक् पद्यों का	पृथक् पदों का	२८८	६
व्यञ्जक शब्द या अर्थ का	व्यञ्जक शब्द या अर्थ से उस अर्थ का	२९७	१
प्रवास	प्रवाल	३४९	१
लघुवर्ण का	लघुवर्ण का दीर्घ वर्ण	३५३	२२
हो सक	हो सकता है	३६०	१३

काव्यकल्पद्रुम पर सुप्रसिद्ध विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ।

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा, विद्याभूषण, लेकचरार गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, कलकत्ता विश्वविद्यालयः— (कलकत्ता २। १०। ३६)

"पुस्तक हिन्दी में अपने ढंग की अद्वितीय है। यह कलकत्ता यूनीवर्सिटी की एम० ए० हिन्दी परीक्षा में पाठ्य-रूप से नियत है। इसमे रस और अलङ्कार का विवेचन विद्वत्ता से भली-भाँति किया गया है।"

साहित्याचार्य श्रीयुत पण्डित मथुरानाथजी शास्त्री प्रोफेसर महाराजा कालेज संस्कृत विभाग जयपुरः—(जयपुर २२। ४। ३१)

"मुझे हिन्दी के वर्तमान साहित्यकों में आपके प्रति साहित्य का दृढ़ विश्वास है। आपने जो अनुवाद काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि का काव्यकल्पद्रुम में किया है, उससे बड़ा सन्तोष होता है। जिन साहित्यक शङ्काओं में—यहाँ श्लेष है या शब्द-शक्तिमूलकध्वनि, समासोक्ति है या गूढ श्लेष इत्यादि—बड़े-बड़े संस्कृत निबन्धक भी चकराते हैं, उन पर आपने समञ्जस विवेचना की है.................।"

बनारस विश्वविद्यालय-पाठ्य-निर्धारक जयपुर राजकीय संस्कृत पाठशाला साहित्य-अध्यापक वेदान्तभूषण साहित्याचार्य श्रीयुत पण्डित नन्दकिशोरजी शर्माः— (जयपुर २२। ४। ३७)

"काव्यकल्पद्रुम के दो भाग, रसमञ्जरी और अलङ्कार-मञ्जरी—साहित्य शास्त्र के गम्भीर ज्ञान के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। इससे साहित्य के प्रायः सभी प्रचलित ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों का आशय समझ में आ जाता है। उदाहरण व इनका समन्वय भी अधिक चमत्कारक है। यह पुस्तक हिन्दी के लिये ही नहीं संस्कृत के भी विद्वानो को बहुत विषय प्रदर्शित करती है। अलङ्कारमञ्जरी की भूमिका मे अलङ्कारो का वर्गीकरण तथा इतिहास आदि अनेक ज्ञातव्य विषय सम्मिलित हैं।"

डोक्टर श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा पी० एच० डी० इलाहाबाद यूनीवर्सिटीः—

"इसमें सन्देह नहीं कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-कृत काव्यकल्पद्रुम उत्कृष्ट और मान्य ग्रन्थ है। मैं सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान इस बात की ओर अवश्य दिलाना चाहता हूँ कि ग्रन्थ में विषय का विवेचन अत्यन्त विचार के साथ किया गया है।"

श्रीयुत पण्डित रामप्रसादजी सारस्वत प्रोफेसर संस्कृत विभाग आगरा कालेजः— (आगरा २७। ६। ३६)

"यह ग्रन्थ अपने निपुण निर्माता के प्रकाण्ड पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक है। पद-पद पर लेखक के व्यापक विवेचन, अगाध अध्ययन एवं उच्च आचार्यत्व की प्रतीति होती है।

संस्कृत और हिन्दी के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के साहित्यक महत्व पर बहुत कुछ उपादेय सामग्री जुटा दी है। लक्षण, उदाहरण सम्बन्धी मत-भेदों पर यथावसर यथा प्रसङ्ग प्रकाश डालकर भ्रान्त मत का यथावत् निराकरण कर दिया है।"

———